[1994]3 उम० नि० प० 721

करतार सिंह

बनाम

पंजाब राज्य

और

कृपा शंकर राय

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य

11 मार्च, 1994

न्यायमूर्ति एस० रत्नवेल पांडियन, न्या० मदन मोहन पंछी, न्या० के० रामस्वामी, न्या० एस० सी० अग्रवाल और न्या० आर० एम० सहाय

आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1985, (1985 का 31) और आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1984 (1984 का 61)—सांविधानिक विधिमान्यता—उक्त अधिनियम संविधान की प्रथम सूची की प्रविष्टि 97 के

साथ पठित अनुच्छेद 248 को दृष्टिगत करते हुए संसद् की विधायी सक्षमता के अंतर्गत आते हैं क्योंकि आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप द्वितीय सूची की प्रविष्टि 1 के अंतर्गत लोक व्यवस्था के विध्वंस का मात्र भयानक रूप नहीं हैं अपितु देश के अस्तित्व और प्रभुसत्ता के लिए भी खतरा हैं। (पैरा 77)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 2(1)(i) (क)—"दुष्प्रेरण" शब्द की परिभाषा—"दुष्प्रेरण" शब्द का अभिप्राय अस्पष्ट है और यह सही नहीं है, किसी व्यक्ति को इस परिभाषा के अंतर्गत लाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप का "वास्तविक ज्ञान या विश्वास करने का कारण" होना चाहिए। (पैरा 138, 142, 143, 146 और 147)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 8(1) और (2)—अभिहित न्यायालय द्वारा सिद्धदोष घोषित व्यक्तियों की संपत्ति का समपहरण करने का विवेकाधिकार—अभिहित न्यायालय द्वारा सिद्धदोष घोषित व्यक्तियों की संपत्ति के समपहरण की बाबत आदेश पारित करना न्यायोचित है और इस प्रकार का आदेश संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 के उपबंधों का अतिक्रमणकारी नहीं है और न ही यह अधिनियम के अधीन विचारण के लिए उपबंधित पृथक तंत्र का विभेदकारी है। (पैरा 165, 166, 167, 168, 171)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 9—एक या अधिक अभिहित न्यायालयों के गठन की बाबत विधायी सक्षमता न होने के आधार पर चुनौती—धारा 9 द्वितीय सूची की प्रविष्टि 65 और अनुच्छेद 233, 234 और 235 की अतिक्रमणकारी नहीं है। (पैरा 174, 176, 177, 178, 179)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 9(7)—किसी अभिहित न्यायालय का न्यायाधीश अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने के पश्चात् भी सेवानिवृत्त नहीं होता है अपितु उसकी सेवा जारी बनी रहती है—केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारों को अभिहित न्यायालय के लिए किसी न्यायाधीश या अपर न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके पास नियुक्ति के प्रारंभिक प्रक्रम पर सेवा की पर्याप्त अवधि है ताकि कोई यह शिकायत न कर सके कि अधिवर्षिता की प्राप्ति के पश्चात् किसी न्यायाधीश की अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में सेवा जारी रखी गई है। (पैरा 181 से 183, 185, 186 और 444)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 11(2)—अभिहित न्यायालय के समक्ष लंबित मामले का अंतरण—महान्यायवादी द्वारा राज्य में किसी अभिहित न्यायालय के समक्ष लंबित किसी मामले को उसी राज्य में या अन्य राज्य में अंतरित करने से संबंधित प्रस्तुत किए गए संकल्प पर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा "सहमति" प्रदान करने का आदेश मात्र कानूनी आदेश है, न कि न्यायिक आदेश क्योंकि इससे किसी "वाद" का न्यायनिर्णयन और किसी विवाद्यक का अवधारण नहीं होता है—धारा 11 की उपधारा (2) और (3) संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी नहीं हैं। (पैरा 204, 205 और 210)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 15—पुलिस अधिकारियों के समक्ष की गई कतिपय संस्वीकृतियों पर विचार किया जाना—यह उपबंध अनुच्छेद 14 और 21 का अतिक्रमणकारी है, तथापि न्यायालय द्वारा बताए गए दिशानिर्देशों का अनुपालन किया जान चाहिए। (पैरा 284 से 288)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 16(2) और (3) [सहपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872 का 1) की धारा 137]—साक्षियों की प्रतिपरीक्षा—प्रतिपरीक्षा के समय साक्षियों की पहचान छिपाए रखने से ऋजु विचारण पर प्रभाव—प्रतिपरीक्षा के प्रयोजन और उद्देश्य को सुनिश्चित करने के लिए "साक्षियों की पहचान, उनके नाम और पते विचारण प्रारंभ होने से पूर्व प्रकट किए जा सकते हैं" किंतु ऐसा केवल इस अपवाद के अध्यधीन ही किया जा सकता है कि न्यायालय विशेष कारणों से अपनी बुद्धिमता में साक्षियों विशेष रूप से उन वास्तविक साक्षियों की पहचान और पते प्रकट न करने का विनिश्चय कर सकता है जिनके जीवन को खतरा है। (पैरा 311, 312, 313)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 19—अपील—अभिहित न्यायालय के आदेश को केवल उच्चतम न्यायालय में ही चुनौती दिया जाना—ऐसे व्यक्ति को जिसका विचारण "टाडा" के अधीन अपराधों के लिए अभिहित न्यायालय द्वारा किया गया किंतु उसे अन्य शास्तिक उपबंधों के अधीन सिद्धदोष घोषित किया गया और "टाडा" के उपबंधों के अधीन अपराधों के लिए दोषमुक्त कर दिया गया दंड प्रक्रिया संहिता में यथा-उपबंधित रूप में अगले अपील न्यायालय में अपील करने का अधिकार है। (पैरा 318, 319)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 20(3) और 4(क)—विधिमान्यता—उक्त धारा की उपधाराओं में कार्यपालक मजिस्ट्रेट और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट को ऐसे किसी मामले के संबंध में जिसमें "टाडा" अथवा इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय कोई अपराध अंतर्वलित है दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 और 167 की परिधि के अंतर्गत सम्मिलित किए जाने के कारण कोई खामी नहीं है और इसी प्रकार विशेष न्यायालय अधिनियम, 1984 की धारा 15 के खंड (क) में कोई खामी नहीं है। (पैरा 343, 344, 349 और 350)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 20(7) [सहपठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 428]—अग्रिम जमानत—यद्यपि उक्त धारा 20(7) अधिनियम और इसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन किसी मामले के संबंध में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 के लागू किए जाने को अपवर्जित करती है, यह नहीं कहा जा सकता कि यह व्यक्ति को संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए उसके वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार से अपवंचित करती है। (पैरा 356 और 357)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 20(8) [सहपठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 436

1994(3) eILR(PAT) SC 1

और 437]—जमानत—जमानत मंजूर किए जाने पर निर्बन्धन—यद्यपि धारा 20(8) इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति को जमानत पर छोड़े जाने की बाबत पाबंदी अधिरोपित करती है किंतु इस पाबंदी में इसकी उपधारा के खंड (क) और (ख) में दी गई दोनों शर्तों के पूरा किए जाने पर छूट दी जा सकती है और यह नहीं कहा जा सकता कि यह संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए सिद्धांत का अतिलंघन करती है। (पैरा 377 से 380)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 22—फोटो के आधार पर अभियुक्त की पहचान—धारा 22 को संविधान के अनुच्छेद 21 में दी गई ऋजु और युक्तियुक्त प्रक्रिया के विरुद्ध होने के आधार पर अभिखंडित कर दिया गया। (पैरा 389)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28)—धारा 5—विनिर्दिष्ट क्षेत्रों में आयुधों का मात्र रखा जाना—विनिर्दिष्ट क्षेत्रों में आयुध और गोला-बारूद का अभियुक्त के मात्र कब्जे में पाया जाना अपराध गठित नहीं करेगा अपितु इस धारा का आश्रय लिया जा सकता है यदि सामग्री से यह दर्शित है कि उस व्यक्ति का जिसके पास आयुध हैं आशय इन्हें आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलापों में प्रयोग किया जाना है और इन्हें वास्तव में ऐसे क्रियाकलापों में प्रयोग किया गया। (पैरा 478 और 479)

आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1984 (1984 का 61)—धारा 3(1)—किसी क्षेत्र को "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित किए जाने के लिए पूर्व-अपेक्षित शर्तें—केन्द्रीय सरकार धारा 3(1) का केवल तभी आश्रय ले सकती है जब उक्त धारा में वर्णित तीनों शर्तें पूरी कर दी जाएं और इस प्रकार केन्द्रीय सरकार किसी भी क्षेत्र को "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित करने के लिए पूर्ण सक्षम है। (पैरा 148 से 152)

दंड प्रक्रिया (उत्तर प्रदेश संशोधन) अधिनियम, 1976 (1976 का उ० प्र० अधिनियम सं० 16)—धारा 9—विधिमान्यता—धारा 9 द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 को उत्तर प्रदेश राज्य में लागू किए जाने को समाप्त किया जाना संविधान के अनुच्छेद 14 अथवा 19 का अतिक्रमणकारी नहीं है और राज्य विधान मण्डल इस धारा को निकालने के लिए सक्षम है और यह समवर्ती सूची (सातवीं अनुसूची की तृतीय सूची) में दिया गया विषय होने के कारण धारा 9 विधिमान्य है। (पैरा 359, 360, 361, 362)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 21—जीवन और स्वतंत्रता का अधिकार—शीघ्र विचारण—शीघ्र विचारण का अधिकार जीवन और स्वतंत्रता के मूल अधिकारों का एक पहलू है और इस अधिकार को प्रत्याभूत किए जाने के लिए विधि द्वारा "युक्तियुक्त, न्यायोचित और ऋजु" प्रक्रिया सुनिश्चित की जानी चाहिए। (पैरा 95, 98, 99, 100 और 101)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 226—"टाडा" के अधीन अभियुक्त व्यक्तियों के जमानत आवेदन ग्रहण किए जाने से संबंधित उच्च न्यायालयों की अधिकारिता—यद्यपि उच्च न्यायालय को 1987 के अधिनियम के अधीन मामलों से संबंधित संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन जमानत आवेदन ग्रहण किए जाने और किसी प्रकार का आदेश पारित करने

की कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं है, तथापि इस शक्ति का प्रयोग कम से कम और समुचित मामलों में असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए तथा न्यायिक अनुशासन और शिष्टाचार की अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए उच्च न्यायालयों को ऐसे मामलों में इस असाधारण अधिकारिता के प्रयोग करने से बचना चाहिए। (पैरा 388, 464, 486)

याचियों ने प्रस्तुत याचिकाओं में आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1984 (1984 का 61), आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1985 (1985 का 31), आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28) और दंड प्रक्रिया संहिता (उत्तर प्रदेश संशोधन) अधिनियम, 1976 (1976 का उ०प्र० अधिनियम सं० 16) की धारा 9 की जिसके द्वारा उत्तर प्रदेश विधानसभा ने उत्तर प्रदेश राज्य में लागू दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 निकाल दी, विधिमान्यता को चुनौती दी है। इस मामले में तीन निर्णय दिए गए। प्रमुख निर्णय न्यायमूर्ति पांडियन ने दिया। दो अन्य निर्णय न्यायमूर्ति के० रामस्वामी और न्यायमूर्ति सहाय द्वारा दिए गए।

न्यायमूर्ति के० रामस्वामी ने अपने अलग निर्णय में "टाडा" की धारा 9(7) और 15 की सांविधानिकता की बाबत बहुमत के निर्णय से विसम्मति व्यक्त की। न्यायमूर्ति रामस्वामी ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन "टाडा" के अधीन आरोपित व्यक्तियों के जमानत आवेदन ग्रहण करने की उच्च न्यायालयों की अधिकारिता के प्रश्न से संबंधित भिन्न मत अपनाया। न्यायमूर्ति सहाय ने भी सामान्यत: बहुमत के निर्णय से सहमति व्यक्त करते हुए "टाडा" की धारा 15 की सांविधानिकता से संबंधित विसम्मति व्यक्त की। उन्होंने धारा 19 (उच्चतम न्यायालय में अपील के निर्देश से संबंधित) भी बहुमत से भिन्न मत व्यक्त किया। उन्होंने "टाडा" की धारा 5, जिसके संबंध में अन्य न्यायमूर्तियों ने कोई राय व्यक्त नहीं की, की विधिमान्यता से संबंधित भी अपनी राय व्यक्त की और यह कहा कि "टाडा" को अधिनियमित करने की विधायी सक्षमता तृतीय सूची की प्रविष्टि 1 में विद्यमान है न कि द्वितीय सूची की प्रविष्टि 1 में। उच्चतम न्यायालय की संविधान न्यायपीठ ने "टाडा" 1987 की धारा 22 को सर्वसम्मति से अविधिमान्य घोषित कर दिया। उच्चतम न्यायालय की संविधान न्यायपीठ द्वारा तद्नुसार निर्णय सुनाते हुए,

अभिनिर्धारित—न्यायालय के विचार से आक्षेपित विधान सूची 2 की प्रथम प्रविष्टि अर्थात् "लोक व्यवस्था" के अंतर्गत नहीं आता है। सूची 2 की किसी और प्रविष्टि का आश्रय नहीं लिया गया है। अत: आक्षेपित अधिनियम अनुच्छेद 248 के साथ पठित सूची 1 की प्रविष्टि 97 को दृष्टिगत करते हुए संसद् की विधायी सक्षमता के अंतर्गत आता है और इस बाबत विचार करना आवश्यक नहीं है कि क्या यह सूची 1 या सूची 3 में की किसी प्रविष्टि के अंतर्गत आता है। तथापि, न्यायालय का यह मत है कि आक्षेपित अधिनियम सूची 1 की प्रथम प्रविष्टि अर्थात् "भारत की सुरक्षा" के अंतर्गत आएगा। (पैरा 77)

1984 के अधिनियम में "दुष्प्रेरित करना" शब्द परिभाषित नहीं है तथापि, इस अधिनियम में दी गई "आतंकवादी" शब्द की परिभाषा से यह अपेक्षित है कि व्यक्ति आतंकवाद के कार्य में लगा होना चाहिए और धारा 2(1)(ज) के अधीन दी गई "आतंकवादी" शब्द की परिभाषा के खण्ड (i) से (iv) में दिया गया कोई अपराध करने के दृष्टिकोण

से आतंकवादी कार्य किया गया दर्शित होना चाहिए। भारतीय दंड संहिता में अनुसूचित अपराध अर्थात् धारा 122 और 123 के लिए उन अपराधों को करने वाले व्यक्ति का आशय अभिव्यक्ततः अपेक्षित है, यद्यपि भारतीय दंड संहिता की धारा 121 और 121-क और यान-हरण निवारण अधिनियम, 1982 की धारा 4 और 5 जो कि इस अधिनियम में अनुसूचित अपराध है के अधीन आशय आवश्यक नहीं है। अनुसूची में दिए गए टिप्पण में यह कथित है कि आपराधिक षड्यंत्र का अपराध या इस अनुसूची में विनिर्दिष्ट अपराध करने का प्रयास, या दुष्प्रेरण अनुसूचित अपराध माना जाएगा। प्रश्नगत परिभाषा पर विचार करते हुए खंड (ii) और (iii) के लिए किसी प्रकार के दिखावे की आवश्यकता नहीं है क्योंकि दोनों खण्ड स्वयं में स्पष्टकारी हैं। जैसा कि ठीक ही कहा गया धारा 2(1)(i) में दी गई "दुष्प्रेरित करना" शब्द की परिभाषा अति सावधानीपूर्वक विशिष्टता की बजाय अतिलचीलेपन में अपनाई गई है। तथापि, इसके अनुज्ञेय अभिप्राय का पता लगाना चाहिए ताकि ऐसी कोई अनिश्चितता न हो जिससे अवश्यमेव ही किसी व्यक्ति को विधि द्वारा प्रतिषिद्ध कार्यों को समझने में बहुत कठिनाई महसूस न हो और वह तद्नुसार कार्य कर सके। विधिक विधिशास्त्र का यह आधारभूत सिद्धांत है कि यदि अधिनियमिति में के प्रतिषेध स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं हैं, तो वह (अधिनियमिति) अस्पष्टता के कारण शून्य होगी। अस्पष्ट विधि अनेक महत्वपूर्ण मूल्यों का ह्रास करती है। यह जोर दिया गया और इस बाबत बल दिया गया कि विधि द्वारा साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति को जो कुछ प्रतिषिद्ध किया गया है उसे जानने का युक्तियुक्त अवसर प्रदान करना चाहिए ताकि वह तद्नुसार कार्य कर सके। अस्पष्ट विधि जिसमें ऋजु चेतावनी का उपबंध नहीं है, निर्दोष व्यक्ति को फंसा सकती है। ऐसी विधि से अननुज्ञेय रूप में पुलिस वालों और न्यायाधीशों के हाथ में तदर्थ और आत्मपरक आधार पर समाधान के लिए आधारभूत नीतिगत विषय आ जाते हैं जिनसे उन्हें मनमाने और विभेदकारी रूप में लागू किए जाने का खतरा बना रहता है। इससे भी अधिक प्रयोग किए गए अनिश्चित और अपरिभाषित शब्दों के आधार पर समाधान के लिए आधे नागरिक "उसकी बजाय यदि प्रतिषिद्ध क्षेत्रों की सीमाएं स्पष्ट रूप से दी गई होतीं.............. विधिविरुद्ध अंचल में भटक जाएंगे।' अतः, "दुष्प्रेरित करना" शब्द की परिभाषा में अस्पष्टता और अनुपयुक्तता से संबंधित विषमता को दूर करने के लिए उपर्युक्त कारणोंवश यह मत व्यक्त किया जाता है कि यह दर्शित किया जाना चाहिए कि उस व्यक्ति को जिसने ऐसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग से संपर्क किया या सहयोग किया जो किसी रीति में आतंकवादियों या विध्वंसकारियों की सहायता करने में लगा हुआ है'यह विश्वास करने का वास्तविक ज्ञान या कारण होना चाहिए कि वह व्यक्ति या व्यक्तियों का वर्ग जिसकी बाबत उस पर यह आरोप लगाया गया है कि उसने उससे या उनसे संपर्क किया या सहायता की किसी रीति में आतंकवादियों और विध्वंसकारियों की सहायता करने में लगा हुआ था। उपर्युक्त विवेचन से संक्षेप में यह प्रकट है कि परिभाषा में दी गई "संपर्क और "सहयोग" अभिव्यक्ति परिभाषा को इस अर्थ में सुरक्षित रखने के लिए है ताकि इस परिभाषा की सहायता से फंसाए जाने वाले व्यक्ति के "वास्तविक ज्ञान" या "विश्वास करने के कारण" को संकुचित अर्थ में समझने की बजाय सही अर्थ में समझा जा सके और धारा 2(1)(क) के खण्ड (i) में दी गई परिभाषा को "ऐसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग के साथ संपर्क या सहयोग जो किसी भी रीति से आतंकवादियों और विध्वंसकारियों की सहायता करने में

लगा हुआ है" के अर्थ में समझा जाना चाहिए ताकि इस खण्ड का उद्देश्य और प्रयोजन अन्यथा विफल और निष्फल न हो जाए। (पैरा 138, 142, 143, 146 और 147)

इस तर्क का विद्वान अपर महासालिसिटर द्वारा यह दलील देते हुए विरोध किया गया कि धारा 8 "आतंकवादी" की संपत्ति या हित को राज्य में निहित करती है और कोई भी पर-व्यक्ति समपहरण के होते हुए भी समहृत संपत्ति में विधि के अनुसार अपने हित से संबंधित अपने अधिकारों को "आतंकवादियों" के विरुद्ध सदैव प्रवृत्त कर सकता है। आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 की धारा 8(1) में अभिहित न्यायालय को इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन किसी अपराध में सिद्धदोष घोषित किए जाने पर किसी प्रकार का दंड अधिनिर्णीत करते हुए लिखित में इस घोषणा के साथ आदेश पारित करने की वैवेकिक शक्ति प्रदान की गई है कि आदेश में विनिर्दिष्ट सिद्धदोष व्यक्ति की जंगम या स्थावर या दोनों प्रकार की संपत्ति सभी विल्लंगमों से मुक्त सरकार को समपहृत हो जाएगी। धारा 8 की उपधारा (2) में यह कहा गया है कि उस अभिहित न्यायालय को जो इस अधिनियम या इस के अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन किसी अपराध के लिए किसी अभियुक्त का विचारण कर रही है उसके विचारण की अवधि के दौरान उसकी समस्त सम्पत्तियों या किन्हीं संपत्ति को कुर्क करने से संबंधित आदेश पारित करने की स्वतंत्रता है और उस स्थिति में यदि विचारण में दोषसिद्धि हो जाती है, तो संपत्ति सभी विल्लंगमों से मुक्त सरकार को समपहृत हो जाएगी। धारा 8 की उपधारा 3(क), (ख) और (ग) में अभिहित न्यायालय को किसी फरार अभियुक्त की संपत्ति को कुर्क करने का वैवेकिक प्राधिकार और अभिहित न्यायालय को इस कुर्की में यदि कुर्की दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन की गई थी से संबंधित दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 83 से 85 को लागू करने की शक्ति भी दी गई है। धारा 8 (1) और (2) के अधीन अभिहित न्यायालय को दी गई वैवेकिक शक्ति का प्रयोग दुर्लभ आकस्मिकताओं में ही किया जाना चाहिए अर्थात् यह कि (1) समपहरण का आदेश किया जाना आवश्यक है और यह आदेश लिखित में किया जाना चाहिए, (2) संपत्ति चाहे जंगम हो या स्थावर अथवा दोनों प्रकार की "टाडा" या तद्धीन नियम के अधीन किसी अपराध के सिद्धदोष व्यक्ति की होनी चाहिए, (3) संपत्ति आदेश में विनिर्दिष्ट होनी चाहिए, (4) यद्यपि कुर्की मामले के विचारण के दौरान धारा 8 (2) के अधीन की जा सकती है, समपहरण का आदेश केवल दोषसिद्धि की स्थिति में ही किया जा सकता है अन्यथा नहीं। (पैरा 165 से 168 और 171)

इस धारा जिसमें किसी क्षेत्र या क्षेत्रों के लिए या किसी मामले या किसी वर्ग या समूह के मामलों के लिए अभिहित न्यायालय का गठन करने के लिए केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा जारी की जाने वाली अधिसूचना का वर्णन है की विधिमान्यता को पहले इस आधार पर चुनौती दी गई कि यह सातवीं अनुसूची 2 की प्रविष्टि 65 और संविधान के अनुच्छेद 233, 234 और 235 की अतिक्रमणकारी है और दूसरे धारा 9 की उपधारा (7) संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए ऋजु विचारण के सिद्धांत के विरुद्ध है। न्यायालय इस विधि का विधायन करने से संबंधित संसद् की विधायी सक्षमता की बाबत व्यापक रूप में चर्चा कर चुका है और यह निष्कर्ष निकाला जा चुका है कि संसद् संविधान

1994(3) eILR(PAT) SC 1

के अनुच्छेद 248 के साथ पठित सूची 1 की प्रविष्टि 97 और प्रविष्टि 1 अर्थात् "भारत की सुरक्षा" न कि सूची 2 की प्रविष्टि 1 अर्थात् "लोक व्यवस्था" के अधीन अवशिष्ट शक्ति के अंतर्गत "टाडा" अधिनियमित करने के लिए सक्षम है। सूची 1 की प्रविष्टि 95 इस प्रकार है "उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों की इस सूची के किसी विषय के संबंध में अधिकारिता और शक्तियां...।" जैसा कि अभी देखा गया है—यह आक्षेपित अधिनियम सूची 1 की प्रविष्टि 1 के अधीन अधिनियमित किया गया है, अतः केन्द्रीय सरकार द्वारा अभिहित न्यायालयों के गठन को सूची 2 की प्रविष्टि 65 का जो राज्य विधानमण्डल को न्यायालयों का गठन करने के लिए सशक्त बनाती है अतिक्रमणकारी नहीं कहा जा सकता है। अधिनियम की धारा 9 के अधीन केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें दोनों धारा 9 की उपधारा (2) के अधीन अधिसूचना द्वारा अभिहित न्यायालयों का गठन करने के लिए प्राधिकृत हैं। यह स्पष्ट किया जाता है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकार की अभिहित न्यायालयों का गठन करने से संबंधित जारी की गई अधिसूचना से पहले या बाद में गठित किए गए न्यायालयों को उस क्षेत्र या क्षेत्रों में किए गए किसी अपराध का विचारण करने की अधिकारिता होगी और राज्य सरकार द्वारा गठित अभिहित न्यायालयों को उस क्षेत्र या क्षेत्रों में किए गए किसी अपराध का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं होगी। इसके अतिरिक्त, आक्षेपित धारा की उपधारा (3) में यह कहा गया है कि जहां किसी अभिहित न्यायालय की अधिकारिता की बाबत कोई प्रश्न उद्भूत हो, वहां केन्द्रीय सरकार द्वारा इस संबंध में लिया गया विनिश्चय अंतिम होगा। पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर न्यायालय को इस दलील में कोई सार दिखाई नहीं देता है कि धारा 9 संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 2 की प्रविष्टि 65 और अनुच्छेद 233, 234 और 235 की अतिक्रमणकारी है। (पैरा 174, 176, 177, 178 और 179)

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 की धारा 9 (1) के अधीन, केन्द्रीय सरकार या कोई राज्य सरकार ऐसे क्षेत्र या क्षेत्रों के लिए, या ऐसे मामले या मामलों के वर्ग या ग्रुप के लिए, जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किए जाएं एक या अधिक अभिहित न्यायालय गठित कर सकती है। इस धारा की उपधारा (2)में केंद्रीय सरकार द्वारा गठित अभिहित न्यायालय की अधिकारिता और केंद्रीय सरकार द्वारा गठित अभिहित न्यायालय की अधिमानी अधिकारिता अर्थात् राज्य सरकार द्वारा गठित अभिहित न्यायालय की अधिकारिता का वर्णन है। उपधारा (3) में यथा पूर्वोक्त किसी न्यायालय की अधिकारिता से संबंधित किसी प्रकार के विवाद के प्रश्न की स्थिति में उसका केंद्रीय सरकार द्वारा विनिश्चय किए जाने की चर्चा है। उपधारा (4) और (5) में अभिहित न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति का वर्णन है जबकि उपधारा (6) में नियुक्त किए जाने वाले न्यायाधीशों की अर्हता की चर्चा है। धारा 9 की उपधारा (7) को जिसमें न्यायाधीश की सेवा जारी रखे जाने की बाबत उपबंध है इस आधार पर चुनौती दी गई है कि किसी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा अधिवर्षिता की आयु प्राप्त किए जाने के पश्चात् उसे जारी रखा जाना प्रतिगामी उपबंध है क्योंकि न्यायाधीश जिसे पद धारण करने के लिए अनुज्ञात किया गया है अधिवर्षिता के पश्चात् न्यायिक स्वतंत्रता से कार्य नहीं कर पाएगा अपितु वह कार्यपालिका के प्रसाद पर पद धारण करने के कारण पद के अनुरूप कार्य नहीं कर पाएगा और कार्यपालिका जब चाहे उसकी नियुक्ति का पर्यवसान करने के लिए

स्वतंत्र होगी । विद्वान काउंसेल के अनुसार, सेवा में बने रहने की इस विधिक मंजूरी से न्यायसंगत और ऋजु विचारण का प्रयोजन हल नहीं होगा और इससे अनुच्छेद 21 में दिए गए सिद्धांत का अतिक्रमण होगा । इस मामले में राष्ट्रपति द्वारा इस प्रश्न पर विचार किए जाने के लिए कि क्या विशेष न्यायालय विधेयक, 1978 या अधिनियमित किया गया इसका कोई उपबंध सांविधानिकतः अविधिमान्य होगा संविधान के अनुच्छेद 143 (1) के अधीन निर्देश किया गया । विधेयक के खंड 7 में यह उपबंधित था कि विशेष न्यायालय की अध्यक्षता भारत के किसी उच्च न्यायालय के किसी आसीन न्यायाधीश द्वारा या ऐसे किसी व्यक्ति द्वारा जिसने भारत के किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर कार्य किया है और जिसका नामनिर्देशन केंद्रीय सरकार द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से किया गया है, की जाएगी । (चूंकि यहां न्यायालय का संबंध केवल अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने के पश्चात् भी पद धारण करने वाले न्यायाधीश को बनाए रखने से है, विशेष न्यायालय विधेयक के अन्य उपबंधों या खंडों पर विचार नहीं किया जाएगा) । इस विनिश्चय का सावधानीपूर्वक परिशीलन करने के उपरांत न्यायालय का यह मत है कि विशेष न्यायालय विधेयक के खंड (7) के प्रति निर्देश करते हुए इस न्यायालय की मताभिव्यक्ति को इस कारण धारा 9(7) के अधीन किसी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश को बनाए रखने की स्थिति में कड़ाई से लागू नहीं किया जा सकता है कि वह व्यक्ति जिसे विशेष न्यायालय विधेयक के खण्ड 7 के अधीन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से केंद्रीय सरकार द्वारा नामनिर्दिष्ट किया जाना है ऐसा व्यक्ति है जिसने उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर कार्य किया अर्थात् यह कि नियुक्ति सेवानिवृत्ति के पश्चात् की जाए । किंतु वर्तमान अधिनियम में न्यायाधीश यथास्थिति, न्यायाधीश या अपर न्यायाधीश के रूप में अधिवर्षिता की प्राप्ति पर उसी प्रकार न्यायिक सेवा जारी रखने के लिए अनुज्ञात किया गया है । दूसरे शब्दों में न्यायाधीश अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने पर भी सेवानिवृत्त नहीं होता है । केंद्रीय सरकार और राज्य-सरकार को अभिहित न्यायालय के किसी न्यायाधीश या अपर न्यायाधीश की संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से नियुक्ति करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि अभिहित न्यायालय के पास नियुक्ति के प्रारम्भिक प्रक्रम पर भी सेवा की पर्याप्त कालावधि है ताकि किसी को भी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश को उसकी अधिवर्षिता की प्राप्ति पर सेवा में बनाए रखने के संबंध में कोई शिकायत न हो सके । अतः धारा 9 (7) किसी सांविधानिक उपबंध का अतिक्रमण नहीं करती । संहिता की धारा 6 द्वारा गठित सेशन न्यायालयों में, जिन्हें संहिता के अधीन शक्तियां प्रदान की जाती हैं, संविधान के अनुच्छेद 233 के अधीन जिला न्यायाधीश, अपर जिला न्यायाधीश अथवा अपर सेशन न्यायाधीश नियुक्त किए जाते हैं । दंड विधि (संशोधन) अधिनियम, 1952 अथवा 1946 या 1988 का भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम में केंद्रीय या राज्य सरकार को लोक सेवकों द्वारा भ्रष्टाचार से संबंधित अपराधों की बाबत कार्रवाई करने के लिए अधिसूचना द्वारा विशेष न्यायाधीशों, सेशन अथवा अपर सेशन न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की शक्ति प्रदान की गई है । आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन अपराधों तथा उसके अधीन दिए गए आदेश की बाबत कार्रवाई सेशन अथवा अपर सेशन न्यायाधीशों द्वारा की जाती है । वे उच्च न्यायालय के प्रशासनिक तथा न्यायिक नियंत्रण के अधीन रहते हैं जिसमें उनके अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने तक इस न्यायालय द्वारा अधिकथित नियमों अथवा विधि के अनुसार उनका स्थानांतरण, तैनाती और अनुशासनिक नियंत्रण सम्मिलित

है। अधिनियम की धारा 9, 11 और 12 का संयुक्त रूप से पठन करने पर यह उपदर्शित नहीं होता कि वे धाराएं अभिहित न्यायालयों अथवा पद धारण करने वाले न्यायाधीशों पर उच्च न्यायालय के नियंत्रण अथवा पर्यवेक्षण का परिरक्षण करती हैं यद्यपि आरम्भ में उनकी नियुक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सहमति से की गई थी। अधिनियम की धारा 19 में किसी अभिहित न्यायालय के किसी निर्णय, दण्डादेश अथवा आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील किए जाने का उपबंध है चाहे ऐसी अपील तथ्यों के आधार पर की जाए चाहे विधि के अधीन। अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश अथवा अपर न्यायाधीश के न्यायिक कार्य पर से उच्चतम न्यायालय का नियंत्रण दूर कर दिया गया। इस प्रकार यह बात स्पष्ट होगी कि धारा 9 (1) के अधीन अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में सेशन अथवा अपर सेशन न्यायाधीशों की नियुक्ति संविधान और दण्ड प्रक्रिया संहिता की स्कीम से बाहर है और वह अधिनियम की उपज है। यद्यपि अभिहित न्यायालय के जिला अथवा अपर सेशन न्यायाधीश की नियुक्ति, यथास्थिति, केंद्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार द्वारा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की अनुमति से की जाती है, तो भी उसके बाद उच्च न्यायालय का उन पर किसी प्रकार का प्रशासनिक अथवा न्यायिक नियंत्रण नहीं रहता। अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में अपनी नियुक्ति हो जाने पर सेशन अथवा अपर सेशन न्यायाधीश का प्रशासनिक नियंत्रण कार्यपालिका के यहां पक्षान्तरित हो जाता है चाहे वह कार्यपालिका केंद्रीय सरकार हो अथवा राज्य सरकार। दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश की आरंभिक नियुक्ति के लिए ही आवश्यक होती है तथा उसके पश्चात् उस पर उच्च न्यायालय का कोई प्रशासनिक और न्यायिक नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण नहीं रहता। अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (7) किसी शब्द को छोड़े बिना उसके आलंब को इस प्रकार प्रकट करती है कि भले ही किसी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश अथवा अपर न्यायाधीश ने उसे लागू होने वाले नियमों के अधीन राज्य न्यायिक सेवा में अपनी अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर ली हो तो भी वह इस असंदिग्ध भाषा के आधार पर, "कि उसके ऐसे न्यायाधीश या अपर सेशन न्यायाधीश बने रहने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, ऐसा न्यायाधीश अथवा अपर न्यायाधीश बने रहने का हकदार होगा। दूसरे शब्दों में, विधायी आशय इस अर्थ में स्पष्ट है कि भले ही अभिहित न्यायाधीश ने उसे लागू होने वाले नियमों के अधीन अपनी प्रसामान्य न्यायिक सेवा में सेशन न्यायाधीश अथवा अपर सेशन न्यायाधीश के रूप में अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर ली है फिर भी वह केंद्रीय सरकार अथवा समुचित राज्य सरकार के प्रसादपर्यन्त सेवा में बना रहेगा। यह उपबंध क्या संदेश देना चाहता है? क्या यह उपबंध न्यायपालिका की स्वतंत्रता से संगत है? क्या यह उपबंध अभियुक्त के मन में इस बाबत विश्वास उत्पन्न करेगा कि अभिहित न्यायाधीश किसी ऐसी कठोर सामग्री का बना होगा जो किसी शक्ति अथवा वैयक्तिक लाभ की लालसा के समक्ष नहीं झुकेगी। अधिनियम की धारा 9 (1) की सांविधानिक विधिमान्यता पर इसी परिवेश और परिप्रेक्ष्य में ध्यान दिया जाना चाहिए। इस मामले में अभिहित न्यायाधीश के रूप में आरंभिक नियुक्ति को लेकर अधिक चिंता नहीं है किंतु उसके न्यायिक कर्तव्यों के निर्वहन पर नियंत्रण और पर्यवेक्षण को लेकर है तथा उसके (न्यायपालिका) अंग के रूप में उसे प्रकटतः अथवा प्रच्छन्नतः कार्यपालिक के असर से अलग रखा गया है। (पैरा 181, 182, 183, 185, 186 और 444)

"टाडा" अधिनियम की धारा 11(2) और (3) पर पुनः विचार करते हुए, जब राज्य में विद्यमान स्थिति की अभ्यावश्यकताएं ऋजु, निष्पक्ष अथवा शीघ्र विचारण के लिए सहायक नहीं हैं मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति की ईप्सा की जा सकती है। वास्तव में इस सहमति की ईप्सा करने के कारण विधि अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत किए गए संकल्प में प्रकट होने चाहिएं। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति कानूनी कृत्य का निर्वहन करते हुए उस संकल्प में उसके समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर अपना अपेक्षित व्यक्तिपरक समाधान करके कानूनी आदेश पारित करेंगे और सहमति देंगे या मना करेंगे। इस संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार उस स्थिति में यदि मुख्य न्यायमूर्ति सहमति देने से इंकार कर देते हैं धारा 11(2) के अधीन किसी मामले को अंतरित नहीं कर सकती है या धारा 11(3) के अधीन अधिसूचना जारी नहीं कर सकती है। दूसरे रूप में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि धारा 11(2) या धारा 11(3) के अधीन कोई आदेश जारी किए जाने के लिए मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति अनिवार्य है। तथापि इसी समय इस विधिक स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए कि मात्र सहमति प्रदान करना ही अंतरण का आदेश नहीं है अपितु यह केंद्रीय सरकार के लिए उपर्युक्त उपबंधों में से किसी के अधीन कोई आदेश पारित करने के लिए सुकर बनाता है। दूसरे शब्दों में, धारा 11 की उपधारा (2) या उपधारा (3) के अधीन केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी प्रकार का आदेश पारित किए जाने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति प्राप्त करना, पूरी की जाने या अनुपालन की जाने वाली विनिर्दिष्ट शर्तों में से एक है। यद्यपि सहमति प्रदान किया जाना आवश्यक है किंतु इससे सरकार किसी प्रकार का आदेश पारित करने के लिए बाध्य नहीं है यदि, किसी अन्य मध्यवर्ती कारणवश, केंद्रीय सरकार सहमति प्राप्त करने के पश्चात् भी यह विनिश्चय करती है कि किसी मामले को अंतरित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में सम्मति का कोई प्रभाव नहीं होगा। अतः, सहमति प्रदान किया जाना जो कि सरकार द्वारा अंतरण आदेश पारित किए जाने की पुरोभाव्य शर्त है मात्र कानूनी आदेश है, न कि न्यायिक आदेश क्योंकि किसी प्रकार का कोई न्यायनिर्णयन और किसी विवाद्यक का अवधारण नहीं होता है। अतः सरकार द्वारा पारित अंतरिम आदेश को तो न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए चुनौती दी जा सकती है किंतु प्रदत्त की गई सहमति को नहीं क्योंकि यह मात्र कानूनी शर्त है जो केन्द्रीय सरकार द्वारा अंतरण आदेश पारित किए जाने से पूर्व पूरी की जानी चाहिए। जैसा कि बार-बार कहा गया, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा धारा 11(2) और (3) के अधीन सहमति संकल्प में दिए गए कारणों या राज्य में विद्यमान स्थिति की अभ्यावश्यकताओं जिनके कारण केन्द्रीय सरकार के लिए सहमति प्राप्त करना और तत्पश्चात् मामले को अंतरित करने की आवश्यकता पड़ी, को स्पष्ट करते हुए उसके समक्ष प्रस्तुत किसी सामग्री के आधार पर अपेक्षित व्यक्तिनिष्ठ समाधान करके अपने कानूनी कृत्य के निर्वहन में दी जा सकती है या नामंजूर की जा सकती है। अतः यह महसूस किया जाता है कि संसद् की असाधारण परिस्थितियों में "दूसरे पक्ष को भी सुनो" के नियम के लागू किए जाने को अपवर्जित करने की शक्ति के होते हुए भी, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति किसी समुचित मामले में अभियुक्त के मामले का परिशीलन करने के लिए स्वतंत्र हैं। (पैरा 204, 205, 210)

विशुद्ध परिणाम यह निकला कि "टाडा" के अधीन किसी व्यक्ति की किसी प्रकार की संस्वीकृति या कथन धारा 15 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए ऐसे पुलिस

1994(3) eILR(PAT) SC 1

अधिकारी द्वारा जो पुलिस अधीक्षक से निम्न पंक्ति का नहीं है या न्यायिक मजिस्ट्रेट या कार्यपालक मजिस्ट्रेट या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा जो "टाडा" की धारा 20 की उपधारा (3) को दृष्टिगत करते हुए धारा 164(1) के अधीन किसी प्रकार की संस्वीकृति अभिलिखित किए जाने के लिए सशक्त हैं, लेखबद्ध किया जा सकता है। इस निर्णय के पश्चात्वर्ती भाग में धारा 20(3) पर सविस्तार चर्चा की जाएगी। तथापि, यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसे पुलिस अधिकारी द्वारा जो पुलिस अधीक्षक से निम्न पंक्ति का नहीं है अभियोग से पूर्व की पूछताछ में प्राप्त संस्वीकृति को किसी प्रकार दूषित नहीं किया जा सके और इसे विशिष्टतः सुमान्य और स्वीकृत तथा सुविचारित सिद्धांतों और आधारभूत ऋजुता के अनुरूप अभिलिखित किया जा सके ये दिशा निर्देश अधिकथित करने होंगे — (1) संस्वीकृति उसी भाषा में जिसमें व्यक्ति की परीक्षा की गई और जिसमें उसने इसे बताया मुक्त वातावरण में अभिलिखित की जानी चाहिए। (2) उस व्यक्ति को जिससे संस्वीकृति अधिनियम की धारा 15(1) के अधीन अभिलिखित की गई उस मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट जिसे नियम 15(5) के अधीन संस्वीकृति को इसके मूल कथन जिसे लेखबद्ध किया गया था यांत्रिक युक्ति पर अयुक्तियुक्त विलंब बिना अभिलिखित किया गया के साथ भेजा जाना अपेक्षित है के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए। (3) मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट सावधानीपूर्वक कथन अभिलिखित करेगा, यदि कोई, इस प्रकार प्रस्तुत किए गए अभियुक्त द्वारा किया जाता है और उसके हस्ताक्षर लेगा तथा यातना की शिकायत के किसी मामले में उस व्यक्ति की ऐसे चिकित्सा अधिकारी द्वारा परीक्षा किए जाने का निदेश देगा जो सहायक सिविल शल्य चिकित्सक से निम्न पंक्ति का नहीं है। (4) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में किसी बात के होते हुए भी ऐसा कोई भी पुलिस अधिकारी जो मेट्रोपोलिटन नगरों में सहायक पुलिस आयुक्त से निम्न पंक्ति का नहीं है और अन्यत्र पुलिस उपअधीक्षक या समकक्ष पंक्ति का पुलिस अधिकारी 1987 के इस अधिनियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध का अन्वेषण करेगा। ऐसा इस अधिनियम के कठोर उपबंधों को देखते हुए आवश्यक है। और इसलिए भी कि भ्रष्टाचार निवारण, अधिनियम, 1988 की धारा 17 और अनैतिक व्यापार (निवारण) अधिनियम, 1956 की धारा 13 केवल विशिष्ट पंक्ति के पुलिस अधिकारी को इन विशिष्ट अधिनियमों के अधीन अपराधों का अन्वेषण करने के लिए प्राधिकृत करती है। (5) यदि पुलिस अधिकारी किसी व्यक्ति की न्यायिक अभिरक्षा से पूर्व-आरोपण या पूर्व-विचारण की पूछताछ के प्रयोजनार्थ अभिरक्षा की ईप्सा कर रहा है, तो वह एक शपथ-पत्र प्रस्तुत करेगा जिसमें वह शपथ पर न केवल ऐसी अभिरक्षा के कारणों को अपितु विलंब यदि किसी प्रकार का पुलिस अभिरक्षा की ईप्सा करने में किया गया के कारणों को भी स्पष्ट करेगा। (6) ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति जिसे पूछताछ के लिए लाया गया है इस चेतावनी के बावजूद कि वह संस्वीकृति करने के लिए बाध्य नहीं है और यदि वह ऐसा करता है, तो उक्त कथन का उसके विरुद्ध साक्ष्य के रूप में उपयोग किया जा सकता है मौन बना रहता है, तो पुलिस अधिकारी उसे प्रकटन कथन करने के लिए किसी प्रकार से बाध्य नहीं करेगा। केंद्रीय सरकार इन मार्गदर्शक सिद्धांतों की अवेक्षा करके इन्हें अधिनियम और नियमों में समुचित संशोधन करके सम्मिलित कर सकती है। यद्यपि यह विनिश्चय करना कि क्या संस्वीकृति विधि के यथेष्ट अनुसरण में उसकी न्यायिक बुद्धिमत्ता में ग्रहण किए जाने योग्य है अथवा विश्वसनीय है पूर्णतः अपराध का विचारण करने वाले न्यायालय का कर्तव्य है, उसे इस प्रश्न

का विनिश्चय करते समय अपना यह समाधान करना चाहिए कि अभिरक्षा के दौरान पूछताछ करके किसी प्रकार के झांसे, बहलावे और गलत तरीके से तो साक्ष्य प्राप्त नहीं किया गया। "टाडा" की उच्चतर स्तर पर संवीक्षा और इसके लागू किए जाने को सुनिश्चित करने के लिए, केन्द्रीय सरकार द्वारा गठित छानबीन समिति अथवा पुनर्विलोकन समिति होनी चाहिए जिसमें गृह सचिव, विधि सचिव और अन्य विभागों के अन्य संबंधित सचिव सम्मिलित होंगे जो केंद्रीय सरकार द्वारा संस्थित "टाडा" मामलों का पुनर्विलोकन करेगी और हर तिमाही प्रशासनिक पुनर्विलोकन करेगी और विभिन्न राज्यों में "टाडा" के उपबंधों को लागू किए जाने से संबंधित राज्य की कार्रवाई और इनके संबंध में उद्भूत होने वाले आनुषंगिक प्रश्नों का पुनर्विलोकन करेगी। इसी प्रकार राज्य सरकारों द्वारा भी छानबीन अथवा पुनर्विलोकन समितियां गठित की जाएंगी जिनमें मुख्य सचिव, गृह सचिव, विधि सचिव, पुलिस महानिदेशक (विधि-व्यवस्था) और उस सरकार के अन्य पदाधिकारी जिन्हें वह उपयुक्त समझे सम्मिलित होंगे जो अधिनियम के अधीन प्रवर्तन प्राधिकारियों की कार्रवाई का पुनर्विलोकन करने और अधिनियम के उपबंधों के अधीन रजिस्टर किए गए मामलों की छानबीन करने और प्रत्येक मामले में आगे की कार्रवाई का विनिश्चय करने आदि से संबंधित पुनर्विलोकन करेंगे। (पैरा 284 से 288)

साधारणत: जब अभियुक्त व्यक्ति बदमाश होते हैं, तो साक्षी इन अभियुक्तों द्वारा तंग किए जाने के भय से ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध अभिसाक्ष्य देने को तैयार नहीं होते हैं। इस अधिनियम के अधीन विचारण किए जाने वाले व्यक्ति आतंकवादी और विध्वंसकारी होते हैं। अत: साक्षी अपने जीवन को खतरे के कारण अभिसाक्ष्य देने को तैयार नहीं होते हैं। संसद् ने इन असाधारण परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह उपयुक्त समझा कि उपर्युक्त किसी भी आकस्मिकता में साक्षियों की पहचान और पते प्रकट न किए जाएं। इस संदर्भ में भारतीय दंड संहिता की धारा 228-क के प्रति निर्देश किया जा सकता है जिसके अनुसार इस धारा की उपधारा (1) के अधीन यथा अनुध्यात कतिपय मामलों के शिकार व्यक्तियों की पहचान प्रकट किया जाना दंडनीय तो है परंतु यह उपधारा (2) के अधीन। तथापि, जब साक्षियों की अभियुक्त के सामने परीक्षा की जाती है, तब अभियुक्त को साक्षियों की पहचान की बाबत जानकारी का अवसर प्राप्त हो सकता है यदि प्रतिरक्षा पक्ष को उनकी पहले से जानकारी है। किंतु यदि प्रतिरक्षा पक्ष को साक्षियों की जानकारी नहीं है, तब साक्षियों की पहचान की जानकारी होना संभव नहीं होगा भले ही वे कठघरे में क्यों न खड़े हों। साक्षियों की मुख्य परीक्षा के पश्चात् विचारण के दौरान अभियुक्त को प्रतिपरीक्षा आस्थगित करने और साक्षियों को प्रतिपरीक्षा के लिए किसी अन्य दिन बुलाने का अधिकार है। यदि साक्षी अभियुक्त को जानते हैं, तो वे ऐसी परिस्थितियों में प्रतिपरीक्षा के समय प्रतिपरीक्षा करने के लिए सामग्री एकत्रित कर सकते हैं। साक्षियों को प्रकट न किए जाने के चाहे जो भी कारण हों, तथ्य यह है कि अभियुक्त व्यक्ति इस अधिनियम जिसमें कड़े दंड का उपबंध है के अधीन विचारण किए जाने से साक्षियों की प्रभावी रूप से प्रतिपरीक्षा करने और उनके पूर्व आचरण और चरित्र को अनावृत करने की सुविधा से वंचित रहेंगे। अत: प्रतिपरीक्षा के प्रयोजन और उद्देश्य को सुनिश्चित करने के लिए जैसा कि पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने यह कहा कि साक्षियों की पहचान, नाम और पते विचारण प्रारंभ किए जाने से पूर्व प्रकट किए जा सकते हैं तथापि यह मताभिव्यक्ति करते हुए यह और जोड़ देना उचित होगा कि

1994(3) eILR(PAT) SC 1

इस अपवाद के अध्यधीन किया जाना चाहिए कि न्यायालय विशेष कारणों से अपनी बुद्धिमत्ता में इस बाबत विनिश्चय कर सकती है कि साक्षियों विशेषकर उन वास्तविक साक्षियों की पहचान और पते जिनके जीवन को खतरा है प्रकट न किए जाएं। (पैरा 311, 312 और 313)

अभिहित न्यायालय द्वारा पारित निर्णय, दण्डादेश या आदेश द्वारा व्यथित किसी व्यक्ति को साधारण दंड विधि के अधीन सीधे उच्चतम न्यायालय में अपील करने के लिए बाध्य किए जाने के सिवाय उसके लिए किसी प्रकार का विकल्प उपबंधित करने में किसी प्रकार की तर्कसंगति या संतोषजनक सोच दिखाई नहीं देती है क्योंकि ऐसे मामले में व्यथित व्यक्ति प्रथमतः उच्च न्यायालय में अपील के अधिकार और द्वितीयतः संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने की सुविधा से वंचित रहेगा। यदि "टाडा" से भिन्न किसी दंड विधि के अधीन पारित निर्णय और आदेश से व्यथित ऐसे किसी भी व्यक्ति को जो देश के दूरस्थ क्षेत्रों में निवास करते हैं उच्चतम न्यायालय में समावेदन करना पड़ेगा जिनमें से ऐसे बहुत से व्यक्ति जो वित्तीय अभावों से ग्रस्त हैं अपील पसंद न करके इस कारण अनिश्चितकाल तक जेल में सड़ते रहेंगे। ऐसी स्थिति में जैसा कि काउंसेल ने कहा कानूनी बाध्यतावश ऐसा व्यक्ति न केवल ऋजु व्यवहार और न्याय से वंचित रहेगा अपितु इससे असामान्य प्रक्रिया के किसी अन्य विधिमान्य कारण के न होने पर दंड विधि प्रणाली का घोषित उद्देश्य भी विफल हो जाएगा। इस असुविधा और व्यावहारिक कठिनाई जिसका व्यथित व्यक्ति को सामना करना पड़ता है से बचा जा सकता है यदि ऐसे व्यक्ति को जिसका विचारण अभिहित न्यायालय द्वारा "टाडा" के अधीन आरोपों के लिए किया गया और जिसे अन्य शास्तिक उपबंधों के अधीन सिद्धदोष घोषित किया गया और जिसे "टाडा" के उपबंधों के अधीन अपराधों से तो दोषमुक्त कर दिया गया दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन यथा उपबंधित अगले अपील न्यायालय में अपील करने का अधिकार दिया जाता है और यदि राज्य "टाडा" के उपबंधों के अधीन अपराध से दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील करता है, तब वह ऐसे व्यक्ति द्वारा उच्चतम न्यायालय में की गई यथास्थिति अपील या पुनरीक्षण को वापस लेने के लिए उच्चतम न्यायालय में समावेदन कर सकता है ताकि दोनों मामलों की एक साथ सुनवाई हो सके। (पैरा 318, 319)

इस विवेचन को दृष्टिगत करते हुए और उपर्युक्त विभिन्न विनिश्चयों में अधिकथित सिद्धांतों के प्रकाश में यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि कार्यपालक मजिस्ट्रेट अपने ऐसे न्यायिक या अर्द्ध न्यायिक कृत्यों का प्रयोग करते हुए यद्यपि वह इनका प्रयोग दंड प्रक्रिया संहिता के ढांचे के अंतर्गत सीमित रूप में करता है ऐसे न्यायिक कृत्य करते हैं जिन्हें साधारणतः न्यायिक मजिस्ट्रेटों द्वारा किया जाता है और इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वे न्यायिक पद धारण करते हैं। अतः विद्वान काउंसेल की इस दलील को कि कार्यपालक मजिस्ट्रेटों और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को न्यायिक शक्तियां प्रदान किया जाना संविधान के अनुच्छेद 50 में दिए गए अभिशासन के मूल सिद्धांत के विरुद्ध है माना नहीं जा सकता है। परिणामतः, यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि "टाडा" की धारा 20 की उपधारा (3) अनुच्छेद 14 या 21 का अतिक्रमण नहीं करती है और इसलिए, इस उपधारा में किसी प्रकार की सांविधानिक अविधिमान्यता का दोष नहीं है। यद्यपि यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यह धारा सांविधानिकतः विधिमान्य है, विद्वान काउंसेल द्वारा व्यक्त की

1994(3) eILR(PAT) SC 1

गई इस आशंका को दूर करने के लिए कि कार्यपालक मजिस्ट्रेट और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट जो राज्य के नियंत्रण के अधीन हैं उस प्रकार की न्यायिक निष्पक्षता और स्वतंत्रता नहीं रख सकते जिस प्रकार कि न्यायिक मजिस्ट्रेट और इन कार्यपालक मजिस्ट्रेटों द्वारा संस्वीकृति और कथन अभिलिखित किया जाना किसी अधिसंभाव्य गलत हेतु से मुक्त नहीं होगा यह मत है कि यह सदैव वांछनीय और महत्वपूर्ण हैं कि किसी व्यक्ति की संस्वीकृति या कथन न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा उस समय अभिलिखित किए जाते हैं जब कभी भी मजिस्ट्रेट कार्यपालक मजिस्ट्रेटों के अधिमान में उपलब्ध हो जब तक कि कार्यपालक या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेटों द्वारा संस्वीकृति या कथन अभिलिखित किए जाने के बाध्यकारी और न्यायोचित कारण न हों। धारा 20 की उपधारा (3) के संदर्भ में दी गई दलील का निपटारा करते हुए निर्णय के पूर्व भाग में दिए गए कारणों से यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि इस आलोचना को कि धारा 167 की उपधारा (1) में कार्यपालक मजिस्ट्रेट और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट का सम्मिलित किया जाना गलत हेतु से है, साना नहीं जां सकता है और इस उपबंध को असांविधानिक नहीं कहा जा सकता है। इस निष्कर्ष को दृष्टिगत करते हुए यह निष्कर्ष कि "धारा 20 की उपधारा (4) का खंड (क) अधिकारातीत घोषित किया जाता है" बातिल किए जाने योग्य है और तदनुसार इसे अपास्त किया जाता है। (पैरा 343, 344, 349 और 350)

अग्रिम जमानत के उपबंध को जोड़े जाने के अपने सुझावों से संबंधित विधि आयोग द्वारा दिया गया एक कारण यह है कि "......... जहां तक यह अभिनिर्धारित करने के युक्तियुक्त आधार हों कि किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति के फरार होने या जमानत पर अपनी स्वतंत्रता का अन्यथा दुरुपयोग करने की संभावना न हो, वहां उसे पहले अभिरक्षा के लिए उपस्थित होने, कुछ दिनों तक कारागार में रहने और तत्पश्चात् जमानत के लिए आवेदन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि विधि आयोग की रिपोर्ट में के इस तर्क से कि जहां किसी अजमानतीय अपराध के अभियुक्त व्यक्ति के जमानत पर रहते हुए फरार होने या अपनी जमानत का अन्यथा दुरुपयोग करने की संभावना है, वहां उसके अग्रिम जमानत की प्रसुविधा के दावे को स्वीकार करना न्यायोचित नहीं होगा। क्या यह निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि आतंकवादी और विध्वंसकारी जो आतंक और विध्वंस फैलाते हैं और असुरक्षा की भावना उत्पन्न करते हैं यदि जमानत पर छोड़ दिए जाएं तो फरार नहीं होंगे या अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं करेंगे । प्रकटतः, संसद् ने ऐसे अपराधियों को धारा 438 की प्रसुविधा प्रदान करना उपयुक्त नहीं समझा। तथापि इस बात को दोहराते हुए यह कहा जा सकता है कि धारा 438 एक नया उपबंध है जो नवीन अधिकार सर्जित करते हुए वर्तमान संहिता में समाविष्ट किया गया है। यदि इस नवीन अधिकार का हरण कर लिया जाता है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि धारा 438 का निकाला जाना अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण होगा। ऐसा कोई विनिर्दिष्ट कथन नहीं है कि धारा 438 के निकाले जाने से संविधान के अनुच्छेद 21 का किसी प्रकार से अतिक्रमण होगा। (पैरा 356 और 357)

जैसा कि विद्वान अपर महासालिसिटर ने ठीक ही कहा कि धारा 20 (3) (ख) के अधीन अधिरोपित शर्तें धारा 437 की उपधारा (1) के खण्ड (i) और (ii) तथा इसकी

उपधारा (3) के खंड (ख) के अधीन विहित शर्तों के अनुरूप हैं। उपधारा (8) के खंड (ख) में की शर्तों की भांति, अन्य अधिनियमितियों यथा विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम की धारा 35 (1) और सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 104 (1) सरीखे इस प्रकार के उपबंध हैं कि यदि विभिन्न अधिनियमों के अधीन प्राधिकृत या सशक्त कोई अधिकारी यह विश्वास रखने का कारण रखता है कि कोई व्यक्ति भारत में या भारतीय सीमा-शुल्क जल के भीतर विभिन्न अधिनियमों के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी है, तो वह ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता है। अतः इस शर्त को कि "यह विश्वास करने के आधार है कि वह अपराध का दोषी नहीं है", जो कि अन्य अधिनियमों तथा संहिता की धारा 437 (1) के खंड (i) और "फेरा" की धारा35 (1) और सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 104 (1) में समाविष्ट हैं संविधान के अनुच्छेद 21 के सिद्धांत का अतिलंघन करते हुए अयुक्तियुक्त शर्त नहीं माना जा सकता है। उपर्युक्त विस्तृत विवेचन को दृष्टिगत करते हुए यह अभिनिर्धारित करते हुए "अतः अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (8) का खंड (ख) का अंतिम भाग जो इस प्रकार है :"और यह कि जमानत पर रहते समय उसके द्वारा किसी अपराध के किए जाने की संभावना नहीं है" को ही केवल अधिकारातीत घोषित किया जाता है और विमल कौर वाले मामले में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के निष्कर्ष को अपास्त किया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि नागरिकों की स्वतंत्रता की न्यायालयों द्वारा विशेष सतर्कता के साथ रक्षा की जानी चाहिए तथापि न्यायालय को "टाडा" सरीखे मामलों में न्याय प्रदान करते समय अभियुक्त को न केवल स्वतंत्रता का ध्यान रखना चाहिए अपितु घटना के शिकार व्यक्ति और उसके सगे-संबंधियों के हित और सबसे अधिक समाज के सामूहिक हित तथा राष्ट्र की सुरक्षा को भी ध्यान में रखना चाहिए ताकि जनता का न्यायिक प्रशासन में विश्वास बना रहे और निजी प्रतिशोध की भावना को बल न मिले। यह सत्य है कि बहुत बार न्यायालय में ऐसे मामले भी आए हैं जिनमें अभियोजन पक्ष ने गलत हेतु से "टाडा" के उपबंधों का अन्यायोचित आश्रय लिया और अभियुक्त व्यक्तियों को जमानत प्राप्त करने से अपवंचित किया गया और कुछ अवसरों पर जब न्यायालयों ने साधारण दंड विधि के अधीन रजिस्टर किए गए मामलों में जमानत मन्जूर करनी चाही, तो अन्वेषक अधिकारियों ने न्यायालयों के प्राधिकार को मात देने के लिए "टाडा" के उपबंधों का आश्रय लिया। ऐसे मामलों में जिनके तथ्यों के अनुसार यह आवश्यक नहीं है "टाडा" के उपबंधों का इस प्रकार आश्रय लिया जाना और कुछ नहीं अपितु पुलिस द्वारा अधिनियम का पूर्णतः दुरुपयोग और गलत रूप में प्रयोग है। जब तक लोक अभियोजक समय की पुकार के प्रति जागरूक होकर और इस बात को ध्यान में रखकर कि वे जनता की ओर से अभियोजक हैं न कि पुलिस के, अपने विशेष दायित्व का निर्वहन नहीं करते और जब तक कि अभिहित न्यायालयों के पीठासीन अधिकारी मूल अधिकारों विशिष्टतः संविधान में दिए गए प्रत्येक नागरिक के वैयक्तिक अधिकार और स्वतंत्रता जिनके उल्लंघन किए जाने पर उसके प्रहरी की उन्हें भूमिका सौंपी गई है को दृष्टिगत करते हुए अपने न्यायिक कृत्यों का निर्वहन नहीं करते, यह नहीं कहा जा सकता कि "टाडा" के उपबंधों को विधायी आश्रय के अनुरूप प्रभावी रूप से लागू किया गया है। (पैरा 377, 378, 379, 380)

यद्यपि विद्वान काउंसेल द्वारा इस उपबंध को चुनौती देते हुए कोई मौखिक तर्क नहीं दिया गया, चूंकि सम्पूर्ण अधिनियम की संवीक्षा की गई है इसलिए यह बेहतर होगा यदि इस

उपबन्ध से संबंधित न्यायालय के मत को भी अभिलिखित किया जाए। तथापि, श्री जेठमलानी ने अपनी लिखित दलीलों में यह कहा कि यह धारा बोधगम्य नहीं है और यह कि आज के ट्रिक फोटोग्राफी के युग में किसी व्यक्ति की विशेष रूप से उसके फोटो के आधार पर पहचान करना बिल्कुल भी सम्भव नहीं है। इस दलील में काफी बल दिखाई देता है। (पैरा 389)

अनुच्छेद 21 की परिधि का विश्लेषण करने तथा उसके न्यायिक और विधायी इतिहास का पता चलाने के पश्चात् 1987 के अधिनियम के कुछ उपबंधों पर विचार करना है क्योंकि 1984 और 1985 के अधिनियमों की बाबत अपने विद्वान बंधु न्या० पांडियन द्वारा की गई मताभिव्यक्ति में कुछ भी नहीं जोड़ना है जिससे न्यायालय ने सादर सहमति व्यक्त की है। 1987 के अधिनियम की बाबत विचार करते समय आरम्भ में ही यह उल्लेख किया जा सकता है कि न्या० पांडियन ने जो इस अधिनियम की अधिकांश धाराओं के संबंध में तर्कणाएं दी हैं और निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे पूरी तरह से सहमति है। उनकी इस बात से सहमति कि अधिनियम में "दुष्प्रेरित करना" पद की जो परिभाषा दी गई है उसका उपखंड (1) इस प्रकार संशोधित किया जाना चाहिए जिससे कि उसमें से संशयात्मकता का परिहार हो और यह मनमानेपन के तत्व से उन्मुक्त बने। जहां तक धारा 3 और 4 का संबंध है वे अस्पष्टतः के कारण रद्द किए जाने के योग्य नहीं है। विद्वान न्या० पांडियन ने उनकी परिधि का सविस्तार विवेचन किया है।

उक्त धारा में विनिर्दिष्ट आयुध और गोला-बारूद का कब्जा मात्र मौलिक अपराध बनाया गया है। यह उपबन्ध अपनी प्रकृति और अपने प्रभाव की दृष्टि से बहुत गंभीर है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप किसी ऐसे मनुष्य का इस बात के निरपेक्ष अभियोजन हो सकता है कि उसका आतंकवादी अथवा आतंकवादी क्रियाकलाप के साथ कोई संबंध है। इस धारा की धारा 3 और 4 के साथ तुलना यह प्रदर्शित करती है कि इसमें मनमानेपन का तत्व अंतर्निहित है। धारा 3 उस दशा में लागू होती है जब किसी व्यक्ति का आशय न केवल सरकार को आतंकित करने अथवा जनता में आतंक फैलाने का रहा होता है बल्कि वह आयुधों और गोला-बारूद का उपयोग भी करता है जिसके परिणामस्वरूप किसी या किन्हीं व्यक्तियों की मृत्यु होने और संपत्ति आदि को नुकसान पहुंचने की संभावना होती है। दूसरे शब्दों में कोई व्यक्ति तब आतंकवादी होता है अथवा आतंकवादी क्रियाकलाप करने का दोषी होता है जब ये तीनों तत्व विद्यमान होते हैं—आशय, कार्रवाई और परिणाम। इसी प्रकार धारा 4 उन क्रियाकलापों को लागू होती है जो देश की सर्वोच्च सत्ता तथा प्रादेशिक अखंडता को विघटित करने के लिए किए जाते हैं। इस प्रकार कोई आतंकवादी, विध्वंसक व्यक्ति तथा कोई आयुध गोला-बारूद अपने कब्जे में रखने वाला व्यक्ति, जिनका उल्लेख धारा में किया गया है, समान स्थिति में रखे गए हैं। (पैरा 478 और 479)

विशेष न्यायालय अधिनियम, 1984 की धारा 3 की विधिमान्यता को चुनौती देते हुए यह दलील दी गई कि धारा 3 (1) के अधीन केन्द्रीय सरकार में अधिसूचना द्वारा किसी क्षेत्र को "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित करने और ऐसे क्षेत्र को एकल न्यायिक अंचल या इतने अधिक न्यायिक अंचल गठित करने जो वह उपयुक्त समझे, के लिए दी गई शक्ति न केवल अस्पष्ट है अपितु इससे किसी प्रकार का दिशा निर्देश भी प्राप्त नहीं होता है। 'पूर्व-अपेक्षित शर्तें' जो केन्द्रीय सरकार द्वारा 1984 के अधिनियम की धारा 3 (1) के अधीन उसे प्रदत्त

1994(3) eILR(PAT) SC 1

प्राधिकार के कारण "आतंकवादी क्षेत्र" के रूप में किसी क्षेत्र को घोषित करने के लिए अनिवार्य हैं, इस प्रकार हैं—(1)किसी क्षेत्र में जिसे "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित किया गया है, किए जाने वाले प्रकृति के अपराध अनुसूची में विनिर्दिष्ट अपराधों में से कोई एक या एक से अधिक होने चाहिएं; (2) आतंकवादियों द्वारा किए जाने वाले अपराधों की धारा 2(1) (ज) में दी गई अपराध की परिभाषा पूरी करनी चाहिए अर्थात् व्यक्तियों की निर्ममतापूर्वक हत्या या हिंसा की गई या समुदाय के लिए आवश्यक सेवाओं या संचार के साधनों का विध्वंस या "आतंकवादी" शब्द की परिभाषा में उपदर्शित खण्ड (i) से (iv) में से किसी में दिए गए किसी अपराध के किए जाने को दृष्टिगत करते हुए सम्पति को नुकसान पहुंचाया गया; (3) आतंकवादियों द्वारा किए गए अनुसूचित अपराध ऐसी रीति में किए जाने चाहिएं कि ऐसे आतंकवादियों की गतिविधियों से निपटने के प्रयोजनार्थ इस अधिनियम के उपबन्धों का आश्रय लेना समीचीन हैं। जब तक कि उपर्युक्त सभी शर्तें पूरी नहीं कर दी जातीं केन्द्रीय सरकार किसी क्षेत्र को आतंकवादी क्षेत्र घोषित करने के लिए धारा 3 (1) के अधीन शक्ति का आश्रय नहीं ले सकती है। दूसरे शब्दों में, किसी प्रकार की शर्त के अभाव में, धारा 3 (1) का आश्रय नहीं लिया जा सकता है। अतः यह दलील कि धारा 3 (1) अस्पष्ट है और इससे किसी प्रकार के दिशा निर्देश भी प्राप्त नहीं होते हैं सारहीन है। इस संबंध में, यह और कहा जा सकता है कि विद्वान अपर महासालिसिटर ने 1984 के अधिनियम की धारा 3 की विधिमान्यता को कायम रखते हुए यह दलील दी कि विधानमण्डल ने ऐसे गम्भीर अपराधों के लिए जिनका अधिसूचित तारीख के पश्चात् अधिसूचित क्षेत्र में शान्ति और सौहार्द से सीधा संबंध है एकरूप प्रक्रिया विहित करना उपयुक्त समझा और ऐसे गम्भीर अपराधों का जिनसे लोगों के मन में भय और आतंक उत्पन्न होने की सम्भावना है, की चर्चा अधिनियम के अधीन है और इनके लिए शीघ्रतर विचारण विहित किया गया है ताकि विक्षुब्ध स्थितियों को समय गंवाए बिना नियंत्रित किया जा सके और स्थिति को बिगड़ने से अधिक क्षेत्रों से फैलने से रोका जा सके। 1984 के अधिनियम की धारा 3 की विधिमान्यता को चुनौती देने से संबंधित दलील को नामंजूर करते हुए उपर्युक्त दलील में कुछ बल दिखाई देता है। (पैरा 148 से 152)

चूंकि 1976 के उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 16 की धारा 9 की सांविधानिक विधिमान्यता को अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (7) के समरूप आधार पर चुनौती दी गई है, 1976 के उत्तर प्रदेश संशोधन अधिनियम सं० 16 की धारा 9 जिसके द्वारा उत्तर प्रदेश विधानमण्डल ने तारीख 28 नवम्बर, 1975 से संहिता की धारा 438 के प्रवर्तन को निकाल दिया, की सांविधानिक विधिमान्यता से संबंधित प्रश्न की बाबत अनेक याचियों द्वारा फाइल की गई रिट याचिकाओं के समूह का निपटारा किया जाता है। मामले के तथ्य केवल इस बात को छोड़कर सुसंगत नहीं हैं कि ऐसे सभी मामलों में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट मुख्यतया भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन विभिन्न अपराधों की बाबत फाइल की गई हैं। विचारार्थ प्रश्न यह है कि (1) क्या राज्य विधान मण्डल को संहिता की धारा 438 निकालने की विधायी सक्षमता प्राप्त है और (ख) क्या 1976 का उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 16 संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 21 का अतिक्रमणकारी है। उत्तर प्रदेश के विद्वान काउंसेल ने यह दलील दी कि यह अधिनियम विधिमान्य बिधान है क्योंकि यह विधायी सक्षमता से ग्रस्त नहीं है और राज्य विधान मण्डल राज्य की अपराधग्रस्त स्थिति को देखते

हुए इस अधिनियम को पारित करने के लिए सशक्त है और यह संशोधन राज्य में बढ़ते अपराधों की प्रवृति और विद्यमान स्थिति को दृष्टिगत करते हुए आवश्यक था। उसके अनुसार, राज्य विधानमण्डल को बिगड़ती स्थिति से निपटने के लिए संहिता की धारा 438 को निकालने के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश डकैत क्षेत्र अधिनियम, 1983 और समरूप अन्य अधिनियमितियां प्रख्यापित करने के लिए विवश होना पड़ा। केन्द्रीय अधिनियम को संशोधित करने की राज्य विधानमण्डल की सक्षमता को उत्तर प्रदेश राज्य के एक अन्य निर्णय में मान्यता प्रदान की गई। विधान मण्डल ने सातवीं अनुसूची की सूची-3 (समवर्ती सूची) के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए 1976 का अधिनियम सं० 16 पारित किया और संविधान की धारा 438 निकाल दी। तथापि, संशोधित अधिनियम जिसे संविधान के अनुच्छेद 254 (2) द्वारा तारीख 30 अप्रैल, 1976 को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई संसद् द्वारा बनाई गई किसी पूर्व विधि के होते हुए भी उत्तर प्रदेश राज्य में विद्यमान है। चूंकि यह अधिनियम संपूर्ण राज्य में लागू किया जाता है, उत्तर प्रदेश राज्य में इस उपबंध के लागू किए जाने की बाबत विभेद का कोई प्रश्न नहीं है। अतः, "टाडा" की धारा 20 (7) और राज्य की विधायी सक्षमता से संबंधित की गई चर्चा को देखते हुए इस दलील में कि यह संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 21 की अतिक्रमणकारी है, कोई बल नहीं है और इस प्रकार इसे नामंजूर किया जाता है। (पैरा 359, 360, 361 और 362)

इस प्रकार इस न्यायालय ने अनेक न्यायिक निर्णयों द्वारा इस बाबत जोर दिया और बारबार यह जोर दिया कि शीघ्र विचारण संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार का एक पहलू है और विधि द्वारा "युक्तियुक्त, न्यायसंगत और ऋजु" प्रक्रिया सुनिश्चित की जानी चाहिए और इन शब्दों का सर्जनात्मक अभिप्राय है। शीघ्र विचारण के आधार पर दांडिक कार्यवाही खारिज किए जाने के लिए अभियुक्त द्वारा न्यायालय में समावेदन करने के अधिकार को मान्यता प्रदान करते हुए, अमरीकी उच्चतम न्यायालय ने एक मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि अभियुक्त को शीघ्र विचारण के अधिकार से वंचित किए जाने के परिणामस्वरूप अभ्यारोपण खारिज हो जाएगा या दोषसिद्धि उलट दी जाएगी। वास्तव में, इस सिद्धांत के अधीन संवीक्षा किए जाने के लिए कदाचित कोई समय सीमा निश्चित नहीं है और न ही अभियुक्त के मामलों के निपटारे के विलंब के कारण पड़ने वाले वास्तविक प्रतिकूल प्रभाव को दर्शित करने के लिए कहा जा सकता है। दूसरी ओर न्यायालय को अभियुक्त को परिहार्य विलंब द्वारा होने वाले संभाव्य प्रतिकूल प्रभावों और असुविधाओं को ध्यान में रखते हुए और इस बाबत अवधारण के लिए कि क्या अभियुक्त को दांडिक कार्यवाही में अयुक्तियुक्त विलंब सहित शीघ्र विचारण के उसके अधिकार से वंचित किया गया है संतुलनकारी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और इन बातों का पता इन कारणों द्वारा लगाया जाना चाहिए, (1) कालावधि (2) विलंब के लिए औचित्य, (3) अभियुक्त द्वारा अपने शीघ्र विचारण के अधिकार का प्राख्यान और (4) ऐसे विलंब द्वारा अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव। तथापि, विलंब का तथ्य प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है क्योंकि विलंब के कारण भिन्न-भिन्न होंगे यथा अपराधों का व्यापक शाखा-विस्तारण और इसके राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अभिहित तंत्र के कारण अन्वेषण में विलंब, साक्षी या साक्षियों की जानबूझकर अनुपस्थिति न्यायालय की फाइल पर निर्णय-सूचियों की भरमार आदि। जब विवाद के विवाद्यक की शीघ्र विचारण के उपर्युक्त

1994(3) eILR(PAT) SC 1

संक्षिप्त रूप में निरूपित सिद्धांत के प्रकाश में परीक्षा की जाती है, तो उक्त सिद्धांत जो कि 1984 के अधिनियम सं०61 (विशेष न्यायालय अधिनियम) में अभिव्यक्ततः अनुध्यात है और दो "टाडा" अधिनियमों के उपर्युक्त विभिन्न उपबन्धों के अधीन प्रकट है स्पष्टतः इन अधिनियमों की आवश्यक विशिष्टता के रूप में अंतःस्थापित है। आक्षेपित अधिनियमों के अधीन मामलों में शीघ्र विचारण को अपनाने की बाबत किसी प्रकार का संविवाद या मतभेद नहीं है अपितु प्रश्न यह है कि क्या विहित प्रक्रिया संविधान के किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण करती है। एक और तर्क अर्थात् संविधान के अनुच्छेद 21 में वर्णित न्याय संगत और ऋजु विचारण की बाबत पहले यह कहते हुए दिया गया कि जब आपातकाल की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो और जब संविधान के भाग-3 द्वारा प्रदत्त सभी मूल अधिकारों को प्रवर्तित किया जा सके, तो ऋजु विचारण के अधिकार को मिटाया या समाप्त नहीं किया जा सकता है और द्वितीयतः जब आपातकाल की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो, तो भी राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 359 (1) के अधीन आदेश द्वारा यह घोषित कर सकता है कि भाग-3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए किसी न्यायालय में समावेदन का अधिकार और इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए किसी न्यायालय में सभी कार्यवाहियां आपातकाल के दौरान निलंबित रहेंगी किंतु अनुच्छेद 20 और 21 द्वारा प्रदत्त अधिकार नहीं। संक्षेप में, संविधान के अनुच्छेद 20 और 21 के अधीन प्रदत्त मूल अधिकारों का प्रवर्तन कराया जा सकता है और आपातकाल के दौरान भी मूल अधिकारों को प्रवर्तित किया जा सकता है। इसे बेहतर रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि आपातकाल के दौरान भी अनुच्छेद 20 और 21 के प्रवर्तन की छूट की बाबत विधायी इतिहास का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है। (पैरा 95, 98, 99, 100 और 101)

यद्यपि उच्च न्यायालयों को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन व्यापक शक्तियां प्राप्त हैं और इन व्यापक शक्तियों के कारण उनका यह उत्तरदायित्व बन जाता है कि वे इन शक्तियों का प्रयोग सावधानीपूर्वक और न्यायिक विचारणाओं तथा सुस्थापित सिद्धांतों के अनुसार करें। "टाडा" के विधायी इतिहास और उद्देश्य से यह उपदर्शित है कि यह विशेष अधिनियम आतंकवाद और विध्वंस से उद्भूत चुनौतियों का सामना करने के लिए अधिनियमित किया गया है। अधिनियम में जमानत मंजूर करने और अभिहित न्यायालय के किसी निर्णय, दंडादेश अथवा आदेश (जो कि अंतर्वर्ती आदेश नहीं है) से उद्भूत अपीलों से संबंधित विशेष उपबन्ध अधिनियमित किए गए हैं। अधिनियम (टाडा की धारा 25) और इसके अधीन बनाए गए नियमों के उपबंधों का अध्यारोही प्रभाव और धारा 20 (7) में सर्वोपरि खंड इस प्रकार है "संहिता में दी गई किसी बात के होते हुए भी···" से यह बात स्पष्ट है कि जमानत मंजूर किए जाने के समय केवल विशेष उपबंधों को ही लागू किया जाना चाहिए यदि कोई पक्षकार आदेश से व्यथित है, तो उसके लिए अधिनियम के अधीन जो एकमात्र उपचार उपलब्ध है वह उच्चतम न्यायालय में अपील के रूप में समावेदन है। यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग करते हुए जमानत आवेदन ग्रहण करते हैं, तो अधिनियम की स्कीम और उद्देश्य तथा संसद् का आशय पूर्णतः विफल हो जाएगा। किंतु साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि उच्च न्यायालयों को अधिकारिता प्राप्त नहीं है। इस न्यायालय द्वारा अपनाए गए इस मत से पूर्णतः सहमति व्यक्त की जाती है कि यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अधीन किसी आवेदन को ग्रहण

1994(3) eILR(PAT) SC 1

करना चाहता है, तो इस शक्ति का प्रयोग विरलतम मामलों में और कम से कम किया जाना चाहिए तथा समुचित मामलों में असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए। वे विरल मामले कौन-से हैं और वे परिस्थितियां कौन-सी हैं जिनमें अनुच्छेद 226 के अधीन आवेदन ग्रहण किया जाना न्यायोचित होगा निश्चित नहीं हैं। तथापि, यह कहा जा सकता है और पुनः जोर देकर कहा जा सकता है कि न्यायिक अनुशासन और न्यायालयों के शिष्टाचार की यह अपेक्षा है कि उच्च न्यायालयों को विशेष अधिनियम के अधीन आरोपित किसी अभियुक्त से संबंधित जमानत आवेदनों को ग्रहण करने की अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने से बचना चाहिए क्योंकि इस न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्च न्यायालयों के आदेशों में हस्तक्षेप करने और इन्हें ठीक करने की अधिकारिता प्राप्त है। (पैरा 388)

न्या० के० रामस्वामी द्वारा व्यक्त मत

यद्यपि उच्च न्यायालय के पास संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस बात की अधिकारिता और शक्ति है कि वह अधिनियम के अधीन विचारणीय किसी अपराध अथवा अधिनियम के अधीन अपराधों के साथ विचारणीय किसी अपराध को करने की अभियुक्त व्यक्ति की प्रार्थना पर आपवादिक परिस्थितियों में समुचित रिट जारी कर सकता है फिर भी उच्च न्यायालय को इस न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के बीच न्यायिक हस्तक्षेप और सहवर्तिता की दशा में इसलिए अनुच्छेद 226 के अधीन शक्ति के प्रयोग के संबंध में सौजन्य और स्वारोपित परिसीमाओं का पालन करना चाहिए तथा ऐसा कोई आदेश अथवा निदेश देने से इनकार कर देना चाहिए, जिसके परिणामस्वरूप इस न्यायालय को अनिवार्य रूप से वह अधिकारिता और शक्ति मिलती हो जो अधिनियम की धारा 19 के अधीन इस न्यायालय को प्रदान की गई है अथवा उसे इस न्यायालय द्वारा पारित अपीली आदेशों के संबंध में आसीन होने की अधिकारिता मिलती हो क्योंकि वह संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इस न्यायालय की अपीली और न्यायिक पुनर्विलोकन अधिकारिता के अंतर्गत आता है तथा इस न्यायालय में अधिनियम की धारा 19 के अधीन शक्ति और अधिकारिता कानूनी रूप से विनिहित की गई है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है कि जब इस न्यायालय ने धारा 19 के अधीन जमानत मंजूर करने से इनकार कर दिया तो कुछ उच्च न्यायालयों ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन कार्यवाही को ग्रहण करके उसी अभियुक्त की जमानत इस तथ्य के बावजूद मंजूर कर ली कि यह न्यायालय अभियुक्त की जमानत मंजूर करने से इनकार कर चुका था। अतः आपवादिक मामलों अथवा परिस्थितियों में भी संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन शक्ति का प्रयोग सौजन्य के सिद्धान्त के अनुरूप अथवा असंगत है। अतः शक्ति के प्रयोग पर एकमात्र अंकुश यह है कि न्यायालय आत्मनियंत्रण की भावना रखे तथा सौजन्य को यथोचित सम्मान प्रदान करे। अतः न्यायपालिका की सौपानिक व्यवस्था (जुडिशियल फ्रैग्मेटिज्म) तीक्ष्ण रूप से यह इंगित करती है कि न्यायालय अधिनियम की धारा 19 के अंतर्गत आने वाले मामलों में अथवा ऐसे मामलों में जिनके संबंध में धारा 19 के अधीन उपचार उपलब्ध है अथवा जिनका संज्ञान कर लिया गया है, आदेशिका जारी किए जाने के मामलों में परिवाद या आरोपपत्र, आदि के संबंध में प्रथमदृष्टया मामले में, अर्थात् दूसरे शब्दों में अधिनियम के अन्तर्गत आने वाले सभी मामलों में, अनुच्छेद 226 के अधीन कार्यवाही को

ग्रहण करने से इनकार करने के लिए आत्मानुशासन अधिरोपित करने वाले वैधानिक औचित्य और सौजन्य का पालन करें। इस प्रकार अधिनियम के अधीन आने वाले मामलों के संबंध में उच्च न्यायालय की अधिकारिता तिरोहित हो गई और वह अपनी शक्तियों से वंचित हो गया। (पैरा 464)

न्या० आर० एम० सहाय द्वारा व्यक्त मत

उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन जो शक्ति दी गई है वह उसकी असाधारण शक्ति होती है जिसके अनुसार वह न केवल स्पष्ट त्रुटि को शुद्ध कर सकता है बल्कि जिसे वह न्याय करने के लिए भी प्रयोग में लाता है। संविधान की स्कीम के अनुसार, जहां तक राज्य का संबंध है उच्च न्यायालय सिविल अपीलों, दांडिक अथवा सांविधानिक अधिकारिता का प्रयोग करने के प्रयोजनों के लिए राज्य का उच्चतम न्यायालय होता है। संविधान के लागू होने से पूर्व इसकी अधिकारिता का परिरक्षण अनुच्छेद 226 से होता था तथा अनुच्छेद 226 और 227 द्वारा उसे असाधारण अधिकारिता प्रदान की गई जिससे कि यह सुनिश्चित किया जा सके कि अधीनस्थ प्राधिकारी न केवल विधि के अनुसार कार्य करें बल्कि वे विधि के ढांचे के अन्तर्गत रहकर भी कार्य करें। उच्च न्यायालय की यह अधिकारिता छीनी नहीं गई है और वस्तुतः विधान बनाकर छीनी भी नहीं जा सकती। इंग्लैंड में जब कभी संविधान की अनुपस्थिति में, संसद् ने इस बात का उपबंध करने का प्रयत्न किया कि आदेश अंतिम है तथा उसके विरुद्ध कोई उत्प्रेषण रिट जारी नहीं की जाएगी, उच्च न्यायालय ने उस उपबंध को हमेशा रद्द कर दिया। चूंकि संविधान के अधीन उच्च न्यायालय एक ऐसा मंच है जहां किसी नागरिक का मूल अधिकार प्रवर्तित कराया जा सकता है अतः उसे किसी नागरिक द्वारा किए गए किसी आवेदन पर विचार करने से वंचित नहीं किया जा सकता जिसमें नागरिक ने सरकारी तंत्र पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने तथा संविधान द्वारा प्रदत्त गारंटी का अतिक्रमण करने का आरोप लगाया हो। बल्कि उच्च न्यायालय का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि सरकारी तंत्र निष्पक्ष रूप से कार्य कर रहा है। न कि वह इन बातों पर विचार करके कार्यवाई कर रहा है। आत्यंतिक दशाओं में उच्च न्यायालय के पास अनुच्छेद 226 के अधीन किसी याचिका पर विचार करने की अधिकारिता होती है। ऐसी आत्यंतिक दशाएं किसी जकड़जामे में नहीं रखी जा सकतीं। किन्तु जिन कुछ आत्यंतिक दशाओं की बाबत किसी प्रकार का विवाद नहीं हो सकता वो इस प्रकार है—जब उच्च न्यायालय की यह राय हो कि "टाडा" के अधीन कार्यवाही न्यायालय की आदेशिका का दुरुपयोग करके की गई है अथवा बाह्य बातों पर विचार करके की गई है अथवा अभिलेख पर यह दर्शित करने वाली कोई सामग्री नहीं है कि "टाडा" के अधीन कोई मामला बनाया गया है। ऐसा होने की स्थिति में उच्च न्यायालय के अपनी अधिकारिता का प्रयोग न करने तथा उपर्युक्त दशाओं में अभियुक्त की जमानत मंजूर न करने का कोई कारण नहीं है। (पैरा 486)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1994]	जजमेंट टुडे 1994 (1) 290 :	
	प्रवर्तन निदेशालय बनाम दीपक महाजन और एक अन्य;	125, 235

[1994] जे० टी० 1994 (2) एस० सी० 1 :
महाराष्ट्र राज्य बनाम अब्दुल हामिद हाजी; 385, 462

[1993] जजमेंट टुडे 1993 (6) एस० सी० 1 :
प्रबंध निदेशक, इलेक्ट्रानिक कारपोरेशन आफ इंडिया लिमिटेड, हैदराबाद बनाम बी० करुणाकर; 450

[1993] 1993 (1) एस०सी०सी० 78 :
सी० बी० गौतम बनाम भारत संघ; 192

[1992] जजमेंट टुडे 1992 एस०सी० 73 :
महाराष्ट्र राज्य बनाम सुखदेव सिंह उर्फ सुक्खा और अन्य; 422

[1992] 1992 (3) एस०सी०सी० 251 :
पूलपंदी और अन्य बनाम अधीक्षक केन्द्रीय उत्पाद शुल्क और अन्य; 235

[1992] 1992 (2) एस०सी०सी० 428 :
श्री कुमार पद्म प्रसाद बनाम भारत संघ और अन्य; 339

[1992] 1992 सप्ली० (1) एस०सी०सी० 335 :
हरियाणा राज्य बनाम भजन लाल; 486

[1992] 1992 (4) एस०सी०सी० 662 :
परस राम बनाम हरियाणा राज्य; 486

[1992] 1992 क्रि०एल०जे० 394 :
रफीक आबिद पटेल बनाम पुलिस निरीक्षक, थाणे ; 382

[1992] 1992 (1) एस०सी०सी० 225 :
अब्दुल रहमान अंतुले बनाम आर०एस० नायक ; 94

[1991] 1991 (3) एस०सी०सी० 141 :
मणि नारीमन दारूवाला बनाम फिरोज एन० भटेना और अन्य ; 387

[1991] 1991 (1) एस०सी०सी० 705 :
स्वापक नियंत्रण ब्यूरो बनाम किशनलाल ; 387, 486

[1990] 1990 (4) एस०सी०सी० 76 :
निरंजन सिंह के०एस० पंजाबी बनाम जितेन्द्र भीमराज बिज्जा ; 161

[1990] 1990 (1) एस०सी०सी० 397 :
महाराष्ट्र राज्य बनाम आनंद चिंतामणि दीघे ; 381

[1989] 1989 सप्ली० (1) एस०सी० आर० 623 :
सिंथैटिक्स एण्ड केमिकल्स लिमिटेड बनाम उत्तर प्रदेश राज्य ; 61

[1989] (1989) सप्ली० (1) एस०सी०आर० 692 :
इण्डिया सीमेंट लिमिटेड बनाम **तमिलनाडु राज्य;** 61

[1988] 1988 (2) एस०सी०सी० 764 :
ए० आर० अंतुले बनाम **भारत संघ ;** 153

[1988] [1988] 4 उम०नि०प० 467=1988 (2) एस०सी०सी० 271 :
उस्मान भाई दाउद भाई मेमन बनाम **गुजरात राज्य ;** 161, 372, 375, 376, 383

[1988] ए०आई०आर० 1988 पंजाब-हरियाणा 95 (पृ० 102) :
विमल कौर बनाम **भारत संघ ;** 189, 291, 299, 313, 354, 368, 378

[1987] ए०आई०आर० 1987 पंजाब-हरियाणा 5 :
सुखदेव सिंह बनाम **संघ राज्य क्षेत्र, चण्डीगढ़ ;** 33

[1987] ए०आई०आर० 1987 इलाहाबाद 235 (पूर्ण न्यायपीठ) :
अशोक कुमार दीक्षित बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य ;** 49

[1985] 1985 (4) एस०सी०सी० 252 :
सत्यवीर सिंह बनाम **भारत संघ ;** 192

[1985] 1985 सप्ली० (1) एस०सी०आर० 750 :
खंडेलवाल मेटल वर्क्स बनाम **भारत संघ ;** 61

[1985] [1985] 2 उम० नि० प० 1206=(1985) सप्ली० (1) एस०सी०आर० 493 :
लक्ष्मीचरण सेन बनाम **ए०के०एम० हसन उज्जमा ;** 462

[1985] [1986] 1 उम०नि०प० 269=1985 (2) सप्ली० एस०सी०आर० 51 :
ओल्गा टेलिस और अन्य बनाम **मुम्बई नगर निगम ;** 215

[1985] (1985)2 ए०पी०एच०जे 361 :
वी० एम० रंगाराव बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य ;** 428

[1983] 1983 (1) एस०सी०आर० 729 :
एस०पी० मित्तल बनाम **भारत संघ ;** 61

[1983] (1983)(2) एस०सी०सी० 104 :
करदा पहाड़िया बनाम **बिहार राज्य ;** 94

[1983] [1984] 1 उम०नि०प० 406=1983 (4) एस०सी०सी० 566 :
मो० युनुस बनाम **मो० मुस्तकिम और अन्य ;** 387, 486

[1983]	[1983] 2 उम०नि०प० 1243=ए०आई०आर 1983 एस०सी० 378 : **शीला बारसे बनाम महाराष्ट्र राज्य ;**	426
[1983]	[1983] 2 उम०नि०प० 1256=1983 (2) एस०सी०सी० 348 : **टी०वी० वतीश्वरण बनाम तमिलनाडु राज्य ;**	94
[1982]	1982 (2) एस०सी०आर 272 : **ए०के० राय और अन्य बनाम भारत संघ और एक अन्य ;**	123, 246
[1982]	[1982] 1 उम०नि०प० 1197=1981 (3)एस०सी०आर० 474 : **गोकराजू रंगराजू बनाम आंध्र प्रदेश राज्य ;**	454
[1981]	[1981] 4 उम०नि०प० 1133=1981 (2) एस०सी०आर० 516 : **फ्रांसिस कोराली मुल्लिन बनाम प्रशासक, दिल्ली राज्य क्षेत्र;**	215, 475
[1981]	[1981]1 उम०नि०प० 37=ए०आई०आर० 1981 एस०सी० 379 : **बालकिशन बनाम महाराष्ट्र राज्य ;**	235
[1981]	[1982] 2 उम०नि०प० 660=1981 (3) एस० सी० सी० 466 : **संतोषी तेल उत्पादक केंद्र बनाम उपायुक्त विक्रय कर ;**	460
[1981]	[1981] 1 उम०नि०प० 1231=1980 (3) एस०सी० आर० 383 : **गुरुबक्श सिंह सिब्बिया और अन्य बनाम पंजाब राज्य ;**	353
[1980]	1980 (3) एस०सी०आर० 1338 : **कस्तूरीलाल लक्ष्मी रेड्डी बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य ;**	215
[1980]	1980 (2) एस०सी०आर० 913 : **जॉली जॉर्ज वर्गीज बनाम बैंक ऑफ कोचीन ;**	215
[1980]	[1980] 4 उम०नि०प० 1094=1980 (2) एस०सी० आर० 557 : **सुनील बत्रा (द्वितीय) बनाम दिल्ली प्रशासन ;**	215, 426
[1980]	[1980]2 उम०नि०प० 743=1980 (1) एस०सी०आर० 81 : **हुसैन आरा खातून (द्वितीय) बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य, पटना ;**	93, 215

[1980]	[1980] 1 उम०नि०प० 591=1979 (2) एस०सी०आर० 1085 : सीताराम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य ;'	215
[1980]	[1981] 2उम०नि०प० 1=ए०आई०आर० 1980 एस०सी० 1382 : राज्य (दिल्ली प्रशासन) बनाम वी०सी० शुक्ल ;	316
[1979]	[1979] 1उम०नि०प० 243=1978 (2) एस०सी०आर० 621 : मेनका गांधी बनाम भारत संघ ;	215
[1979]	1979 (1) एस०सी०आर० 192 : एम०एच० होस्टक बनाम महाराष्ट्र राज्य ;	215
[1979]	[1979] 3उम०नि०प० 407=1979 (1) एस०सी०आर० 392 : सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन ;	94, 215, 475
[1979]	1979 (3) एस०सी०आर० 532 : हुसैन आरा खातून बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य, पटना ;	215
[1979]	1979 (2) एस०सी०आर० 476 : विशेष न्यायालय विधेयक वाला मामला ;	182, 242
[1979]	[1979] 2 उम०नि०प० 380=1978 (2) एस०सी०सी० 424 : नन्दिनी सतपथी बनाम पी० एल० दानी और एक अन्य ;	227, 425
[1978]	ए०आई०आर० 1978 एस० सी० 1675=[1979] 3 उम० नि०प० 407 : सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन ;	426
[1978]	1978 (2) एस०सी०आर० 371 : गुडिकांति बनाम लोक अभियोजक ;	367, 369
[1977]	1977 (2) एस०सी०आर० 611 : श्रद्धेय स्टेनस्लॉस बनाम मध्य प्रदेश राज्य ;	49
[1977]	[1977] 4 उम०नि०प० 752=1977 (2) एस०सी०सी० 52 : बालचन्द जैन बनाम मध्य प्रदेश राज्य ;	374, 375
[1976]	[1976] 3उम०नि०प० 1=ए०आई०आर० 1976 एस०सी० 1207 : अपर जिला मजिस्ट्रेट, जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ल;	477

[1976] 1976 (1) एस०सी०आर 552 :
केरल राज्य विद्युत बोर्ड बनाम इंडियन एल्यूमिनियम कंपनी ; 54

[1975] आई०एल०आर० 1975 एच०पी० 569 :
ईश्वरचन्द बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य ; 375

[1975] [1975] 1उम०नि०प० 452=ए०आई०आर० 1974 एस० सी० 2136 :
उत्तर प्रदेश राज्य बनाम दुर्गा प्रसाद ; 235

[1974] [1974] 2उम०नि०प० 42=1974 (2) एस०सी०आर० 348 :
रायप्पा ई०पी० बनाम तमिलनाडु राज्य; 215

[1973] 1973 (1) एस०सी०सी० 805 :
हीरानाथ मिश्र बनाम राजेन्द्र मेडिकल कालेज, रांची और एक अन्य; 298, 307

[1973] [1973] 3 उम०नि०प० 669=1973 (2) एस०सी०सी० 372 :
इन्दर सेन बनाम पंजाब राज्य; 121, 127

[1972] [1972]3 उम० नि० प० 189=ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 2284-2285 :
नारायणस्वामी एस० बनाम जी० पन्नेर्सेल्वम् ; 124

[1972] 1972(2) एस० सी० आर० 33-61 और 67-68 :
भारत संघ बनाम एच० एस० ढिल्लों ; 61, 65

[1972] 1972(3) एस० सी० आर० 881 :
जम्मू-कश्मीर राज्य बनाम एम० एस० फारूकी ; 65

[1972] [1972]2 उम० नि० प० 155=1972(2) एस० सी० आर० 845 :
जगदीश प्रसाद बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य ; 109

[1972] [1972] 2 उम० नि० प० 86=1972(1) एस० सी० आर० 898 :
अहमदाबाद मैन्युफैक्चरिंग एण्ड केलिको प्रिंटिंग कंपनी लिमिटेड बनाम रामटहल रामानंद ; 387

[1972] 1972 मद्रास लॉ वीकली (क्रि०) 261 :
एकम्बरम् बनाम तमिलनाडु राज्य ; 235

[1970] 1970(3) एस० सी० आर० 288 :
अरुण घोष बनाम पश्चिम बंगाल राज्य ; 72

1994(3) eILR(PAT) SC 1

[1970] 1970(1) एस० सी० आर० 457 :
ए० के० क्रैपक और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य ; 188

[1970] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 898 :
त्रिलोक चंद मोदी चंद बनाम एच० बी० मुंशी, आयुक्त (विक्रय-कर) मुम्बई; 461

[1970] [1970]2 उम० नि० प० 460=ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1453 :
हरकचंद रतनचंद बांथिया बनाम भारत संघ ; 472

[1969] [1969]2 उम० नि० प० 401=1969(2) एस० सी० आर० 461 :
रमेशचन्द्र मेहता बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य ; 235

[1969] 1969(2) एस० सी० सी० 400 :
उत्तर प्रदेश राज्य विद्युत प्रदाय कंपनी बनाम आर० के० शुक्ल ; 361

[1968] 1968(3) एस० सी० आर० 592 :
गुजरात राज्य और अन्य बनाम वक्तसिंह जी बघेला और अन्य; 387, 486

[1968] [1968]2 उम० नि० प० 330=1968(3) एस० सी० आर० 614 :
स्टेट्समैन (प्रा०) लिमिटेड बनाम एच० आर० देब और अन्य ; 337

[1967] 1967(1) एस० सी० आर० 77 :
चन्द्रमोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य; 341

[1967] 1967(2) एस० सी० आर० 635 :
उड़ीसा राज्य बनाम डा० (कुमारी) वीणा पाणी देवी और अन्य ; 188

[1966] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 346 :
साउथ एशिया इण्डस्ट्रीज (प्रा० लि०) बनाम एस० स्वरूप सिंह ; 124

[1966] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 43 :
नत्थूलाल बनाम मध्य प्रदेश राज्य; 109, 130

[1966] 1966(1) एस० सी० आर० 709 :
डा० राम मनोहर लोहिया बनाम बिहार राज्य ; 69,78,474

[1965] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 722=1965(1) एस० सी० आर० 123 :
महाराष्ट्र राज्य बनाम मेयर हैंस जॉर्ज ; 109, 128

[1964] 1964(6) एस० सी० आर० 623 :
हरिचरण कुर्मी और जोगिया हजाम बनाम बिहार राज्य ; 213

[1964] 1964(1) एस० सी० आर० 332 :
खड्ग सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य; 475

[1964] ए० आई० आर० 1964 मद्रास 185 :
सुब्रह्मण्यम् बनाम पुलिस आयुक्त ; 329

[1963] 1963(3) एस० सी० आर० 324 :
सरजू प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य; 131

[1962] ए० आई० आर० 1962 (जिल्द 49) बाम्बे 243 :
राज्य बनाम अब्दुल अजीज : 132

[1962] (1962) सप्ली० (3) एस० सी० आर० 866 :
पुखराज बनाम डी० आर० कोहली ; 109

[1962] 1962(3) एस० सी० आर० 786 :
सीमा-शुल्क कलक्टर बनाम चेट्टी ; 109

[1962] 1962(3) एस० सी० आर० 10 :
बाम्बे राज्य बनाम काठी कालू ओगढ़ ; 227, 425

[1961] 1961(3) एस० सी० आर० 324 :
सरजू प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य ; 109

[1961] 1961(1) एस० सी० आर० 417 :
राजा नारायण लाल बंसी लाल बनाम मानेक ; 227

[1960] 1960(2) एस० सी० आर० 821 :
अधीक्षक, केंद्रीय कारागार बनाम डा० लोहिया ; 54

[1960] 1960(2) एस० सी० आर० 646-651 :
कांगसारी हलधर बनाम पश्चिम बंगाल राज्य ; 246

[1959] 1959 एस० सी० आर० 279 :
रामकृष्ण डालमिया बनाम न्यायमूर्ति तेंदुलकर ; 242

[1959] ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 1012 :
तहसीलदार सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य ; 413

[1959] (1959) सप्ली०(1) एस० सी० आर० 213 :
डा० वाई० एस० परमार बनाम श्री हीरा सिंह पाल ; 109

[1958] 1958 एस० सी० आर० 1226-1232 :
तालिब हाजी हुसैन बनाम मधुकर पी० मोंडकर ; 246

[1957] 1957 एस० सी० आर० 874-927 :
स्टेट ऑफ बाम्बे बनाम आर० एम० डी० चमार बोगवाला ; 246

[1957] 1957 एस० सी० आर० 233 :
पन्ना लाल बिंगराज बनाम भारत संघ ; 246

[1957] ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 381 :
रामचंद्र बनाम उत्तर प्रदेश राज्य ; 416

[1957] ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 637 :
स्वर्ण सिंह बनाम पंजाब राज्य ; 419

[1955]	ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 549 : राम जवाया बनाम पंजाब राज्य ;	342
[1954]	1954 एस० सी० आर० 1077 : एम० पी० शर्मा और अन्य बनाम सतीश चन्द्र, जिला मजिस्ट्रेट दिल्ली और अन्य ;	227
[1954]	1954 एस० सी० आर० 30, 38-43 : केदारनाथ बजोरिया बनाम पश्चिम बंगाल राज्य ;	246
[1954]	1954 एस० सी० आर० 565 : वरयाम सिंह और एक अन्य बनाम अमर नाथ और एक अन्य ;	387, 486
[1953]	1953 एस० सी० आर० 589 : सैयद कासिम रिजवी बनाम हैदराबाद राज्य ;	316
[1953]	1953 एस० सी० आर० 94-104 : पर्लविंदर कौर बनाम पंजाब राज्य ;	412
[1952]	1952 एस० सी० आर० 737 : गुरूवचन सिंह बनाम बॉम्बे राज्य और एक अन्य ;	218, 306
[1952]	1952 एस० सी० आर० 435 : काठी रेनिंग रावत बनाम सौराष्ट्र राज्य ;	246
[1952]	1952 एस० सी० आर० 284 : पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार ;	153, 423
[1952]	1952 एस० सी० आर० 737-743 : गुरूबचन सिंह बनाम बॉम्बे राज्य ;	298
[1951]	ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 318-326 : स्टेट ऑफ बॉम्बे बनाम एफ० एन० बलसारा ;	256
[1951]	1951 एस० सी० आर० 322 : हरिप्रसाद राव बनाम राज्य ;	131
[1950]	1950 एस० सी० आर० 869 : चिरंजीत लाल बनाम भारत संघ ;	242, 256
[1950]	ए० आई० आर० 1950 एस० सी० 59 : लखी नारायण दास बनाम बिहार प्रान्त ;	49, 68
[1950]	(1950) एस० सी० आर० 594 : रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य ;	49, 54, 68, 474
[1950]	(1950) एस० सी० आर० 519 : डा० एन० बी० खरे बनाम दिल्ली राज्य ;	246
[1950]	1950 एस० सी० आर० 15 : रामकृष्ण रामनाथ अग्रवाल बनाम सचिव, नगरपालिका समिति;	54

[1949] ए० आई० आर० 1949 प्रिवी कौंसिल 257 :
भवानी साहू बनाम सम्राट ; 213
[1947] ए० आई० आर० 1947 प्रिवी कौंसिल 60 :
प्रफुल्ल कुमार मुखर्जी और अन्य बनाम बैंक ऑफ कॉमर्स ; 54, 63
[1947] ए० आई० आर० 1947 प्रिवी कौंसिल 135 :
श्रीनिवास मल बनाम सम्राट ; 131
[1945] ए० आई० आर० 1945 प्रिवी कौंसिल 98 :
गवर्नर जनरल इन कौंसिल बनाम प्रोविन्स ऑफ मद्रास ; 65
[1940] 1940 एफ० सी० आर० 188 :
सुब्रह्मण्यम् चेट्टियार बनाम मुत्तूस्वामी गाउदन ; 63
[1939] ए० आई० आर० 1939 पी० सी० 253 :
नजीर अहमद बनाम किंग-एम्परर; 416
[1939] ए० आई० आर० 1939 एस० सी० 1 :
द सेंट्रल प्रोविन्सेज एण्ड बेरार ऐक्ट, 1938 (1938 का 14); 65
[1913] 1913 आई० एल० आर० 54 मद्रास 75-77 :
पेरिस्वामी नूपन वाला मामला । 213

महत्वपूर्ण विदेशी निर्णय

[1988] (486) यू० एस० 675, 1988 :
ऐरिजोना बनाम राबर्टसन ; 434
[1982] 73 एल० ए० डी० सेकेंड 598=458 यू० एस० 50 1982 :
नार्दर्न पाइप लाइन कंस्ट्रक्शन कंपनी बनाम मैराथन पाइप लाइन कंपनी एण्ड यूनाइटेड स्टेट्स ; 446
[1981] 451 यू० एस० 477 (1981) :
एडवर्ड बनाम एरिजोना ; 434
[1980] 445 यू० एस० 360=63 लायर्स एडीशन सेकेंड 454 (1980) :
यूनाइटेड स्टेट्स बनाम एडगर एच० हिलक ; 463
[1979] 1979(2) आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 592 :
इंपीरियल टोबाको लिमिटेड बनाम अटर्नी जनरल ; 459
[1977] 435 यू० एस० 850 (1977) :
यूनाइटेड स्टेट्स बनाम मेकडोनाल्ड ; 98
[1977] 1977(3) आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 70 :
गॉरिएट बनाम यूनियन ऑफ पोस्ट आफिस वर्क्स और अन्य ; 207
[1975] 1975(2) आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 900 :
आर० बनाम केन आर० बनाम शॉलिफ ; 206

[1975] 420 यू० एस० 592=43 लायर्स एडीशन सेकेंड 482 (1975):
लारेंस एस० हफमैन आदि बनाम पर्स्यू लिमिटेड ; 463

[1973] 412 यू० एस० 434 (1973):
स्ट्रंक बनाम यूनाइटेड स्टेट्स ; 98

[1971] 401 यू० एस० 37=27 लायर्स एडीशन सेकेंड 669 :
लारेंस एस० हफमैन आदि बनाम एवेले जे० यंगर बनाम जोन हैरिस ; 463

[1967] 1967(2) क्यू० बी० 617, 630 :
एच० के० (अवयस्क बालक वाला मामला) ; 188

[1965] 14 लायर्स एडीशन सेकेंड 601=381 यू० एस० 618 (1965):
विक्टर सिंकलेटर बनाम विक्टर जी० वाकर ; 450

[1958] 1958(2) ऑल ई० आर० 579 :
बायरन बनाम किनेमाटोग्राफ रेन्टर्स सोसाइटी लिमिटेड ; 298

[1949] 1949(1) ऑल ई० आर० 109 :
रसैल बनाम ड्यूक ऑफ नारफॉल्क ; 298

[1948] 1948(93) लॉ संस्करण 163 (ई) :
गॉर्स्ट बनाम क्लैरी ; 252

[1948] 1948(93) लॉ संस्करण 533 (एफ) :
रेलवे एक्सप्रेस एजेन्सी बनाम न्यूयार्क ; 253

[1945] 1945(90) लॉ संस्करण 6, पृष्ठ 13 :
एस्बरी हास्पिटल बनाम केसेज काउण्टी ; 251

[1911] (1911)1 चांसरी डिवीजन 731 :
कोनोली ब्रदर्स लिमिटेड वुड बनाम कोनोली ब्रदर्स लिमिटेड ; 458

[1905] 198 यू० एस० 77, 87 (1905) :
बीवर्स बनाम हॉबर्ट ; 97

[1877] (1877)94 यू० एस० 113 :
मुन बनाम इलिनाइस ; 475

[1873] एल० आर० (1873)8 सी० पी० 322 :
निकोलस बनाम हाल ; 127

354 यू० एस० 449 :
एंड्रू आर० मेलोरी बनाम संयुक्त राज्य अमरीका ; 429

62 टी० एल० आर० 462 :
ब्राण्ड बनाम वुड ; 127

16 एल० एडी० सेकेंड यू० एस० 436 :
अर्नेस्टो ए० मिरांडा बनाम स्टेट ऑफ एरीजोना ; 433, 450

339 यू० एस० 200=94 लायर्स एडीशन 79 (1449) :
पेटे डर बनाम सी० पी० बरफोर्ड ; 463

1 वी 918 :
शैरास बनाम डे स्टजेन ; 127

16 लायर्स एडीशन सेकेंड 882=384 यू० एस० 719 :
सिलवेस्टर जान्सन बनाम स्टेट आफ न्यू जर्सी ; 450

378 यू० एस० 1=12 एल० एडी० सेकेंड 653 :
विलियम मैलाय बनाम पैट्रिक जे० होगन ; 431

378 यू० एस० 52=12 एल० एडी० सेकेंड 678 :
विलियम मर्फी बनाम वाटरफ्रंड आफ न्यूयार्क हार्बर ; 432

377 यू० एस० 201=12 एल० एडी० 246 :
विंस्टन मसीहा बनाम संयुक्त राज्य अमरीका । 430

निर्दिष्ट ग्रंथ

बलैक्स लॉ डिक्शनरी (छठा संस्करण) पृष्ठ 1400 ; 90

सी० जी० वीरामेण्ट्री कृत—

"द लॉ इन क्राइसिस—ब्रिजेज ऑफ अण्डरस्टैण्डिग" ; 43

कोलिन्स इंगलिश डिक्शनरी ; 119

कॉरपस ज्यूरिस सेकेंडम जिल्द 1, पृष्ठ 306 ; 113

प्रो० विलिस कृत—सांविधानिक विधि
(प्रथम संस्करण, पृष्ठ 578) ; 257

सामंड कृत—"ज्यूरिसप्रूडेंस" (विधिशास्त्र)
(11वां संस्करण पृष्ठ 152) । 124

आरंभिक/अपीली अधिकारिता : 1984 की रिट याचिका सं० 1833.

[इसके साथ ही रिट याचिका (दांडिक) सं० 5/85, 407/87, 317/87, 358/86, 1427/81, 15432/84, 194/89, 144/92, 697/86, 123/91, 562/87, 1175/91, 167-73/92, 131-35/92, 7619/81, 1682/81 दांडिक अपील सं० 547/85, 314/86, 90/91,753/85, 266/85, 481/85, 537/89, 447/85, 552/89, 502/89, 364/85, 139/92, 579/85, 279/86, 645/91, 717/85, 556/84, 595/91, 676/89, 541/91, 466/85, 262/85, 720/85, 172/92, 76-77/88, 630/87, (530/87 सहित) और विशेष इजाजत याचिका (सिविल) सं० 10766/87 तथा रिट याचिका (दांडिक) सं० 194/89, 5883/80, 555-61/82, 532/82, 76619/82, 1682/81, 1005/84, 76/82, 77/82, 1109/85, 1110/85, 551/85, 1241/82, 2502/81, 6815/81, 616/82, 117/86, 717-19/85, 549/85, 550/85, 1034-35/82, 1034-35/82, 12/82, 13/82, 1427/81, 1008/85, 1658-80/81, 548-50/89, 507/89, 67/89, 232/90, 331/85, 500/92, 539-41/87]

याचियों/अपीलार्थियों की ओर से — सर्वश्री वी० एम० तारकुण्डे, राम जेठमलानी, एम० एस० गुजराल, राजिन्दर सच्चर, हरदेव सिंह, एम० आर० शर्मा, ए० के० सेन, बलवंत सिंह, आर० एस० सोढ़ी, एस० बिसारिया, डी० वी० वोहरा, के० राजेन्द्र चौधरी, ए० के० श्रीवास्तव, शिवपूजन सिंह, उज्जवल सिंह और मोहन पाण्डेय

प्रत्यर्थी की ओर से — सर्वश्री के० टी० एस० तुलसी (अपर महा-सालिसिटर), आर० एम० सूरी, अल्ताफ अहमद (अपर महासालिसिटर), सुश्री ए० सुभाषिणी, सर्वश्री वी० आर० रेड्डी (अपर महासालिसिटर), के० वी० वेंकट रामन, आई० सुब्रह्मण्यम, एस० के ढोलकिया और एन० एम० घटाटे

न्यायालय (बहुमत) का निर्णय न्यायमूर्ति एस० रत्नवेल पांडियन ने दिया ।

न्या० पांडियन—उपर्युक्त मामले जिनमें अनेक रिट याचिकाएं, दांडिक अपीलें और विशेष इजाजत याचिकाएं सम्मिलित हैं और जिनमें आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय अधिनियम 1984 का सं० 61), आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1985 (1985 का सं० 31) तथा आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (सं०28/87) जिन्हें सामान्यत: "टाडा" अधिनियम कहा जाता है (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् क्रमश: 1984 का अधिनियम, 1985 का अधिनियम और 1987 का अधिनियम कहा गया है) और दंड प्रक्रिया संहिता (उत्तर प्रदेश संशोधन) अधिनियम, 1976 (1976 का अधिनियम सं० 16) जिसके द्वारा उत्तर प्रदेश विधानसभा ने उत्तर प्रदेश राज्य को लागू होने वाली दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 को निकाल दिया की धारा 9 की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी गई की शक्तिमत्ता को आक्षेपित किया गया है । यद्यपि मूलत: विभिन्न अधिनियमों यथा उत्तर प्रदेश गिरोहबंद और समाजविरोधी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1986 (1986 का अधिनियम सं० 7), स्वापक औषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अवैध व्यापार निवारण अधिनियम, 1988 के अधीन आने वाले कुछ मामले और विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी (निवारण अधिनियम, 1974 ("कोफेपोसा") के कुछ उपबंध सुनवाई के लिए सूचीबद्ध किए गए थे, तथापि हमने 1984 के अधिनियम, 1985 के अधिनियम और 1987 के अधिनियम और 1976 के उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 16 से संबंधित मामलों की ही पूर्णत: और निश्चायक रूप से सुनवाई की है ।

2. अत:, अब हम इन तीनों अधिनियमों और 1976 के उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 16 की धारा 9 की शक्तिमत्ता से संबंधित एक ही निर्णय सुना रहे हैं । साथ ही हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इन तीनों अधिनियमों की विधिमान्यता का विनिश्चय हो जाने के पश्चात् प्रत्येक मामले का गुणागुण के आधार पर अलग से विनिश्चय किया जाएगा ।

3. इन तीनों अधिनियमों की विधिमान्यता के प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हम यह महसूस करते हैं कि तीनों सुसंगत अधिनियमों का तथ्यपरक और संरचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाए और विवेचना का संक्षिप्त विवरण दिया जाए।

तीनों अधिनियमों का प्रारंभिक टिप्पण

(क) आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम 1984 (1984 का 61)

4. 1984 के उपर्युक्त अधिनियम सं० 61 जो कि जम्मू-कश्मीर राज्य को छोड़कर संपूर्ण भारत को लागू होता है, को तारीख 31 अगस्त, 1984 को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई और इसने तारीख 14 जुलाई, 1984 को प्रख्यापित 1984 के अध्यादेश सं० 9 को प्रतिस्थापित किया। इसका उद्देश्य आतंकवादी क्षेत्रों में कतिपय अपराधों और इनसे संबंधित मामलों के त्वरित विचारण के लिए उपबंध करना है। इस अधिनियम की धारा 2 (1) में परिभाषित "आतंकवादी क्षेत्र" अभिव्यक्ति से ऐसा क्षेत्र अभिप्रेत है जिसे धारा 3 के अधीन "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित किया गया है। इस उपबंध में केन्द्रीय सरकार को अधिसूचना द्वारा किसी भी क्षेत्र को "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित करने और ऐसे क्षेत्र को एकल न्यायिक परिक्षेत्र में या ऐसे बहुत से न्यायिक परिक्षेत्रों में गठित करने के लिए सशक्त बनाया गया है जो वह उपयुक्त समझे परन्तु यह तब जबकि उसकी राय में इस अधिनियम में दी गई अनुसूची में विनिर्दिष्ट प्रकृति के अपराध आतंकवादियों द्वारा किसी क्षेत्र में इतने अधिक और ऐसी रीति में किए जा रहे हैं कि ऐसे आतंकवादियों से निपटने के प्रयोजनार्थ इस अधिनियम के उपबंधों का अनुसरण किया जाना समीचीन है। ऐसे क्षेत्र की बाबत धारा 3 (1) के अधीन जारी की गई अधिसूचना में उस अवधि को विनिर्दिष्ट किया जाना चाहिए जिसके दौरान वह क्षेत्र इस अधिनियम के प्रयोजनार्थ आतंकवादी क्षेत्र होगा और जहां केन्द्रीय सरकार की यह राय है कि आतंकवादी उस क्षेत्र में अधिसूचना जारी किए जाने की तारीख से पहले से ही अनुसूची में विनिर्दिष्ट प्रकृति के अपराध इतने अधिक और ऐसी रीति में कर रहे हैं कि अधिसूचना में विनिर्दिष्ट अवधि इस पूर्ववर्ती तारीख से प्रारंभ करना समीचीन है और अधिसूचना में विनिर्दिष्ट यह अवधि इसके परन्तुक के अध्यधीन इस तारीख से प्रारंभ होगी।

5. इस अधिनियम में विशेष न्यायालयों के स्थापन, गठन, अधिकारिता और न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित 21 धाराएं हैं और तथ्य तथा विधि दोनों से संबंधित किसी विशेष न्यायालय के किसी निर्णय, दंडादेश या आदेश (जो कि अंतर्वर्ती आदेश नहीं है) से उच्चतम न्यायालय में अपील के अधिकार का उपबंध है।

6. यद्यपि इस अधिनियम की मूल अनुसूची में अर्थात् "अनुसूचित अपराध" अभिव्यक्ति की परिभाषा [दृष्टव्य धारा 2 (i) (च)] भारतीय दंड संहिता की धारा 58 में सम्मिलित विभिन्न अधिनियमितियां जिनमें से 23 जमानतीय हैं विनिर्दिष्ट थीं, विधानमण्डल ने 1985 के संशोधन अधिनियम सं० 45 द्वारा तारीख 26 अगस्त, 1985 के भारत के राजपत्र में प्रकाशित भारतीय दंड संहिता की केवल धारा 121, 121-क, 122 और 123 तथा यान-हरण निवारण अधिनियम, 1982 की धारा 4 और 5 बनाए रखीं तथा मूल अनुसूची से शेष को निकाल दिया।

7. विद्वान अपर महासालिसिटर श्री के०टी०एस० तुलसी द्वारा हमारे ध्यान में यह बात लाई गई कि केन्द्रीय सरकार ने जालंधर, पटियाला, फिरोजपुर और चण्डीगढ़ में न्यायिक परिक्षेत्र स्थापित किए तथापि तारीख 25 सितंबर, 1985 की अधिसूचना सं० एस० ओ० 692, एस० ओ० 693, एस० ओ० 694 और एस० ओ० 695 द्वारा समाप्त कर दिया और इन न्यायालयों के समक्ष लंबित मामलों को साधारण न्यायालयों को अंतरित कर दिया। भारत सरकार द्वारा अजमेर तथा जोधपुर में यान-हरण मामलों और स्वर्ण मंदिर मामले के विचारण के लिए दो अतिरिक्त न्यायालय गठित किए गए किंतु इन दोनों न्यायालयों को भी क्रमश: तारीख 24 अगस्त, 1990 और 28 सितंबर, 1993 की अधिसूचना सं० एस०ओ० 655(ई) और एस० ओ० 722(ई) द्वारा समाप्त कर दिया गया। तथापि इस अधिनियम को निरसित नहीं किया गया और यह प्रवर्तन में है।

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनयम, 1985 (1985 का अधिनियम सं० 31)

8. इस अधिनियम को तारीख 23 मार्च, 1985 को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई और इसे भारत के राजपत्र, अतिरिक्त, भाग-2, अनुभाग-1 में तारीख 23 मई, 1985 को प्रकाशित किया गया और यह तारीख 24 मई, 1985 को दो वर्ष की अवधि के लिए संपूर्ण भारत में प्रवर्तन में आया। यद्यपि मूलत: धारा 1 की उपधारा (2) में परंतुक जोड़ा गया जो इस प्रकार है "परन्तु यह अधिनियम जहां तक इसका आतंकवादी कार्यों से संबंध है जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू नहीं होगा।" इस परंतुक का 1985 के अधिनियम सं० 46 द्वारा लोप कर दिया गया। इस अधिनियम के उपबंध तारीख 5 जून, 1985 से जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू कर दिए गए। इस अधिनियम की प्रस्तावना इस प्रकार है कि इस अधिनियम में "आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलापों के निवारण के लिए और उनसे निपटने के लिए तथा उनसे संबंधित या उनके आनुषंगिक विषयों के लिए" विशेष उपबंध किए गए हैं। इस अधिनियम के उद्देश्य और कारणों का कथन इस प्रकार है—

> " **प्रारंभिक टिप्पण, उद्देश्य और कारणों का कथन**—आतंकवादी अधिकांशत: पंजाब और चण्डीगढ़ में अनियंत्रित रूप में हत्याएं, आगजनी, संपत्ति की लूट और अन्य जघन्य अपराध कर रहे हैं। तारीख 10 मई, 1985 से आतंकवादियों ने अपने क्रियाकलापों को देश के अन्य भागों अर्थात् दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में भी फैला दिया है जिसके परिणामस्वरूप अनेक निर्दोष लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा है और बहुत से लोग गंभीर रूप में क्षतिग्रस्त हुए हैं। आतंकवादियों का उद्देश्य रेलगाड़ियों, बसों और लोक स्थानों में विस्फोटक सामग्री रखकर नागरिकों के मस्तिष्क में भय और संत्रास उत्पन्न करना और साम्प्रदायिक शांति और समन्वय से खिलवाड़ करना है। आतंक का यह एक नया और प्रत्यक्ष रूप है जिसके प्रति पूर्ण रूप से सतर्क रहने की आवश्यकता है और इससे शीघ्रातिशीघ्र कड़ाई से निपटा जाना चाहिए। विध्वंसक क्रियाकलापों में होने वाली आश्चर्यजनक वृद्धि भी चिंता का विषय है।"

9. पेश किए गए विधेयक से, अन्य बातों के साथ-साथ, आतंकवादियों और विध्वंसकारियों के खतरे से निपटने के उपबंध करना ईप्सित है।

1994(3) eILR(PAT) SC 1

(क) आतंकवादी कार्यों और विध्वंसक क्रियाकलापों के लिए भयोपरापी दंड का उपबंध ;

(ख) केन्द्रीय सरकार को ऐसे नियम बनाने की जो आतंकवादी कार्यों और विध्वंसक क्रियाकलापों के निवारण के लिए और उनसे निपटने के लिए आवश्यक या समीचीन हैं, पर्याप्त शक्ति प्रदान करना ; और

(ग) प्रस्थापित विधान के अधीन अपराधों के त्वरित और शीघ्र विचारण के लिए अभिहित न्यायालयों के गठन के लिए उपबंध करना ।

10. धारा 2 के खण्ड (ग) और (च) में "विध्वंसक क्रियाकलाप" और "आतंकवादी कार्य" अभिव्यक्ति परिभाषित हैं । इस अधिनियम में कुल 24 धाराएं हैं जिन्हें चार भागों अर्थात् भाग-1 (धारा 1 से 2), भाग-2 (धारा 3 से 6), भाग-3 (धारा 7 से 16) और भाग-4 (धारा 17 से 24) में विभक्त किया गया है । इन धाराओं में आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलापों के लिए दंड और उनसे निपटने के उपायों, अधिनियम की धारा 7 के अधीन अभिहित न्यायालयों के गठन, उनकी अधिकारिता और शक्ति, अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया, साक्षी पेश किए जाने की प्रक्रिया, लोक अभियोजकों की नियुक्ति का वर्णन है और तथ्य तथा विधि दोनों के आधार पर न्यायालय के किसी निर्णय, दण्डादेश या आदेश जो कि अंतर्वर्ती आदेश नहीं है से अधिकार के रूप में सीधे उच्चतम न्यायालय में अपील का उपबंध (दृष्टव्य धारा 7 से 16) और दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के कतिपय उपबंधों को उपांतरित रूप में लागू किए जाने से संबंधित अन्य प्रकीर्ण उपबंध, केंद्रीय सरकार की राज्य सरकार की शक्तियों का प्रयोग करने और उच्चतम न्यायालय को नियम बनाने की शक्ति/शक्तियां प्रत्यायोजित करने की सक्षमता आदि की बाबत वर्णन है ।

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का अधिनियम सं० 28)

11. 1987 का अधिनियम सं० 28 इसलिए अधिनियमित किया गया क्योंकि 1985 का अधिनियम सं० 31 तारीख 23 मई, 1987 को समाप्त होने वाला था और यह महसूस किया गया कि आतंकवादियों का दृढ़तापूर्वक सामना करने के लिए और उनके विध्वंसक क्रियाकलापों से निपटने के लिए न केवल उक्त विधि को बनाए रखना आवश्यक है अपितु इसे और अधिक सशक्त बनाना भी आवश्यक है । चूंकि संसद् के दोनों सदनों की बैठक नहीं हो रही थी और तत्काल कार्रवाई किया जाना आवश्यक था, राष्ट्रपति ने तारीख 23 मई, 1987 को आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अध्यादेश, 1987 प्रख्यापित किया जो तारीख 24 मई, 1987 को प्रवर्तन में आया । तथापि, अध्यादेश निरसित करने वाले इस अधिनियम को तारीख 3 सितंबर, 1987 को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई और इसे तारीख 3 सितंबर, 1987 के भारत के राजपत्र, अतिरिक्त, भाग-2, अनुभाग-1 में प्रकाशित किया गया । 1985 के अधिनियम सं० 31 और 1987 के अधिनियम सं० 28 की स्कीम जो कि उनकी प्रस्तावनाओं से परिलक्षित है समरूप है । इन दोनों अधिनियमों के विशेष उपबंधों की स्कीम "आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलापों के निवारण के लिए और उनसे निपटने के लिए तथा उनसे संबंधित या उनके आनुषंगिक विषयों के लिए विशेष उपबंध करने के लिए" थी/है ।

1994(3) eILR(PAT) SC 1

12. धारा 1 की उपधारा (1) के अनुसार धारा 5, 15, 21 और 22 तत्काल प्रवर्तन में आईं और इस अधिनियम के शेष उपबंध तारीख 24 मई, 1987 से प्रवर्तन में आए माने गए। धारा 1 की उपधारा (4) के अनुसार यह अधिनियम तारीख 24 मई, 1987 से दो वर्ष की अवधि के लिए प्रवर्तन में रहना था किंतु तदनंतर उपधारा (4) में 1989 के संशोधन अधिनियम 16 द्वारा संशोधन कर दिया गया जिसके द्वारा "दो वर्ष" शब्दों के स्थान पर "चार वर्ष" शब्द प्रतिस्थापित किए गए और इस अधिनियम की विधि-मान्यता दो वर्ष के लिए और बढ़ा दी गई। परिणामतः यह अधिनियम तारीख 23 मई, 1991 को समाप्त होना था। तत्पश्चात् जैसा कि महसूस किया गया कि अधिनियम जारी रखा जाए, राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश प्रख्यापित किया जिसके द्वारा धारा 1 की उपधारा (4) में "चार वर्ष" शब्दों के लिए "छह वर्ष" शब्द प्रतिस्थापित किए गए। तदनंतर, इस अध्यादेश का 1991 के अधिनियम 35 द्वारा निरसन कर दिया गया और इस प्रकार इसकी अवधि 1987 के अधिनियम सं० 28 द्वारा बढ़ा कर छह वर्ष कर दी गई। चूंकि छह वर्ष और आगे बढ़ाए गए अधिनियम की अवधि तारीख 23 मई, 1993 को समाप्त होने वाली थी, 1993 का एक अन्य संशोधन अधिनियम सं० 43 जिसे तारीख 22 मई, 1993 को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई छह वर्ष के बजाय आठ वर्ष के लिए अधिनियम की अवधि बढ़ाने के लिए अधिनियमित किया गया।

13. आनुषंगिकतः, यह कहा जा सकता है कि इस अधिनियम की कुछ धाराओं में कुछ अंतःस्थापन, प्रतिस्थापन और लोप किए गए हैं। इस अधिनियम के चार भागों में 30 धाराएं दी गई हैं अर्थात् भाग-1 (धारा 1 और 2), भाग-2 (धारा 3 से 8), भाग-3 (धारा 9 से 19) और भाग-4 (धारा 20 से 30)। अधिनियम के भाग-2 में आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलापों के लिए दंड और उनसे निपटने के उपायों का वर्णन है। भाग-3 में अभिहित न्यायालयों के गठन, उनकी अधिकारिता, शक्तियों और अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया का वर्णन है। इसमें अन्य अधिनियमों की भांति तथ्य और विधि दोनों के आधार पर उच्चतम न्यायालय में अपील का भी उपबंध है। भाग-4 के अधीन "प्रकीर्ण" शीर्षक के अधीन संहिता के कतिपय उपबंधों को उपांतरित रूप में लागू किए जाने, धारा 3 के अधीन अपराधों से संबंधित उपधारणा, अभियुक्त की पहचान, उच्चतम न्यायालय की नियम बनाने की शक्ति आदि का वर्णन है।

14. हम यहां कुछ उपबंधों जो 1985 और 1987 के अधिनियम के उपबंधों के अनुरूप हैं की सारणी दे रहे हैं।

आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1985		**आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987**
धारा 7	=	धारा 9
धारा 8	=	धारा 10
धारा 9(2)	=	धारा 11(2)
धारा 13	=	धारा 16
धारा 16	=	धारा 19
धारा 17(2)	=	धारा 20(4)
धारा 17(4)	=	धारा 20(7)
धारा 17(5)	=	धारा 20(8)

1994(3) eILR(PAT) SC 1

15. अनेक वरिष्ठ विधिवेत्ता अर्थात् सर्वश्री वी० एम० तारकुंडे, रामजेठमलानी, एम० एस० गुजराल, राजिंदर सच्चर, हरदेवसिंह, एम० आर० शर्मा, ए० के० सेन, बलवंत सिंह और उनके साथ अनेक विधिवेत्ता सर्वश्री आर० एस० सोढ़ी, एस० बिसेरिया, डी० बी० वोहरा, के० राजेन्द्र चौधरी, ए० के० श्रीवास्तव, शिवपूजन सिंह, उज्ज्वल सिंह, मोहन, पांडेय सहायक के रूप में याची/अपीलार्थियों की ओर से उपस्थित हुए और उन्होंने सामान्यत: सभी अधिनियमों और विशिष्टत: इन अधिनियमों के विभिन्न उपबंधों की सांविधानिक विधिमान्यता के विरुद्ध प्रमुखत: इन आधारों पर बहुत ही गंभीर और तीक्ष्ण दलीलें दीं कि (1) केंद्रीय विधान मंडल को विधान अधिनियमित करने की किसी भी प्रकार की सक्षमता नहीं है और (2) इन आक्षेपित अधिनियमों या इन अधिनियमों के कुछ उपबंध संविधान के भाग-3 में विनिर्दिष्ट किसी न किसी मूल अधिकार के उल्लंघन में या प्रत्यक्षत: अतिक्रमण में हैं। उन्होंने अन्य आधारों पर भी इन अधिनियमों के उपबंधों की विधिमान्यता को अनेक प्रकार से आक्षेपित किया। उनके अनुसार इन अधिनियमों और इनके उपबंधों जिनमें लोकोपकारी विधि और सार्वभौम मानव अधिकारों की घोर उपेक्षा और भंग है में न केवल निष्पक्षता का अभाव है अपितु न्याय और ऋजुता जो कि विधि के सुस्थापित और मान्य सिद्धांत हैं की आधारभूत कसौटी का भी अभाव है।

16 गिरफ्तारी, अन्वेषण, जमानत, विचारण की रीति और प्रणाली-विज्ञान, विचारण के दौरान अभियुक्त के अधिकार आदि के विवाद्यक से संबंधित अनेक दांडिक और प्रक्रिया संबंधी उपबंधों की आलोचनात्मक समीक्षा करने के पश्चात् विद्वान काउंसेलों ने यह पुरजोर दलील दी कि ये अभिनियम जिन पर हम विचार कर रहे हैं, क्रूर घृणित, अनिष्टकर और बहुत ही निंदनीय है और इनकी क्रूरता को कम करके नहीं आंका जा सकता या आंकी नहीं जानी चाहिए अथवा इसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती है यद्यपि इस न्यायालय से वास्तविक आतंकवादियों और विध्वंसकारियों के दांडिक आचरण को माफ करने के लिए नहीं कहा गया है। तत्पश्चात् उन्होंने यह गंभीर दलील देते हुए कटु आलोचना की कि पुलिस आक्षेपित अधिनियमों के अधीन अपनी मनमानी और अनियंत्रित शक्ति का प्रयोग और दुरुपयोग करके निर्दोष लोगों को संदेह की दृष्टि से देख रही है और संदिग्ध व्यक्तियों पर वास्तविक अपराधी का ठप्पा लगाकर उनका दिन-रात पीछा कर रही है। इस प्रकार पुलिस उनका निरंतर पीछा करके मनमानी कर रही है और जो बर्बर दमन नाजियों ने यहूदियों के साथ किया था ठीक वैसा ही आतंक आज उसने फैला रखा है।

17. उपर्युक्त आक्षेपों का विद्वान अपर महासालिसिटर श्री के० टी०एस० तुलसी ने खंडन किया जिसके साथ पंजाब राज्य की ओर से श्री आर०एस० सूरी, विद्वान अपर महासालिसिटर श्री अल्ताफ अहमद के साथ भारत संघ की ओर से सुश्री ए० सुभाषिणी, विद्वान अपर महासालिसिटर श्री वी०आर० रेड्डी और उसके साथ तमिलनाडु राज्य की ओर श्री के० वी० वेंकटरामन् और आई० सब्रह्मण्यम, गुजरात राज्य की ओर से श्री एस० के० ढोलकिया और उत्तर प्रदेश राज्य की ओर से श्री एन० एम० घटाटे उपस्थित हुए और उन्होंने यह दलील दी कि अधिनियमों और इनके उपबन्धों की विधिमान्यता को चुनौती देने से संबंधित अस्पष्ट आक्षेप मुख्यत: अधिनियमों के विरुद्ध अनौचित्यपूर्ण विरोध और इनके विरोध में भड़की भावनाओं के कारण हैं। उनके अनुसार विगत की घटनाओं और कुछ मंजे हुए अप-

राधियों द्वारा अपने क्रियाकलापों में वृद्धि करके आतंकवाद और विध्वंस फैलाने की निरंतर दी जा रही धमकी और आशंका को देखते हुए विधानमंडल को राष्ट्रीय मूल्यों को सुरक्षित रखने और आतंकवाद से जूझने के लिए राज्य को विधिक शक्तियां प्रदान करने और विधिक रीति में ऐसे कदम उठाने और उपाय करने के लिए विवश होना पड़ा है और परिणामस्वरूप इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए संसद के दोनों सदनों में लंबी बहस के पश्चात् इन अधिनियमों को अधिनियमित किया गया क्योंकि विधानमंडल ने यह महसूस किया कि साधारण दंड विधि—दांडिक और प्रक्रिया दोनों प्रकार की—इन चुनौतियों का मुकाबला करने में बिल्कुल अपर्याप्त है विशेषकर जब आतंकवादियों की घटनाओं और विध्वंसकारियों के क्रियाकलापों में अप्रत्याशित रूप में वृद्धि हुई है। यह दलील दी गई कि इसी उपर्युक्त पृष्ठभूमि में संसद ने अपनी बुद्धिमत्ता में यह सोचा कि इन अधिनियमों ('टाडा') की अधिनियमिति से ही उन सभी दोषों जिनसे राष्ट्र गस्त है का निराकरण संभव है और तदनुसार आतंकवाद को दबाने के लिए और चहुं ओर व्याप्त खतरे से विधिक रीति में निपटने के लिए इन प्रश्नगत अधिनियमों को अधिनियमित किया और संपूर्ण अधिनियमों की संरचना के व्यापक सर्वेक्षण और निष्पक्ष समीक्षा से निश्चित ही यह दर्शित है कि वास्तव में यह सही है कि इन अधिनियमों से हमारे संविधान में दिए गए किसी मूल अधिकार का किसी प्रकार से उल्लंघन नहीं हो रहा है और न ही इनमें किसी प्रकार की विधायी सक्षमता का दोष है।

18. श्री के०टी०एस० तुलसी द्वारा उपर्युक्त निवेदन के समर्थन में यह पुरजोर दलील दी गई कि आतंकवादी एक विनिर्दिष्ट प्रकार की संक्रियाओं से मिश्रित आतंकवाद को चला रहे हैं जिनमें विभिन्न कारणों से बहुत ही विचित्र प्रकार की अमानवीय रीति में सशस्त्र आक्रमण सम्मिलित है और (i)(क) इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनसे नागरिक इतने भयभीत और असहाय हो जाते हैं कि वे सम्यक् रूप में स्थापित सरकार से सहयोग नहीं कर पाते या सरकार द्वारा उन्हें संरक्षण प्रदान करने में असमर्थ रहने पर उनका उससे विश्वास ही उठ जाता है। आतंकवादियों की इन संक्रियाओं से (ख) सरकार के कर्मियों में अकर्मण्यता का भाव पनपने लगता है अथवा वे इतने भयभीत हो जाते हैं कि आतंकवादी संगठनों का मुखर विरोध नहीं कर पाते हैं तथा (2) आतंकवादियों को संक्रियाओं के कारण राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को भी आघात पहुंचा है क्योंकि विदेशी पूंजी निवेश करने में कतरा रहे हैं और विदेशी पर्यटक भी देश में नहीं आ रहे हैं तथा देशी निवेशकर्ता भी देश से पलायन करने को उतारू हैं और (3) वे इन संक्रियाओं द्वारा सरकार को ऐसा क्रूर प्रतिशोध लेने के लिए प्रकोपित करना चाहते हैं जिससे कि वे जनता की सहानुभूति प्राप्त कर सकें या ऐसी कोई अंतर्राष्ट्रीय घटना करना चाहते हैं जिससे कि उनके राजनीतिक उद्देश्य का प्रचार हो सके इत्यादि। उसने आगे यह भी कहा कि उनके सभी हिंसक क्रियाकलाप इतने सुनियोजित ढंग से चलाए जा रहे हैं कि समाचार माध्यमों में उनकी मांगों का अधिकाधिक प्रचार हो सके और अनेकों बार उनके अति अमानवीय आक्रमण और शारीरिक यातनाओं का लक्ष्य निर्दोष व्यक्ति रहे हैं चाहे वे व्यक्ति हैं या व्यक्तियों का ग्रुप।

19. दलीलों और विरोधी दलीलों के गुणागुण और विशिष्टताओं तथा खामियों के होते हुए भी इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रतिभाशाली विधिवेत्ताओं और विद्वान अपर महासालिसिटर ने अपने विशिष्ट विधिक कौशल अतिपांडित्यपूर्ण ज्ञान और दांडिक कार्यवाहियों तथा विचारण के दौरान प्राप्त व्यापक और विपुल व्यावहारिक अनुभव का प्रयोग

1994(3) eILR(PAT) SC 1

करते हुए मानव अधिकारों के संदर्भ में आपराधिक विधिशास्त्र के सुमान्य सिद्धान्तों के प्रकाश में पृथक शीर्षों के अधीन अधिनियमों के विभिन्न उपबंधों का विश्लेषण किया यद्यपि कभी-कभी कुछ नोकझोंक और तीखी झड़पें भी हुईं। अपनी विस्तारित बहस के दौरान दी गई अपनी-अपनी दलीलों के समर्थन में उन्होंने न केवल इस देश के उच्च न्यायालयों के विभिन्न विनिश्चयों को ही उद्धृत किया अपितु विदेशी विनिश्चयों और विधानों को भी।

20. दी गई चुनौतियों जो कि प्रकटतः और आदितः विधिक हैं की गहन परीक्षा किए जाने से पूर्व, आक्षेपित अधिनियमों और उनके कुछ उपबंधों की व्यापक अनन्य परीक्षा करते हुए हमारे लिए उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और परिस्थितियों जिनके कारण विधान-मंडल को इन विधियों को अधिनियमित करना पड़ा और जो कि संसदीय बहस, उद्देश्यों और कारणों के कथन और आक्षेपित अधिनिमों के आरंभिक टिप्पण आदि से परिलक्षित हैं संक्षिप्त वर्णन करना अपरिहार्य हो गया है।

21. अभी हाल ही के वर्षों में विश्व के अनेक देशों में आतंकवाद और विध्वंस किसी न किसी कारणवश फैल रहा है और परिणामस्वरूप आत्मघाती मानव बमों से महान नेताओं की हत्या हुई है और अनेक वीभत्स हत्याएं की गई हैं। यह निंदनीय है कि पक्के अपराधियों और भूमिगत उग्रवादियों द्वारा बहकाए गए और आतंकवाद की विचारधारा से प्रभावित दृढ़निश्चयी युवा मानवता के विरुद्ध गंभीर अपराध कर रहे हैं। कठोर कार्रवाई किए जाने और गहन सतर्कता बरते जाने के बावजूद आतंकवादी और उग्रवादी अराजकता उत्पन्न करने से बाज नहीं आ रहे हैं क्योंकि इससे उनके प्रयोजन की पूर्ति होती है। संक्षेप में वे अपने-अपने राष्ट्रों की प्रभुसत्ता अथवा मूलवंश अथवा समुदाय के विरुद्ध गृहयुद्ध छेड़े हुए हैं ताकि समाज में राष्ट्रीय, राष्ट्र के बाहर के अथवा अंतरराष्ट्रीय कट्टर अपराधियों या पृथावादियों आदि द्वारा भड़काने या प्रोत्साहित किए जाने पर प्रारंभ में असंतुलन और निराशा तथा अव्यवस्था उत्पन्न हो सके। परिणामस्वरूप संबंधित देशों की सुरक्षा और अखंडता खतरे में पड़ गई है और बहुत से देशों में विधि और व्यवस्था भंग हो गई है। दूसरे शब्दों यह कहा जा सकता है कि आज संपूर्ण विश्व में बंदूक की संस्कृति का बोलबाला है और विवेक और बुद्धि का साम्राज्य लुप्त हो गया है। अतः, प्रत्येक देश यह महसूस करने लगा है कि आज उग्रवादियों और आतंकवादियों के बढ़ते अवैध और आपराधिक क्रिया-कलापों के विरुद्ध सतर्कता को सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता है ताकि उनकी प्रभुसत्ता को खतरा उत्पन्न न हो पाए और समाज को जीवित रखा जा सके।

22. अतः आतंकवाद और विध्वंसकारी क्रियाकलाप एक विश्वव्यापी घटना हैं और भारत भी कोई अपवाद नहीं है। दुर्भाग्यवश अभी हाल ही के वर्षों में हमारे देश में आतंकवादी हिंसा में भारी वृद्धि हुई है और देश विध्वंसकारी क्रियाकलापों की मार से क्रंदन कर रहा है। जैसा कि 1985 के अधिनियम सं० 31 के उद्देश्यों और कारणों से स्पष्ट है कि "आतंकवादी अधिकांशतः पंजाब और चंडीगढ़ में लोगों की जानों से खिलवाड़ कर रहे हैं और आगजनी, संपत्ति की लूटपाट और अनेक प्रकार के अन्य जघन्य अपराध कर रहे हैं" और अब उन्होंने शनैः शनैः अपने क्रियाकलाप देश के अन्य भागों दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में भी फैला दिए हैं। वर्तमान में उन्होंने अपने क्रियाकलापों में अपने कार्य क्षेत्र को बढ़ाकर बहुत वृद्धि की है और आज देश के बहुत बड़े भाग में अत्यधिक हिंसा और

1994(3) eILR(PAT) SC 1

आतंकवाद का साम्राज्य स्थापित है तथा उनके द्वारा अप्रत्याशित और अप्रकोपित उत्पीड़न और विध्वंस फैलाए जाने के कारण राष्ट्र की सुरक्षा, दैहिक स्वतंत्रता और अधिकार जिनमें इस देश के निर्दोष नागरिकों का मानवीय गरिमा के साथ जीवन-यापन का अधिकार भी सम्मिलित है संकट में हैं और चण्डीगढ़, श्रीनगर, दिल्ली और मुम्बई सरीखे नगरों में निवास करने वाले नागरिकों के दैनिक जीवन को खतरा उत्पन्न होने के कारण इन चमक-दमक वाले नगरों की छवि भी कलुषित हो गई है। देश के विभिन्न भागों में अनेक विस्फोटों के अलावा ऐसी अनगिनत गंभीर और वीभत्स घटनाएं घटी हैं जिनसे बहुत से नगरों में रक्तपात, गोली-चालन, लूट, नृशंस हत्याओं जिनमें महिलाओं और बालकों तक को नहीं छोड़ा गया है की बाढ़ सी आ गई है और ये स्थान एक कब्रिस्तान मात्र बन कर रह गए हैं और संपूर्ण राष्ट्र नग्न पाशविकता की भयंकर चपेट में आ गया है।

23. प्रतिदिन इलैक्ट्रोनिक और समाचारपत्रों के माध्यम से ऐसी कुछ सूचना मिलती ही रहती है कि अनेक निर्दोष और निहत्थे लोग जिनमें विशेषकर गरीब, राजनीतिज्ञ, राजनेता, सरकारी कर्मचारी, पुलिसकर्मी, सैन्यकर्मी और सीमा सुरक्षा बल के जवान सम्मिलित हैं निर्ममतापूर्वक गोलियों से उड़ा दिए गए। इस आसन्न संकट के प्रति शुतुरमुर्ग वाले व्यवहार को अपनाकर नग्न तथ्यों और कटु सत्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। चाहे कुछ भी सही सत्य तो सत्य ही है और वास्तव में इससे इनकार नहीं किया जा सकता है।

24. 1987 के अधिनियम को संसद् में प्रस्तुत करते समय और इसके विस्तारण और उपांतरण के पश्चात्वर्ती प्रक्रम पर तत्कालीन गृह मंत्री, तत्कालीन गृह राज्य मंत्री और अनेक सांसदों द्वारा बहस में भाग लेते हुए दिए गए उनके भाषणों से आतंकवाद और विध्वंसकारी क्रियाकलापों की व्यापकता और गंभीरता का पता चलता है और इससे यह स्पष्ट है कि इसके खतरनाक प्रभाव के कारण राष्ट्र की सुरक्षा संकट में है।

25. 8 अप्रैल, 1988 को तत्कालीन गृह मंत्री ने लोक सभा में बोलते हुए यह कहा :—

> "जैसा कि मैंने प्रारंभ में कहा कि देश को अस्थिर बनाने वाली शक्तियों को देश के बाहर और भीतर से प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है..................
>
> प्राप्त जानकारी के अनुसार यह प्रकट है कि इसके संचालक अन्यत्र होते हुए भी इसे देश के भीतर से चलाया जा रहा है।"

26. तत्कालीन गृह राज्यमंत्री ने व्यापक स्तर पर जघन्य अपराध किए जाने के संबंध में खुलकर बोलते हुए यह कहा कि न केवल राष्ट्र की सुरक्षा और क्षेत्रीय अखंडता को इससे खतरा उत्पन्न हो गया है अपितु जनता का सामान्य जीवन भी अत्यधिक प्रभावित हुआ है तथा ऐसी विधि अधिनियमित किए जाने के महत्व पर बल दिया जिसमें इन अपराधों के लिए विशेष प्रक्रिया और त्वरित विचारण का उपबंध हो।

27. संसद् के एक सदस्य (श्री कमल चौधरी) ने आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 के विधेयक से संबंधित चर्चा में भाग लेते हुए कहा :—

> "............पंजाब जल रहा है। यह कहा जाता है कि पंजाब में दूध की नदियां बहा करती थीं किंतु आज इन नदियों में रक्त बह रहा है। चहुं ओर घृणा

व्याप्त है। पंजाब के लिए लोकतांत्रिक समाधान क्या है............हर रात अनेक महिलाएं अपनी छातियां पीटती हैं। हमें पता उस समय चलता है जब हमारा अपना कोई मारा जाता है।"

28. सदन में विधेयक पेश किए जाने के समय एक और सांसद् (श्री अनूप चंद शाह) ने यह कहा :—

"...

आज आतंकवाद पंजाब तक ही सीमित नहीं रह गया है। यह देश के प्रत्येक क्षेत्र में फैल चुका है। जो आतंकवाद पंजाब में व्याप्त है वही आज दिल्ली और महाराष्ट्र में भी अपना सिर उठा रहा है।............"

29. 1987 के अधिनियम से संबंधित बहस में भाग लेते हुए एक और संसद् सदस्य (श्री जगन्नाथ कौशल) ने यह कहा :—

"............माननीय सदस्य यह जानते हैं कि आज हम जिस युग में रह रहे हैं वह सामान्यतः शांति का नहीं है। आज बड़ी विचित्र परिस्थितियां उद्भूत हो रही हैं। श्री सत्येन्द्र नारायण सिंह ने यह कहा कि हमें न केवल पंजाब के लिए कुछ करना चाहिए अपितु बिहार के बारे में भी कुछ सोचना चाहिए क्योंकि राजनीतिक दल इत्यादि की आड़ में वहां भी आतंकवाद अपने उग्र रूप में विद्यमान है।"

30. हमारी समझ में आतंकवादियों और विध्वंसकारियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों और उनके परिणामस्वरूप होने वाली हिंसा को प्रभावी रूप में रोकने के लिए "टाडा" लाए जाने से संबंधित संसद् में तत्कालीन गृह मंत्री, गृह राज्य मंत्री और कुछ संसद् सदस्यों के संपूर्ण भाषणों को इस निर्णय में पुनः प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। तथापि 1985 और 1987 के अधिनियमों को अधिनियमित किए जाने के उद्देश्यों और कारणों के कथन में यथादर्शित बाध्यकारी कारणों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा और वे इस प्रकार हैं कि आतंकवादी और विध्वंसकारी अपने क्रियाकलापों को फैलाकर नागरिकों के मस्तिष्क में आतंक और भय उत्पन्न कर रहे हैं और उन्होंने शांति और सांप्रदायिक समन्वय को ध्वस्त कर दिया है और यह कि उनके क्रियाकलाप देश के बहुत से भागों में व्यापक स्तर पर चल रहे हैं और यह कि यह महसूस किया जा रहा है कि उनके इन क्रियाकलापों का प्रभावी रूप से मुकाबला करने के लिए और उनसे निपटने के लिए प्रभावी रूप से और शीघ्रातिशीघ्र विधिक कार्रवाई करना आवश्यक हो गया है ताकि उनके तेजी से बढ़ते हुए क्रियाकलापों को जो कि आज चिंता का विषय हैं रोका जा सके और उनसे कठोरता से निपटा जा सके।

31. संसद् में बहस के दौरान मंत्रियों, संसद् सदस्यों द्वारा दिए गए समग्र भाषणों, उद्देश्य और कारणों के कथन और विद्वान अपर महासालिसिटर द्वारा दी गई दलीलों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है :—

(1) अस्सीवें दशक के मध्य से विद्यमान परिस्थितियां आतंक और विध्वंस से परिपूर्ण हैं जिनसे भारत की प्रभुसत्ता और अखण्डता को गंभीर खतरा तो उत्पन्न हो ही गया है साथ ही इससे लोगों के मस्तिष्क में भय और असुरक्षा की भावना व्याप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त, आतंक का नग्न नृत्य हो रहा है और पृथग्वादी

तथा राष्ट्र विरोधी तत्त्व भारत के अति संवेदनशील क्षेत्रों में (भारत की सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए) भारत के लोकतांत्रिक ढांचे और स्वरूप को खतरे में डालकर गंभीर चिंता का विषय बने हुए हैं ।

(2) महिलाओं, बालकों और दर्शकों सहित निहत्थे और निर्दोष लोगों की वीभत्स सामूहिक हत्या, शांति, सौहार्द और सुरक्षा का भंग सरीखे जघन्य अपराध निरंतर किए जा रहे हैं ।

(3) विद्यमान साधारण दंड विधि मानवता पर किए जाने वाले ऐसे क्रियाकलापों से दृढ़ता से निपटने के लिए अपर्याप्त है ।

32. उपर्युक्त विद्यमान परिस्थितियों में विधानमण्डल को उभरते आतंकवाद के खतरे और परिणामस्वरूप संभावित अव्यवस्था जिसमें विधि व्यवस्था की अव्यवस्था सम्मिलित है से निपटने के लिए तथा अंधेरे में छिपकर कार्य करने वाले बहुत से ग्रुपों जो आतंकवादियों को भारत के भीतर और भारत के बाहर से अत्याधुनिक स्वचालित शस्त्र और गोला-बारूद देने के साथ-साथ वित्तीय सहायता जुटाने के अलावा आतंकवाद को सहायता देकर, दुष्प्रेरित करके और पल्लवित करके इसे और बढ़ावा दे रहे हैं से कठोरतापूर्वक निपटने के लिए "टाडा" लाने के लिए विवश होना पड़ा । यहां पर यह उल्लेख करना उपयुक्त रहेगा कि यदि इन मामलों के तथ्यों जिनके विरुद्ध अपील की गई हैं और जो इन रिट याचिकाओं और विशेष इजाजत याचिकाओं में उपवर्णित हैं पूर्णत: स्वीकार कर लिया जाए तो इनसे हिंसा के किए जाने वाले अनेक कार्यों का पता चलता है और व्यक्तियों, व्यक्तियों के ग्रुप अथवा किसी विशिष्ट समुदाय या धार्मिक पंथ के विरुद्ध किए जा रहे बर्बर प्रतिशोध के कार्यों से यह दर्शित है कि हिंसक खतरा जो आज परिलक्षित है इतनी सरलता से समाप्त होने वाला नहीं है जैसा कि हम सोचते हैं ।

33. इस संदर्भ में यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि क्या न्यायाधीश सामान्य ज्ञान और प्रामाणिक रिपोर्ट के विषयों की अवेक्षा कर सकते हैं । इस प्रश्न की **सुखदेव सिंह बनाम संघ राज्यक्षेत्र, चण्डीगढ़**[1] वाले मामले में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ द्वारा समीक्षा की गई । न्या० मदन मोहन पंक्षी (जो उस समय थे) ने बहुमत की ओर से यह मताव्यक्ति की :—

> "मैं यह जानता हूं कि विधायी उपाय की सांविधानिकता की उपधारणा को बनाए रखने के लिए यह न्यायालय सामान्य ज्ञान, सामान्य रिपोर्ट के विषयों, युग के इतिहास पर विचार कर सकता है और ऐसे प्रत्येक प्रकार के तथ्य को उपधारित कर सकता है जो विधान के समय विद्यमान माने जा सकते हैं ।"

34 अपराधों के इन सभी बहुआयामों—चाहे वे राष्ट्रीय या विदेशी या अंतर्राष्ट्रीय क्यों न सही किसी व्यक्ति द्वारा या अपराधियों के ग्रुप द्वारा किए जाते हैं—का निराकरण वास्तव में बहुत ही दुष्कर कार्य है क्योंकि अपराध और अपराधी किसी क्षेत्र विशेष की सीमा की परवाह नहीं करते हैं और अपराधियों के क्रियाकलापों के प्रवर्तन का क्षेत्र किसी क्षेत्रीय सीमा तक ही परिसीमित नहीं किया जा सकता है ।

---

1 ए० आई० आर० 1987 पंजाब-हरियाणा 5.

35. संसद् प्रकटतः आतंकवादियों द्वारा विधि शासन पर आधारित सरकार को आतंकित करने या लोगों को या जनता के किसी वर्ग को आतंकित करने अथवा जनता के किसी वर्ग को पृथक करने या जनता के विभिन्न वर्गों के मध्य समन्वय को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करने के आशय से किए जा रहे आतंक की गंभीरता से चिंतित है और परिणामस्वरूप वह राष्ट्र को होने वाले इस प्रकट और चहुं ओर व्याप्त खतरे को महसूस करते हुए न केवल "टाडा" को आगे जारी रखना चाहती है अपितु उसने "टाडा" (1985 के अधिनियम सं० 31) के उपबंधों को और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए और आतंकवाद के खतरे से निपटने के लिए 1987 का अधिनियम सं० 28 अधिनियमित किया और पुलिस कर्मियों के समक्ष की गई संस्वीकृतियों को ग्रहण किए जाने से संबंधित व्यापक परिवर्तन किए तथा संविधान की कसौटी पर इन उपबंधों की विधिमान्यता को परखे जाने के प्रश्न के अलावा विशेष प्रक्रिया विहित की और समुचित दंड आदि के लिए उपबंध किया।

36. उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दृष्टिगत करते हुए अब हम निष्पक्षतापूर्वक और बिना किसी पूर्वाग्रह के विभिन्न विधिक समस्याओं जिनमें सामान्यतः तीनों अधिनियमों ("टाडा") और विशिष्टतः इन अधिनियमों के विभिन्न उपबंधों की सांविधानिक विधिमान्यता सम्मिलित है की संविधान के निष्कर्ष पर समीक्षा करेंगे।

37- इन अधिनियमों की शक्तिमत्ता की परीक्षा करते हुए हम इन अधिनियमों में कतिपय शब्दों की परिभाषा, गिरफ्तारी, अन्वेषण, जमानत, विचारण की रीति, अभिहित न्यायालयों की अधिकारिता और संविधान में प्रत्याभूत अभियुक्त के अनुज्ञेय विधिक अधिकारों आदि की बाबत सन्निहित विभिन्न दांडिक और प्रक्रिया संबंधी उपबंधों की सांविधानिक उपबंधों और विद्यमान प्रक्रिया संबंधी विधि के प्रकाश में अपने अनुभव जो हमने इन आक्षेपित अधिनियमों को लागू किए जाने के क्षेत्र में प्राप्त किया है के आधार पर सावधानीपूर्वक विश्लेषण करेंगे।

> "जब विधि का अवसान होता है,
> अत्याचार आरंभ होता है।
> न्यायपालिका का कृत्य प्रारंभ होता है,
> विधायिका के कृत्य का अवसान होता है।।"

विधि वह है जो न्यायाधीश कहते हैं क्योंकि विधि का निर्वचन करने की शक्ति न्यायाधीशों में निहित है।

38. विधि का निर्माण इसे तोड़े जाने के लिए नहीं अपितु इसका पालन किए जाने के लिए किया जाता है और विधि के प्रति सम्मान शक्ति प्रदर्शन द्वारा नहीं किया जाता है अपितु कारणों के बेहतर मूल्यांकन, उनकी सत्यता की बेहतर समझदारी और विवक्षित अनुपालन द्वारा किया जाता है। यह कोई कहने की बात नहीं कि विगत में विधि की उपलब्धियां महत्त्वपूर्ण रही हैं जिन्हें वर्तमान में सुरक्षित रखना आवश्यक ही नहीं है अपितु ये भविष्य के लिए भी विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि वर्तमान के कामकाज के प्रति उपेक्षा बरतने, इसे न समझ पाने, इसके प्रभावी न होने और एक सही दृष्टि तथा समुचित रूप में कार्यान्वित न किए जाने के कारण ही कभी-कभी विधि का अस्तित्व संकट में पड़ जाता है।

1994(3) eILR(PAT) SC

39. जहां सभी पारंपरिक विधि प्रवर्तनकारी संस्थाओं की संदेहास्पद संवीक्षा की जाती है, वहां विधि के कृत्यों को युक्तिसंगत रूप में लागू करके और इनकी जटिलताओं तथा परीसीमाओं के पूर्ण बोध द्वारा ही अखंडता को संरक्षित रखा जा सकता है और विधि पर आधारित व्यवस्था के अस्तित्व को बनाए रखा जा सकता है।

40. तथापि यह पूर्णतः सत्य है कि समस्या ने फिर से उग्र रूप और एक नवीन विकरालता धारण कर ली है और इसलिए विधि की परिधि और इसके प्रवर्तन का क्षेत्र भी बहुत व्यापक हो गया है तथा विधि के अभिकर्ताओं की अभिरूचियां और विधि के उच्चारण का तरीका भी अत्यधिक विशेषतापूर्ण और तकनीकी बन गया है।

41. इस बाबत बल देने की कोई आवश्यकता नहीं कि यदि मानव मात्र के जीवन को विनियमित न किया जाए तो समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। इस प्रकार विनियमित करने का मुख्य साधन विधि है जो सामाजिक संतुलन और समन्वय को अक्षुण्ण रखती है तथा मानव अधिकारों, स्वतंत्रता और गरिमा पर आधारित समाज कल्याण का स्रोत है।

42. विधि के महत्त्व और क्षमता पर जोर देते हुए एक बार लार्ड चांसलर सेनकी ने यह कहा :

> "लोक जीवन के उल्टे-तिरछे प्रवाह और इसकी बालुई सतह में विधि एक विशाल पोत है जिस पर पैर रखकर मनुष्य स्वयं को निरापद महसूस कर सकता है।"

43. "द लॉ इन क्राइसिस—ब्रिजेज़ ऑफ अण्डरस्टैण्डिंग" में सी० जी० वीरामेन्ट्री ने सामाजिक हित की प्राप्ति में "विधि-शासन" के महत्त्व पर जोर देते हुए कहा :

> "विधि-शासन के अधीन नागरिकों को प्राप्त संरक्षण 20वीं सदी के मानव संघर्ष का मूलमंत्र है। आज इस बात को सामान्यतः महसूस नहीं किया जा रहा कि इसके लुप्त होने में कोई समय नहीं लगता। इसे सुरक्षित रखने के जो उपाय ज्ञात हैं उनमें निरंतर सतर्कता प्रमुख है। समुदाय के सिवाय ऐसा कोई प्राधिकारी नहीं है जिसे इस कर्तव्य को प्रत्यायोजित किया जा सके। केवल एक ही साधन ऐसा है जिसके द्वारा सतर्कता को सुदृढ़ बनाया जा सकता है और वह है समुदाय को उसकी विधिक प्रणाली, उपलब्धियों और उसकी समस्याओं के प्रति सचेत करते हुए उसे शिक्षित बनाना।"

44. उन अधिनियमों की पुनः चर्चा करते हुए जिनसे हमारा संबंध है, 1985 का अधिनियम सं० 31 और 1987 का अधिनियम सं० 28 संसद् द्वारा कुछ कालावधि के लिए आपातकालीन विधान के रूप में अधिनियमित किए गए हैं और इस कालावधि को संसद् द्वारा पुनरीक्षण किए जाने पर समय-समय पर बढ़ाया जाता रहा है और इन अधिनियमों को संपूर्ण भारत में विस्तारित किया गया है और भारत के बाहर भी भारत के नागरिकों को, सरकार की सेवा में रत व्यक्तियों को, चाहे वे कहीं भी क्यों न सही, और भारत में रजिस्ट्रीकृत पोतों और वायुयान में कार्यरत व्यक्तियों चाहे वे कहीं भी क्यों न सही को लागू किया गया है।

45. उपर्युक्त संक्षिप्त भूमिका के साथ अब हम पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल द्वारा दी गई दलीलों पर इन मुख्य प्रश्नों के संदर्भ में विचार करेंगे जिनमें प्रथम यह है कि क्या इन अधिनियमों में विधायी सक्षमता का दोष है और द्वितीयत: क्या अधिनियम या इसका कोई उपबंध संविधान के भाग-3 में विनिर्दिष्ट किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करता है और अन्य आनुषंगिक प्रश्न ।

46. वरिष्ठ काउंसेल श्री बलवंत सिंह मलिक द्वारा यह पुरजोर दलील दी गई कि 1987 का अधिनियम ("टाडा") अधिकारातीत है क्योंकि केन्द्रीय विधानमण्डल अर्थात् संसद् संविधान के अनुच्छेद 246 के साथ पठित इसकी सातवीं अनुसूची की प्रथम सूची (संघ सूची) और तृतीय सूची (समवर्ती सूची) में दिए गए विधान के विषयों के अधीन "टाडा" अधि-नियमित करने की विधायी क्षमता नहीं रखती और यह कि वास्तव में आक्षेपित अधिनियमों की विषयवस्तु द्वितीय सूची (राज्य सूची) की प्रथम प्रविष्टि अर्थात् "लोक व्यवस्था" के अधीन राज्यों को सौंपे गए विधायी क्षेत्र के अंतर्गत आती है और "लोक व्यवस्था" शब्द बहुत ही व्यापक शब्द है जिसका व्यापक अर्थ है जिसमें सभी प्रकार के ऐसे क्रियाकलाप आ जाते हैं जिनके परिणामस्वरूप हिंसा अथवा लोक प्रशांति भंग होती है ।

47. उसके अनुसार "टाडा" की विषयवस्तु सातवीं अनुसूची की प्रथम सूची में दिया गया कोई विषय नहीं है और भारत संघ के "टाडा" अधिनियमित करने की सक्षमता के लिए तृतीय सूची की प्रथम प्रविष्टि का अवलंब लेने के उपधारणात्मक प्रयास को माना नहीं जा सकता है । तृतीय सूची की प्रथम प्रविष्टि इस प्रकार है :

> "दण्ड विधि जिसके अंतर्गत ऐसे सभी विषय हैं जो इस संविधान के प्रारंभ पर भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत आते हैं किंतु इसके अंतर्गत सूची 1 या सूची 2 में विनिर्दिष्ट विषयों में से किसी विषय से संबंधित विधियों के विरुद्ध अपराध और सिविल शक्ति की सहायता के लिए नौ सेना, सेना या वायु सेना अथवा संघ के किसी अन्य सशस्त्र बल का प्रयोग नहीं है ।"

48. उसके अनुसार उपर्युक्त प्रविष्टि समवर्ती सूची की पश्चात्वर्ती प्रविष्टियों में विनिर्दिष्ट विषयों से संबंधित केवल "विधि के विरुद्ध अपराध" की बाबत है । चूंकि "टाडा" को समवर्ती सूची में के किसी अन्य विषय के प्रति निर्देशित नहीं किया जा सकता है, इस आधार पर इसकी विषयवस्तु को इस सूची की प्रथम प्रविष्टि के अधीन नहीं रखा जा सकता। आगे यह भी दलील दी गई कि सूची 3 प्रविष्टि 1 में "दण्ड विधि" शीर्षक को अंतर्वस्तु व्युत्पन्न प्रकृति की है और इसका अपना कोई अर्थ नहीं है क्योंकि "विधि के विरुद्ध अपराधों को समाविष्ट करने वाली दंड विधि तीनों सूचियों में के विषय की बाबत है । उसने आगे यह भी निवेदन किया कि "टाडा" अधिनियम जिसमें "राज्य की सुरक्षा" और "लोक सुरक्षा" को अत्यधिक हिंसा से कारित लोक अव्यवस्था वर्णित है साधारणत: सूची 2 की प्रविष्टि 1 के अंतर्गत आती है और यह कि प्रत्येक राज्य केवल सूची 2 की प्रविष्टि 64 के अधीन लोक व्यवस्था के विरुद्ध अपराधों से संबंधित विधायन करने के लिए सक्षम है ।

49. लोक व्यवस्था बनाए रखने से संबंधित विभिन्न राज्यों द्वारा अधिनियमित इन कतिपय विधि की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया—

(1) असम विक्षुब्ध क्षेत्र अधिनियम, 1955 (1955 का 19) ;
(असम डिस्टर्ब्ड एरियाज ऐक्ट)

(2) पंजाब राज्य सुरक्षा अधिनियम, 1949 ;
(पंजाब सिक्यूरिटी ऑफ स्टेट ऐक्ट)

(3) बिहार लोक व्यवस्था अनुरक्षण अधिनियम, 1949 ;
(बिहार मेनटीनेंस ऑफ पब्लिक आर्डर ऐक्ट)

(4) पश्चिम बंगाल (हिंसक क्रियाकलाप निवारण) अधिनियम, 1970 ;
[वैस्ट बंगाल (प्रीवेन्शन आफ वायोलैण्ट एक्टीविटीज) ऐक्ट]

(5) उत्तर प्रदेश गिरोहबंद और समाज विरोध क्रियाकलाप, 1986 (1986 का अधिनियम सं० 7) ;

(6) जम्मू-कश्मीर शत्रु, अभिकर्ता अध्यादेश (सन् 2005 का सं० 8) ;
(द जम्मू-कश्मीर ऐनीमी, ऐजैण्ट्स आर्डिनेंस)

(7) महाराष्ट्र के गंदी बस्ती के दादाओं, प्रच्छन्न शराब विक्रेताओं और औषधि अपराधियों के खतरनाक क्रियाकलापों का निवारण अधिनियम, 1981 (द महाराष्ट्र प्रीवेन्शन आफ डेनजरस ऐक्टीविटीज आफ स्लम लार्ड्स, बूटलैगर्स एण्ड ड्रग आफैण्डर्स ऐक्ट, 1981)

(8) कर्नाटक के प्रच्छन्न शराब विक्रेताओं, औषधि (ड्रग) अपराधियों, गुण्डों, जुआरियों, अनैतिक दुर्व्यापार और गंदी बस्ती के भूमि हथियाने वालों के खतरनाक क्रियाकलापों का निवारण अधिनियम, 1985 (द कर्नाटक प्रीवेन्शन आफ डेनजरस ऐक्टीविटोज आफ बूटलैगर्स, ड्रग आफैण्डर्स, गुण्डाज, गैम्बलर्स, इम्मोरल ट्रैफिक एण्ड स्लम ग्रैबर्स ऐक्ट, 1985)

यह कहा गया है कि ये सभी विधि सूची 2 की प्रथम प्रविष्टि में वर्णित "लोक व्यवस्था" की परिधि के अंतर्गत आते हैं। श्री बलबंत सिंह मलिक ने अपनी दलील के समर्थन में परिसंघ/संघ के प्रांतों/राज्यों की लोक व्यवस्था के अधीन विधि बनाने की सक्षमता घोषित करने से संबंधित इन विनिश्चयों को उद्धृत किया : **लखी नारायण दास** बनाम **बिहार प्रान्त**[1], **रमेश थापर** बनाम **मद्रास राज्य**[2], **श्रद्धेय स्टेनस्लॉस** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[3] और **अशोक कुमार दीक्षित** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[4] ।

50. यद्यपि उसके अनुसार प्रत्येक राज्य अपने क्षेत्र के अंतर्गत नए अपराध सर्जित करके लोक व्यवस्था बनाए रखने की बाबत उपबंध करने के लिए विधायी रूप से सक्षम है, यदि लोक व्यवस्था बनाए रखने की बाबत स्थिति का एक से अधिक राज्य से या संपूर्ण देश से संबंध है, तब संसद के लिए संविधान के अनुच्छेद 249, 250 और 252 (तथापि इन उपबंधों का "टाडा" अधिनियमित करते समय अवलंब नहीं लिया गया) के अधीन हस्तक्षेप करना

[1] ए० आई० आर० 1950 एफ० सी० 59.
[2] 1950 एस० सी० आर० 594.
[3] 1977 (2) एस० सी० आर० 611.
[4] ए० आई० आर० 1987 इलाहाबाद 235 (पूर्ण न्यायपीठ).

1994(3) eILR(PAT) SC 1

और विधि अधिनियमित करना आवश्यक है। तथापि, इससे सूची 3 की प्रथम प्रविष्टि अर्थात् "दंड विधि" और सूची 2 की प्रथम प्रविष्टि अर्थात् "लोक व्यवस्था" के साथ पठित इस सूची की प्रविष्टि 64 और 65 को कोई अन्य अर्थ देना न्यायोचित नहीं होगा।

51. सूची 2 की कुछ प्रविष्टियों पर और आगे प्रकाश डालते हुए यह प्रार्थना की गई कि "लोक व्यवस्था" के अधीन विधि अधिनियमित करने की राज्य की विधायी शक्ति सूची 2 की प्रथम प्रविष्टि में दी गई है और अन्वेषक अभिकरण—पुलिस—सर्जित करना सूची 2 की प्रविष्टि 2 में अंतर्विष्ट है तथा न्यायालयों में ऐसे राज्य अपराधों का विचारण करने की अधिकारिता निहित करना और शक्ति प्रदान करने की विधायी शक्ति सूची 2 की प्रविष्टि 65 के अंतर्गत आती है तथा सूची 3 की प्रथम प्रविष्टि के अपवर्जनकारी खंड और सूची 1 की प्रविष्टि 93 और सूची 2 की प्रविष्टि 64 का संयुक्त रूप में वाचन करने पर यह स्पष्ट है कि सूची 3 की प्रथम प्रविष्टि के अधीन "दंड विधि" शीर्षक से "लोक व्यवस्था" से संबंधित अपराधों को पूर्णतः छूट प्रदान की गई है।

52. आगे यह भी निवेदन किया गया कि संविधान के अनुच्छेद 245 और 246(1) (2) के साथ पठित सातवीं अनुसूची की सूची 1 और सूची 3 में अपराध सर्जित किए जाने की बाबत संसद् की विधायी शक्ति सूची 1 की प्रविष्टि 93 के अधीन उस सूची में दिए गए विषयों और उस सूची की पश्चात्वर्ती प्रविष्टियों में के विषयों की बाबत सूची 3 की प्रविष्टि 1 तक ही विस्तारित है।

53. वरिष्ठ काउंसेल श्री राम जेठमलानी ने उपर्युक्त दलीलों को आगे बढ़ाते हुए यह कहकर दलील के एक अन्य पहलू पर प्रकाश डाला कि यह अधिनियम (1987 का 28) "तत्व और सार" में "लोक व्यवस्था" से संबंधित है जैसा कि इसकी उद्देशिका से परिलक्षित है जिसमें यह कहा गया है कि इस अधिनियम को आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलापों के निवारण के लिए और उनसे निपटने के लिए तथा उनसे संबंधित या उनके आनुषंगिक विषयों के लिए विशेष उपबंध करने के लिए बनाया गया है। उसके अनुसार अधिनियम का "तत्व और सार" धारा 3, 4, 5 और धारा 6 में है और कानून के सर्वोपरि प्रयोजन को पूरा करने के लिए शेष धाराएं मात्र आनुषंगिक या आवश्यक हैं और यदि विधान का "तत्व और सार" किसी विशिष्ट प्रविष्टि के अंतर्गत आता है, तो किसी अन्य प्रविष्टि में किसी प्रकार के आनुषंगिक अतिक्रमण से अधिनियम की प्रकृति में परिवर्तन नहीं हो जाता है। 1987 के अधिनियम सं० 28 द्वारा विशेष न्यायालय जिन्हें अभिहित न्यायालय कहा जाता है सर्जित करने, नवीन प्रक्रिया विहित करने और अभिहित न्यायालयों के समक्ष विचारण में साक्ष्य ग्रहण किए जाने की बाबत कुछ उपबंध अंतः स्थापित करने के लिए किए गए संशोधन इस बात को न्यायोचित ठहराएंगे कि ये संशोधन सूची 3 की प्रविष्टि 2 और प्रविष्टि 12 के अंतर्गत आते हैं जबकि अधिनियम सूची 2 की प्रविष्टि 1 के अंतर्गत आता है।

54. "तत्व और सार" के सिद्धांत की बाबत अपनी दलील के समर्थन में उसने **प्रफुल्ल कुमार मुकर्जी और अन्य बनाम बैंक ऑफ कॉमर्स**[1], **रामकृष्ण रामनाथ अग्रवाल बनाम**

---

[1] ए० आई० आर० 1947 प्रिवी कौंसिल 60.

सचिव, नगरपालिका समिति[1], **केरल राज्य विद्युत बोर्ड** बनाम **इंडियन एल्युमिनियम कंपनी**[2] वाले मामलों में के विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया। विद्वान काउंसेल ने सूची 2 की प्रविष्टि 2 की व्याप्ति की बाबत दो अन्य विनिश्चयों उपर्युक्त **रमेश थापर**[3] और **अधीक्षक, केन्द्रीय कारागार** बनाम **डॉ० लौहिया**[4] को भी उद्धृत किया जिसमें न्यायालय ने स्टीफन कृत क्रिमिनल लॉ ऑफ इंग्लैंड से अवतरण का अनुमोदन करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि विधि विरुद्ध जमाव, विप्लव, बगावत आदि सभी लोक व्यवस्था के विरुद्ध अपराध हैं, उनके मध्य केवल मात्रा का अंतर है।

55. श्री हरदेव सिंह ने रिट याचिका सं० 15432/84 में अपने लिखित कथन में जिसे 1984 के अधिनियम सं० 61 की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती देते हुए लोक हित वाद के रूप में फाइल किया गया था इसी प्रकार की दलील दी कि आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1984 विधायी सक्षमता के अभाव के कारण असांविधानिक है।

56. विद्वान् अपर महासालिसिटर श्री के० टी० एस० तुलसी ने उपर्युक्त दलीलों की भ्रामकता को दर्शित करने का प्रयास करते हुए यह कहा कि आसूचना संगठन से संगृहीत और प्राप्त बहुत ही वर्गीकृत और अति गोपनीय सूचना जिसे लोक हित में नहीं बताया जा सकता है से यह निश्चित रूप से प्रकट है कि पृथग्वादी शक्तियां भारत की प्रभुसत्ता को अस्थिर बनाने में कार्यरत हैं और भारत की अखडता को खतरा उत्पन्न किए हुए हैं और इन शक्तियों को पड़ोसी देशों द्वारा प्रोत्साहित किया जा रहा है और भारत की सीमा पर ऐसे अनेक प्रशिक्षण शिविर हैं जहां उग्रवादियों और आतंकवादियों को न केवल अत्याधुनिक और भारी आयुधों जिनमें राकेट लांचर, मशीनगन, सुरंगों, विस्फोटक और बेतार संसूचना सम्मिलित है के प्रयोग करने का प्रशिक्षण ही दिया जाता है अपितु वे स्वापक औषधियों और मनःप्रभावी पदार्थों का अवैध व्यापार भी करते हैं और ये अखंडनीय तथ्य सामान्य ज्ञान की बात हैं और इन पर न्यायिक अवेक्षा द्वारा विचार किया जा सकता है। उसके अनुसार सीमा पार के बहुत से देश घातक शस्त्र और गोलाबारुद प्रदान कर रहे हैं और आतंकवादी तत्वों के प्रशिक्षण और उनकी शिक्षा के आधार के रूप में शरणस्थल बने हुए हैं।

57. उपर्युक्त गंभीर और विस्फोटक परिस्थितियों और स्थितियों को दृष्टिगत करते हुए अधिनियम तत्व और सार में सूची 2 की प्रथम प्रविष्टि में दी गई लोक व्यवस्था से संबंधित नहीं है अपितु सूची 1 की प्रथम प्रविष्टि और प्रविष्टि 2 और 2 (क) के साथ पठित सूची 3 की प्रविष्टि प्रथम और द्वितीय के अंतर्गत "भारत की सुरक्षा" से संबंधित है।

58. श्री तुलसी के अनुसार दूसरे पक्ष की यह दलील कि आक्षेपित अधिनियम का विषय सूची 2 की प्रथम प्रविष्टि "लोक व्यवस्था" के अधीन आता है असत्य और भ्रामक है।

59. अब हम उन अधिनियमों जिन्हें आक्षेपित किया जा रहा है के आशय और अभिप्राय के प्रकाश में अलग-अलग पक्षकारों द्वारा दी गई दलीलों की सावधानीपूर्वक परीक्षा

---

1 [1950] एस० सी० आर० 15.

2 [1976] 1 एस० सी० आर० 552.

3 [1950] एस० सी० आर० 594.

4 [1960] 2 एस० सी० आर० 821.

करेंगे और यह पता लगाएंगे कि क्या "टाडा" सूची 2 की प्रथम प्रविष्टि अर्थात् "लोक व्यवस्था" अथवा सूची 1 की प्रथम प्रविष्टि अर्थात् "भारत की सुरक्षा" और सूची 1 की प्रविष्टि 2 और 2 (क) के साथ पठित सूची 3 की प्रथम प्रविष्टि (दंड विधि) और द्वितीय प्रविष्टि (दंड प्रक्रिया) के अंतर्गत आता है। किंतु इससे पूर्व कि हम ऐसा करें, हम संघ और राज्यों के मध्य विधायी शक्तियों के वितरण से संबंधित सांविधानिक स्कीम की संक्षेप में अवेक्षा करेंगे।

60. संविधान के अनुच्छेद 246 के खंड (1) के अधीन उक्त अनुच्छेद के खंड (2) और (3) में दी गई किसी बात के होते हुए भी संसद् को सातवीं अनुसूची की सूची 1 में दिए गए 97 विषयों में से किसी एक से संबंधित विधि बनाने की अनन्य शक्ति प्राप्त है। उक्त अनुच्छेद के खण्ड (3) के अधीन राज्य विधानमण्डलों को सूची 2 में दिए गए 66 विषयों में से किसी से भी संबंधित विधि बनाने की अनन्य शक्ति प्राप्त है। सूची 3 में दिए गए 47 विषयों से संबंधित शक्ति समवर्ती है अर्थात् संसद् और किसी भी राज्य के विधानमण्डल दोनों को खण्ड (1) के अध्यधीन विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है। समवर्ती सूची में दिए गए विषयों की बाबत बनाई गई विधि के संबंध में अनुच्छेद 254 में जिसमें संसद् द्वारा बनाई गई विधि को अध्यारोही प्रभाव दिया गया है उक्त विधि और किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधि के मध्य किसी प्रकार के विरोध की स्थिति में यह उपबंध किया गया है कि राज्य विधि संसद् द्वारा बनाई गई विधि पर केवल तभी अभिभावी होगी यदि ऐसी राज्य विधि संसद् द्वारा बनाई गई विधि के पश्चात् अधिनियमित की गई और इसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो गई। विधि बनाने की संसद् की विधायी सक्षमता के प्रश्न की परीक्षा करते हुए उचित बात यह है कि इस बाबत अवधारण किया जाए कि क्या विधान की विषय-वस्तु राज्य सूची के अंतर्गत आती है जिसमें संसद् हस्तक्षेप नहीं कर सकती है।

61. यदि विधि राज्य सूची के अंतर्गत नहीं आती है, तो संसद् को अनुच्छेद 248 के साथ पठित संघ सूची की प्रविष्टि 97 के अधीन अवशिष्ट शक्तियों के कारण विधि पारित करने के लिए विधायी सक्षमता होगी और इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं होगा कि क्या यह संघ सूची या समवर्ती सूची में की किसी प्रविष्टि के अंतर्गत आता है। (**भारत संघ** बनाम **एच० एस० ढिल्लों**[1], **एस० पी० मित्तल** बनाम **भारत संघ**[2] और **खंडेलवाल मेटल वर्क्स** बनाम **भारत संघ**[3] वाले मामले दृष्टव्य हैं)। अतः यह परीक्षा करना आवश्यक है कि क्या अधिनियम राज्य सूची की प्रथम प्रविष्टि के साथ पठित प्रविष्टि 64 की परिधि के अंतर्गत आता है जैसा कि याचियों के विद्वान् काउंसेल ने दलील दी। तथापि इससे पूर्व कि हम ऐसा करें हम उन सिद्धांतों को संक्षिप्त रूप में वर्णित कर दें जो विधायी सूचियों में की प्रविष्टियों के अर्थान्वयन में लागू किए जाते हैं। यह अधिकथित किया गया कि प्रविष्टियों का अर्थान्वयन संकुचित और पाण्डित्यपूर्ण अर्थ में नहीं किया जाना चाहिए और यह कि इन प्रविष्टियों की भाषा को व्यापकतम अर्थ किया जाना चाहिए। कभी-कभी विभिन्न सूचियों या उसी सूची में की प्रविष्टि अतिव्यापी या परस्पर विरोधी हो सकती हैं। इस स्थिति में

---

[1] [1972] 2 एस० सी० आर० 33-61 और 67-68.

[2] [1983] 1 एस० सी० आर० 729-769-770.

[3] [1985] सप्ली० 1 एस० सी० आर० 750-775.

यह अवधारण करने के लिए कि क्या ये प्रविष्टियां किसी एक या अन्य सूची के अंतर्गत आती हैं इनके वास्तविक आशय और प्रयोजन का पता लगाना और विशिष्ट विधान के "तत्त्व और सार" की परीक्षा करना न्यायालय का कर्तव्य है (**सिथेटिक्स एण्ड केमिकल्स लिमिटेड** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] और **इण्डिया सीमेंट लिमिटेड** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[2] वाले मामले दृष्टव्य हैं)।

62. "तत्त्व और सार" का सिद्धांत उस समय लागू किया जाता है जब किसी विशिष्ट अधिनियमिति से संबंधित किसी विधानमण्डल की विधायी सक्षमता को विभिन्न सूचियों में की प्रविष्टियों अर्थात् ऐसी विधि जो एक सूची में होते हुए किसी अन्य सूची में के विषय से संबंधित है के संदर्भ में आक्षेपित किया जाता है। ऐसे मामले में अधिनियमिति के "तत्त्व और सार" को अभिनिश्चित किया जाना चाहिए। यदि प्रश्नगत अधिनियम की संवीक्षा किए जाने पर यह पाया जाता है कि विधान सार में ऐसे विषय से संबंधित है जो उस कानून को अधिनियमित करने वाले विधानमण्डल के अधिकारक्षेत्र के अंतर्गत है, तब उस अधिनियम को संपूर्ण रूप से विधिमान्य माना जाएगा चाहे कोई आनुषंगिक अतिक्रमण उन विषयों से संबंधित क्यों न सही जो उसकी विधायी सक्षमता से बाहर है। अर्थात् चाहे वह ऐसे विषय से संबंधित क्यों न सही जो अन्य विधानमण्डल की सूची में सम्मिलित है। दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि आनुषंगिक अधिक्रमण का पूर्णतः निषेध नहीं किया गया है।

63. **प्रफुल्ल कुमार मुखर्जी और अन्य** बनाम **बैंक आफ कामर्स, खुलना**[3] वाले मामले में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति की ओर से निर्णय सुनाते हुए लॉर्ड पोर्टर ने **सुब्रह्मण्यम चेट्यिार** बनाम **मुत्तुस्वामी गाउण्दन**[4] वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति मॉरिस ग्वायर की मताभिव्यक्तियों का अनुमोदन करते हुए यह कहा—

> "समय-समय पर ऐसा होना स्वाभाविक है कि एक सूची में के विषय से संबंधित विधान किसी अन्य सूची में के विषय से संबंधित हो और अधिनियमिति के विभिन्न उपबंध इस प्रकार संबद्ध हों कि मौखिक निर्वचन के कड़ाई से अंधानुकरण के परिणामस्वरूप बहुत बड़ी संख्या में कानून अविधिमान्य घोषित किए जाएं क्योंकि उन्हें अधिनियमित करने वाले विधानमण्डल ने निषिद्ध क्षेत्र में विधायन किया। अतः यह वह नियम जो न्यायिक समिति ने विकसित किया है और इसके द्वारा आक्षेपित कानून की उसके तत्त्व और सार या उसकी वास्तविक प्रकृति और स्वरूप की इस बात के अवधारण के प्रयोजनार्थ कि क्या यह इस सूची या अन्य सूची में के विषयों से संबंधित विधान है अभिनिश्चय करने के लिए परीक्षा की जाती हैं।"

64. तत्पश्चात् प्रिवी कौंसिल के न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया।

> "विषय फिर भी अतिव्याप्ति करेंगे और जब वे ऐसा करें तो इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि उस अधिनियमिति के तत्त्व और सार का क्या प्रभाव होगा

---

1 [1989] सप्ली० (1) एस० सी० आर० 623.

2 [1989] सप्ली० (1) एस० सी० आर० 692-705.

3 ए० आई० आर० (34) 1947 पी० सी० 60.

4 1940 एफ० सी० आर० 188.

जिसकी बाबत परिवाद किया गया है और उसकी वास्तविक प्रकृति और स्वरूप किस सूची के अंतर्गत है। यदि इन प्रश्नों पर विचार नहीं किया जाता है, तो विशेष हितकर विधान संभव नहीं होगा और प्रांतीय विधान के अन्तर्गत आने वाले अनेक विषयों पर कदापि प्रभावी रूप से विचार नहीं किया जा सकता।

तृतीयतः प्रांतों द्वारा परिसंघ सूची में दिए गए विषयों में अतिक्रमण की संभावना पर विचार किया जाना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है, इसलिए नहीं कि न्यायाधीश ऐसा मानते हैं अपितु इस कारण कि किसी अधिनियम की विधिमान्यता का अवधारण अतिक्रमण की संभावना का पता लगाकर किया जा सकता है न कि इस बात के अवधारण के प्रयोजनार्थ कि आक्षेपित अधिनियम का तत्त्व और सार क्या है। इसके उपबंध परिसंघ सूची के अन्तर्गत आ सकते हैं और इनसे यह दर्शित हो सकता है कि इनकी वास्तविक प्रकृति का प्रांतीय विषयों से कोई संबंध नहीं है अपितु प्रश्न यह नहीं है कि क्या इससे थोड़ा अतिक्रमण होता है या बहुत अपितु प्रश्न यह विचारणीय है कि अतिक्रमण हुआ और जब कभी अतिक्रमण हो तो यह दर्शित किया जाना चाहिए कि आक्षेपित अधिनियम का तत्त्व और सार पैसा उधार लेना नहीं अपितु प्रॉमसरी नोट या बैंककारी है? एक बार इस प्रश्न का अवधारण किया जाना चाहिए कि अधिनियम एक सूची के अन्तर्गत आता है या दूसरी के अन्तर्गत और इसकी अन्तर्वस्तु के अनुसार इसकी विधिमान्यता या अविधिमान्यता पर विचार किया जा सकता है।"

65. इस संबंध में (1) **द सेंट्रल प्रोविन्सेज एण्ड बेरार ऐक्ट, 1938 का 14**[1], (2) **गवर्नर जनरल इन कौंसिल** बनाम **प्रोविन्स आफ मद्रास**[2], (3) **भारत संघ** बनाम **एच० एस० ढिल्लो**[3] और (4) **जम्मू-कश्मीर राज्य एम० एस० फारुकी**[4] वाले मामले दृष्टव्य हैं जिनमें उपर्युक्त **सुब्रह्मण्यम चेट्टियार**[5] वाले मामले में अधिकथित कथन के प्रति निर्देश किया गया।

66. राज्य सूची की सुसंगत प्रविष्टियों अर्थात् प्रविष्टि 1 और 64 के प्रति निर्देश किया जा सकता है और ये इस प्रकार है :

"प्रविष्टि 1. लोक व्यवस्था (किन्तु इसके अन्तर्गत सिविल शक्ति की सहायता के लिए नौसेना, सेना या वायु सेना या संघ के किसी अन्य सशस्त्र बल का या संघ के नियंत्रण के अधीन किसी अन्य बल का या उसकी किसी टुकड़ी या यूनिट का प्रयोग नहीं है)।"

"प्रविष्टि 64. इस सूची के विषयों में से किसी विषय से संबंधित विधियों के विरुद्ध अपराध।"

---

[1] ए० आई० आर० 1939 एफ० सी० 1.

[2] ए० आई० आर० 1945 पी० सी० 98.

[3] [1972] 2 एस० सी० आर० 33.

[4] [1972] 3 एस० सी० आर० 881.

[5] 1940 एस० सी० आर० 188.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

67. गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 के अधीन प्रान्तीय विधानमण्डल को प्रांतीय सूची में दिए गए विषयों की बाबत विधि अभिनियमित करने की शक्ति प्रदान की गई है और प्रांतीय सूची के मद सं० 1 में लोक व्यवस्था (किन्तु इसके अंतर्गत सिविल शक्ति की सहायता के लिए सम्राट की नौसेना, सेना या वायु सेना का प्रयोग सम्मिलित नहीं है) का वर्णन है।

68. **लखी नारायण दास** बनाम **बिहार प्रांत**[1] वाले मामले में "लोक व्यवस्था" अभिव्यक्ति को एक "अत्यधिक व्यापक शब्द" के रूप में परिभाषित किया गया और यह अभिनिर्धारित किया गया कि "प्रांत के भीतर लोक व्यवस्था बनाए रखना प्राथमिकतः उस प्रांत की चिंता का विषय है।" आगे यह भी मताभिव्यक्ति की गई कि यदि विधानमण्डल ने अपनी शक्तियों का अधिक प्रयोग नहीं किया है, तो न्यायालयों के लिए विधानमण्डल की बुद्धिमता या नीति की आलोचना करना उचित नहीं होगा। **रमेश थापर** बनाम **मद्रास राज्य**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित करते हुए कि "लोक व्यवस्था" का व्यापक अर्थ है और इससे राज्य की ऐसी प्रशांति दर्शित है जो ऐसी सरकार द्वारा जो उन्होंने स्थापित की है प्रवृत्त आंतरिक विनियमों के परिणामस्वरूप किसी राजनीतिक समाज के सदस्यों के मध्य विद्यमान है। न्यायालय ने "लोक व्यवस्था" और "राज्य की सुरक्षा" के मध्य भेद किया है। समवर्ती सूची की प्रविष्टि 3 के प्रति निर्देश के पश्चात्, न्यायालय ने यह मताभिव्यक्ति की :

> "अतः संविधान की यह अपेक्षा है कि लोक व्यवस्था और प्रशांति के क्षेत्र के मध्य एक रेखा खींची जाए और साधारणतः ऐसी गम्भीर और बदतर लोक अव्यवस्था के मध्य अन्तर स्पष्ट किया जाए जिससे राज्य की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न होने की आशंका है और विशुद्धतः स्थानीय महत्त्व की शांति के अपेक्षाकृत छोटे-मोटे भंगों को स्पष्ट किया जाए और इस प्रयोजनार्थ अन्तर को उनके प्रकार का अन्तर माना जाए।"

69. **डा० राम मनोहर लोहिया** बनाम **बिहार राज्य**[3] वाले मामले में न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला (जो तत्समय विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति थे) ने "विधि और व्यवस्था" "लोक व्यवस्था" और "राज्य की सुरक्षा" के मध्य अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह मताभिव्यक्ति की :

> "अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार इस न्यायालय के पूर्व उद्धृत न्यायादेशों में "लोक व्यवस्था" में "राज्य की सुरक्षा" को प्रभावित करने वाली लोक अव्यवस्था की अपेक्षा कम गंभीर लोक अव्यवस्था को समाविष्ट बताया गया है, उसी प्रकार "विधि-व्यवस्था" में भी "लोक व्यवस्था" को प्रभावित करने वाली लोक अव्यवस्था की अपेक्षा कम गंभीर लोक अव्यवस्था समाविष्ट है। हमें इन तीनों संकेंद्रित वृत्तों का ध्यान रखना चाहिए। विधि-व्यवस्था एक बहुत बड़ा वृत्त है जिस के भीतर स्थित वृत्त लोक-व्यवस्था का द्योतक है और सबसे छोटा वृत्त राज्य की

[1] 1949-50 एफ० सी० आर० 693.

[2] 1950 एस० सी० आर० 598.

[3] [1966] 1 एस० सी० आर० 709.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

सुरक्षा का द्योतक है। तब यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि किसी कार्य से विधि-व्यवस्था प्रभावित हो सकती है लोक व्यवस्था नहीं और उसी प्रकार किसी कार्य से लोक व्यवस्था प्रभावित हो सकती है राज्य की सुरक्षा नहीं।"

70. राज्य के केवल राज्यक्षेत्र की परिसीमाओं के भीतर लागू होने वाली विधि अधिनियमित किए जाने की बाबत राज्य विधानमण्डल की विधायी शक्ति पर अनुच्छेद 245(1) द्वारा रोपित परिसीमा को ध्यान में रखते हुए राज्य सूची की प्रविष्टि 1 के अधीन "लोक व्यवस्था" से संबंधित विधान के क्षेत्र की परिधि ऐसी बहुत ही कम गंभीर प्रकृति की अव्यवस्था तक ही सीमित है जो राज्य की सीमाओं के अंतर्गत प्रभाव रखती है। ऐसी गंभीर प्रकृति के क्रियाकलाप जिनसे संपूर्ण देश की सुरक्षा और अखंडता को खतरा है राज्य सूची की प्रविष्टि 1 के अधीन राज्यों के विधायी क्षेत्र के अंतर्गत नहीं होंगे अपितु भारत की सुरक्षा से संबंधित संघ सूची की प्रविष्टि 1 की परिधि के अंतर्गत आएंगे तथा प्रत्येक स्थिति में अनुच्छेद 248 के साथ पठित संघ सूची की प्रविष्टि 97 के अधीन संसद् को प्रदत्त अवशिष्टि शक्ति के अधीन आएंगे। याची संसद् की विधायी सक्षमता की बाबत अधिनियम की विधि-मान्यता को चुनौती देने के अपने प्रयास में केवल तभी सफल हो सकते हैं यदि अधिनियम में ऐसी लोक व्यवस्था से संबंधित क्रियाकलापों का वर्णन है जो किसी विशिष्ट राज्य क्षेत्र तक ही सीमित हैं।

71. आक्षेपित अधिनियमितियों के तत्व और सार, इन अधिनियमों की उद्देशिका, उद्देश्य और कारण के कथन, विधिक महत्त्व और इनके उपबंधों के आशय को ध्यान में रखते हुए, इनकी व्याप्ति और इन अधिनियमों द्वारा पूरे किए जाने वाले उद्देश्य के साथ संबंध की आतंकवाद के बढ़ते प्रकोप के कारण, जिसके परिणामस्वरूप अनेक बम विस्फोट हुए और जिनमें संपत्ति को व्यापक हानि पहुंची, सैकड़ों लोग मारे गए, होने वाली अनेक घटनाओं की समग्र पृष्ठभूमि में वस्तुनिष्ठ रूप में परीक्षा की जानी चाहिए। इस आतंकवाद के कारण घटने वाली जानलेवा घटनाओं में भारत माता के वक्ष पर उसके सपूतों के रक्त की होली खेली गई है और निहत्थे तथा निर्दोष लोगों को जिनमें विशेष रूप से निर्धन सम्मिलित हैं मौत के घाट उतार दिया गया है मानो कि उन सबको "मृत्यु का दिन" आ गया था अथवा वे सब "मानव बलि" के लिए ही बने थे। इतना ही नहीं हिंसा की इस ज्वाला में असंख्य सैनिकों, सीमा सुरक्षा बल के जवानों, सरकारी कर्मचारियों, राजनीतिज्ञों, राजनेताओं, धार्मिक पंथों के मठाधीशों की बम और अत्याधुनिक घातक आयुधों के प्रयोग द्वारा बड़े ही जघन्य रूप में और निर्ममतापूर्वक हत्या की गई है और आज लोगों के मन में यह विश्वास बैठ गया है कि विधि द्वारा स्थापित सरकार को उखाड़ फेंककर भारत की प्रभुसत्ता को अस्थिर बनाने का प्रयास किया जा रहा है। आज जिस प्रकार अभिकथित हिंसक अपराध किए जा रहे हैं और जिस रीति में उन्हें निर्दयतापूर्वक अंजाम दिया जा रहा है और जिस प्रकार आज संवेदनशील सीमांत क्षेत्रों को व्यापक और अप्रकोपित हिंसक घटनाओं की ज्वाला में धकेला जा रहा है, इससे यह बात निश्चित रूप से स्पष्ट हो जाती है कि आतंकवादियों और विध्वंसकारियों के क्रियाकलाप इस तथ्य के बावजूद कि चाहे ये खतरे और चुनौतियां बाह्य आक्रमण अथवा आतंरिक उपद्रव के कारण क्यों न सही भारत की प्रभुसत्ता और सुरक्षा के अस्तित्व के लिए चुनौती बने हुए हैं।

72. मुख्य न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला ने अरुण घोष बनाम पश्चिम बंगाल राज्य[1] वाले मामले में यह कहा कि "टाडा" अधिनियम में आतंकवाद अनुध्यात है किंतु इसे "लोक-व्यवस्था" के मात्र ऐसे भंग के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है कि इससे किसी विनिर्दिष्ट स्थान के सामुदायिक जीवन की गति बाधित हो अपितु आतंकवाद इससे भी बढ़कर है। यह एक ऐसी गंभीर आकस्मिक स्थिति है जो बाह्य शक्तियों विशेषकर इस देश की सीमा पर स्थित अथवा अंतरराष्ट्रीय शक्तियों द्वारा भारत के प्रजातांत्रिक ढांचे के अस्तित्व और उसकी प्रभुसता को चुनौती देकर उत्पन्न की गई है।

73. उपर्युक्त मत की पुष्टि 1987 के अधिनियम सं० 28 की धारा 2(1)(ज) में यथापरिभाषित "आतंकवादी कार्य" अभिव्यक्ति की परिभाषा से होती है जिसमें यह कहा गया है कि उक्त अभिव्यक्ति का "वही अर्थ है जो धारा 3 की उपधारा (1) में दिया गया है" जिसके अनुसार इसमें विनिर्दिष्ट कोई एक अपराध या अधिक करने का आशय स्पष्टतः परिभाषित उद्देश्यों में से कोई न कोई अवश्य होना चाहिए और वही बात धारा 3(1) में अभिव्यक्ततः इस प्रकार दी गई है :—

> "जो कोई विधि द्वारा स्थापित सरकार को आतंकित करने या जनता या जनता के किसी वर्ग में आतंक फैलाने या जनता के किसी वर्ग को पृथक् करने या जनता के विभिन्न वर्गों के बीच सौहार्द पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के आशय से.................... ....
> कोई कार्य या बात करता है, तो वह आतंकवादी कार्य करता है।"

74. इसी प्रकार धारा 2(1)(घ) में यथापरिभाषित "विध्वंसक क्रियाकलाप" अभिव्यक्ति का वही अर्थ है जो धारा 4 में इसे दिया गया है। धारा 4(1) में विध्वंसक क्रियाकलापों के लिए केवल दण्ड की मात्रा विहित है। धारा 4(2) में दी गई इस अभिव्यक्ति का अर्थ इस प्रकार है :—

> "4(2). उपधारा (1) के प्रयोजनों के लिए "विध्वंसक क्रियाकलाप" से कार्य द्वारा या भाषण द्वारा या किसी अन्य माध्यम द्वारा या किसी भी अन्य रीति से की गई कोई ऐसी कार्रवाई अभिप्रेत है :—
>
> (i) जो प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः भारत की प्रभुता और राज्य क्षेत्रीय अखण्डता को प्रश्नगत करती है, उसमें विघ्न डालती है या विघ्न डालने के लिए आशयित है ; या
>
> (ii) जो संघ से भारत के किसी भाग के अध्यर्पण या भारत के किसी भाग के विलग हो जाने का प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः दावा करने या ऐसे दावे का समर्थन करने के लिए आशयित है।
>
> स्पष्टीकरण—इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए :—
>
> (क) "अध्यर्पण" के अंतर्गत भारत के किसी भाग के लिए किसी विदेश के किसी दावे की स्वीकृति है ; और

---

[1] 1970 (3) एस० सी० आर० 288.

(ख) "विलग" हो जाने के अंतर्गत यह अवधारण करने के लिए किसी दावे का प्राख्यान है कि भारत का कोई भाग संघ में रहेगा या नहीं।"

75. उपर्युक्त परिभाषाओं से स्वयंमेव यह स्पष्ट है कि अधिनियम (1987 का 28—"टाडा") की उद्देशिका में दी गई "आतंकवादी और विध्वंस क्रियाकलाप" अभिव्यक्ति में किसी विनिर्दिष्ट आशय से किसी विनिर्दिष्ट अपराध या अपराधों का किया जाना अनुध्यात है जिनमें से एक "विधि द्वारा स्थापित सरकार को आतंकित करना" है [धारा 3(1) दृष्टव्य है] और "कार्य द्वारा या भाषण द्वारा या किसी अन्य माध्यम द्वारा या किसी अन्य रीति से की गई कोई ऐसी कार्रवाई जो प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः भारत की प्रभुता और राज्यक्षेत्रीय अखण्डता को प्रश्नगत करती है, उसमें विघ्न डालती है या विघ्न डालने के लिए आशयित है या जो संघ से भारत का प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः दावा करने या ऐसे दावे का समर्थन करने के लिए आशयित है" [धारा 4(2) दृष्टव्य है]।

76. अतः, श्री जेठमलानी की यह दलील कि अधिनियम की उद्देशिका से इस बात का पता चलता है कि आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलापों से लोक व्यवस्था के भंग का प्रचण्ड रूप अभिप्रेत है मात्र काल्पनिक है और इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

77. हमारे विचार में आक्षेपित विधान सूची 2 की प्रथम प्रविष्टि अर्थात् "लोक व्यवस्था" के अंतर्गत नहीं आता है। सूची 2 की किसी और प्रविष्टि का आश्रय नहीं लिया गया है। अतः आक्षेपित अधिनियम अनुच्छेद 248 के साथ पठित सूची 1 की प्रविष्टि 97 को दृष्टिगत करते हुए संसद् की विधायी सक्षमता के अंतर्गत आता है और इस बाबत विचार करना आवश्यक नहीं है कि क्या यह सूची 1 या सूची 3 में की किसी प्रविष्टि के अंतर्गत आता है। तथापि, हमारा यह मत है कि आक्षेपित अधिनियम सूची 1 की प्रथम प्रविष्टि अर्थात् "भारत की सुरक्षा" के अंतर्गत आएगा।

78. श्री हरदेव सिंह ने भी अपनी लिखित दलीलों में 1984 के अधिनियम सं० 61 की शक्तिमत्ता को विभिन्न आधारों (जिनके बारे में हम "टाडा" अधिनियम के विभिन्न उपबंधों जिनमें से एक विधायी सक्षमता से संबंधित है की परीक्षा करते समय अलग से चर्चा करेंगे) पर चुनौती दी। विद्वान काउंसेल ने आक्षेपित अधिनियम की विधिक सक्षमता को प्रश्नगत करते हुए वही तर्क दिए जो श्री बलवंत सिंह मलिक ने दिए थे। अपनी दलील के समर्थन में उसने **डॉ० राममनोहर लोहिया** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले को उद्धृत किया जिसमें इस न्यायालय ने भारत के सुरक्षा नियम, 1962 के नियम 30(1)(ख) की चर्चा करते हुए "लोक व्यवस्था" "विधि-व्यवस्था" और "भारत की सुरक्षा" के मध्य के अंतर को स्पष्ट किया।

79. 1984 के अधिनियम सं० 61 की धारा 2(1)(i) में परिभाषित "आतंकवादी क्षेत्र" से ऐसा क्षेत्र अभिप्रेत है जिसे धारा 3 में आतंकवादी क्षेत्र घोषित किया गया है। धारा 3(1) इस प्रकार है :—

"3(1). यदि केन्द्रीय सरकार की यह राय है कि आतंकवादी किसी क्षेत्र में अनुसूची में विनिर्दिष्ट प्रकृति के अपराध इस पैमाने पर और इस रीति से कर रहे

---

[1] 1966 (1) एस० सी० आर० 709.

हैं कि ऐसे आतंकवादियों की गतिविधियों से निपटने के प्रयोजन के लिए इस अधिनियम के उपबंधों का आश्रय लेना समीचीन है, तो वह अधिसूचना द्वारा :—

(क) ऐसे क्षेत्र को आतंकवादी क्षेत्र घोषित कर सकेगी ; और

(ख) ....

80. धारा 2(1)(ज) में "आतंकवादी" शब्द इस प्रकार परिभाषित है :—

"2(1)(ज). "आतंकवादी" से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जो—

(i) जनता या जनता के किसी वर्ग को भयभीत करने ; या

(ii) भिन्न-भिन्न धार्मिक, मूलवंशीय, भाषायी या प्रादेशिक समूहों या जातियों या समुदायों के बीच सौहार्द पर प्रतिकूल प्रभाव डालने ; या

(iii) विधि द्वारा स्थापित सरकार को प्रपीड़ित या आतंकित करने ; या

(iv) भारत की प्रभुता और अखण्डता को संकटापन्न करने, की दृष्टि से व्यक्तियों की निर्मम हत्या करता है या हिंसा करता है या समुदाय के लिए आवश्यक सेवाओं या संचार साधनों को भंग करता है या संपत्ति को नुकसान पहुंचाता हैं।"

81. उपर्युक्त परिभाषा से भी न्यूनाधिक रूप से "टाडा" अर्थात् 1987 के अधिनियम सं० 28 की धारा 3(1) में यथाअपेक्षित आशय अभिप्रेत है और साथ ही 1987 के "टाडा" अधिनियम की धारा 4 में दिए गए रूप में आतंकवादी कार्य करने का हेतु भी होना चाहिए अर्थात् एक ऐसा हेतु कि भारत की संप्रभुता और अखण्डता को खतरा है। संक्षेप में, "आतंकवादी कार्य" और "विध्वंसकारी क्रियाकलाप" अभिव्यक्तियों को क्रमश: 1987 के अधिनियम सं० 28 ("टाडा") की धारा 2(1)(ज) और (घ) में दी गई परिभाषा के अधीन रखा गया है। अत:, यह नहीं कहा जा सकता कि 1984 के अधिनियम में केवल "लोक व्यवस्था" को ही अनुध्यात किया गया है अपितु भारत की प्रभुता और अखण्डता को संकटापन्न करने वाली अति गंभीर स्थिति भी परिकल्पित है।

82. उपर्युक्त समस्त कारणोंवश, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि यह दलील कि 1984 का अधिनियम सं० 61, 1985 का अधिनियम सं० 31 और 1987 का अधिनियम सं० 28 विधायी सक्षमता से दोषग्रस्त होने के आधार पर अधिकारातीत है और इस प्रकार ये सभी अधिनियम अभिखण्डित किए जाने योग्य हैं नामंजूर की जाती है और तद्नुसार इस दलील को इस आधार पर नामंजूर किया जाता है कि इसमें कोई सार नहीं है।

83. अगला मुख्य विवाद्यक जिसकी हमें गहनतापूर्वक समीक्षा और संवीक्षा करनी है. यह है कि क्या आक्षेपित अधिनियम सामान्यत: और इनके कोई उपबंध विशिष्टत: संविधान के भाग-3 में विनिर्दिष्ट किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करते हैं। सभी विद्वान काउंसेलों जिन्होंने इन अधिनियमों की शक्तिमत्ता और इनके उपबंधों को चुनौती दी है ने अपने विधिक तर्क विषयानुसार और अधिनियमों के पृथक्-पृथक् उपबंधों दोनों के संदर्भ में प्रस्तुत किए।

84. उनके शास्त्रार्थ पर विचार करते हुए, शीघ्र विचारण की प्रतिपादना को जो कि इन अधिनियमों का मुख्य उद्देश्य है चुनौती दी गई है। विद्वान काउंसेल ने यह दलील दी कि यद्यपि 1984 के अधिनियम सं० 61 (विशेष न्यायालय अधिनियम) और "टाडा" अधि-

नियम (1985 का अधिनियम सं० 31 और 1987 का अधिनियम सं० 28) का घोषित उद्देश्य आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1984 के अंतर्गत किए गए अनुसूचित अपराधों और "टाडा" अधिनियमों के अधीन "आतंकवादी कार्य" और "विध्वंसक क्रियाकलाप" की परिभाषा के अंतर्गत आने वाले अपराधों का शीघ्र विचारण है, तथापि, वास्तव में इन अधिनियमों में नियमित न्यायालयों में समरूप अपराधों के विचारण की बाबत विद्यमान प्रक्रिया से न केवल व्यापक रूप में विचलन ही किया गया है अपितु विभिन्न रूप से सारभूत अधिकारों का गंभीर अतिक्रमण भी किया गया है जिससे न्यायपालिका की स्वतंत्रता को अपूर्णनीय क्षति तो पहुंची ही है साथ ही सांविधानिक निर्देशों और कानून दोनों को भी पूर्णतः आघात पहुंचा है। उनके अनुसार शीघ्र विचारण के रूप में इन अधिनियमों के प्रक्रियात्मक उपबंध ऋजु विचारण के आधारभूत मूल्यवान सिद्धांतों जिन्हें सदैव से ही विशिष्ट स्थान प्राप्त है अर्थात् यह कि प्रत्येक व्यक्ति को उस समय तक निर्दोष माना जाएगा जब तक कि उसका दोष "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार" युक्तियुक्त संदेह से परे साबित न हो जाए का अतिक्रमण करते हैं।

85. इन अधिनियमों के अधीन विहित प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 21 में विवक्षित अपेक्षाओं को पूरा नहीं करती है क्योंकि उक्त प्रक्रिया न्यायसंगत, ऋजु और उत्तरदायी प्रक्रिया की प्रतिधारणा है। शीघ्र विचारण का उपबंध करने के दिखावे में न केवल प्रक्रियात्मक रक्षोपायों से ऐसे अभियुक्तों को जो 1984 के अधिनियम के अधीन विशेष न्यायालयों या "टाडा" अधिनियम के अधीन अभिहित न्यायालयों द्वारा विचारण किए जाने के अध्यधीन हैं वंचित किया गया है अपितु अधिनियमों में भी ऐसे सारभूत रूप में परिवर्तन किया गया है जिससे अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः इन अधिनियमों द्वारा विहित प्रक्रिया जो संविधान के अनुच्छेद 21 के विरुद्ध है मनमानी, अऋजु, अन्यायपूर्ण और अयुक्तियुक्त अभिनिर्धारित की जानी चाहिए। उपर्युक्त दलील के समर्थन में उन्होंने हमारा ध्यान **मेनका गांधी** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले की ओर आकृष्ट किया जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया कि ऐसी कोई भी विधि जो किसी व्यक्ति को उसके प्राण और स्वतंत्रता से वंचित करे न्यायसंगत और युक्तियुक्त होनी चाहिए। न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने इस मामले में यह कहा, "अनुच्छेद 21 में 'प्रक्रिया' से ऋजु न कि औपचारिक प्रक्रिया" अभिप्रेत है। "विधि" युक्तियुक्त विधि होनी चाहिए न कि किसी प्रकार की अधिनियमित विधि।

86. 1984 के अधिनियम (विशेष न्यायालय) अधिनियम की उद्देशिका इस प्रकार है "आतंकवादी क्षेत्रों में कुछ अपराधों को शीघ्र विचारण के लिए और उनसे संबंधित विषयों का उपबंध करने के लिए अधिनियम"। उद्देशिका का उद्देश्य इस अधिनियम की धारा 3(1) और 4(1) में इस प्रकार परिलक्षित है "केन्द्रीय सरकार, किसी न्यायिक अंचल में किए गए अनुसूचित अपराधों के शीघ्र विचारण की व्यवस्था करने के प्रयोजन के लिए अधिसूचना द्वारा, विशेष न्यायालय......।" यद्यपि 1984 के (विशेष न्यायालय) अधिनियम की भांति "टाडा" अधिनियमों की उद्देशिका या किसी उपबंध में पाई जाने वाली "शीघ्र विचारण" अभिव्यक्ति प्रत्यक्षतः देखने को नहीं मिलती है, फिर भी इन "टाडा" अधिनियमों के विभिन्न उपबंधों की व्याप्ति और आशय से स्पष्टतः यह दर्शित है कि "टाडा" अधिनियमों में भी मामलों का

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 243=1978 (2) एस० सी० आर० 621.

शीघ्र विचारण अनुध्यात है। वास्तव में 1985 के अधिनियम सं० 31 का "उद्देश्य और कारणों का कथन" इस प्रकार है "यह आतंकवाद का नया और प्रत्यक्ष स्वरूप है जिस पर गम्भीरता से ध्यान देने की और प्रभावी रूप में तथा शीघ्रता से निपटाए जाने की आवश्यकता है। इससे यह स्पष्ट है कि अभिहित न्यायालयों का गठन आक्षेपित विधान के अधीन अपराधों के त्वरित और शीघ्र विचारण के लिए किया गया है।

87. अब हम 1987 के अधिनियम सं० 28 ("टाडा") में अंतर्निहित शीघ्र विचारण के सिद्धांत की परीक्षा करेंगे।

88. केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा अधिसूचित क्षेत्र/क्षेत्रों के लिए विनिर्दिष्ट मामलों या वर्ग या मामलों के ग्रुप के विचारण के लिए राजपत्र में अधिसूचना द्वारा एक या अधिक अभिहित न्यायालयों का गठन (1987 के अधिनियम सं० 28 की धारा 9 दृष्टव्य है); अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय प्रत्येक अपराध को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 के खण्ड (ग) के अर्थान्तर्गत संज्ञेय अपराध बना कर मामलों के निपटारे के लिए विहित प्रक्रिया (धारा 20 दृष्टव्य है); सुपुर्दगी कार्यवाहियों से अभिमुक्ति [धारा 14(1)]; अधिनियम के अधीन सभी अपराधों के विचारण के लिए संहिता या किसी अन्य विधि में दी गई किसी बात के होते हुए भी किसी अन्य न्यायालय (जोकि अभिहित न्यायालय नहीं है) में के अभियुक्त के विरुद्ध किसी अन्य मामले के विचारण की बनिस्बत अभिहित न्यायालयों में अधिकारिता निहित करना (धारा 17); अभिहित न्यायालयों को उनके द्वारा विचारण किए जाने वाले ऐसे अपराधों जो संहिता की धारा 260 की उपधारा (1) या 262 में दी गई किसी बात के होते हुए भी संक्षिप्त रूप में संहिता में विहित प्रक्रिया के अनुसार तीन वर्ष से अनधिक अवधि के कारावास या जुर्माने या दोनों से दंडनीय हैं के विचारण के लिए अभिहित न्यायालयों को शक्ति प्रदान करना और जहां तक हो सके धारा 263 से 265 के उपबंधों को भी लागू करके [धारा 14(2) और धारा 14(3) द्वारा किसी अपराध के विचारण के प्रयोजनार्थ अभिहित न्यायालयों में सेशन न्यायालय की शक्ति विनिहित करना] और अभिहित न्यायालयों द्वारा लेखबद्ध किए गए कारणों से अभियुक्त या अभिवक्ता की अनुपस्थिति में भी उनके द्वारा कार्यवाही करने का प्राधिकार प्रदान करना जोकि अभियुक्त द्वारा प्रतिपरीक्षा के लिए साक्षियों को वापस बुलाने के अधिकार के अध्यधीन है [धारा 14(5) दृष्टव्य है]; किसी निर्णय, दंडादेश या आदेश जो कि अंतर्वर्ती आदेश नहीं है, के विरुद्ध अधिकार के रूप में सीधे उच्चतम न्यायालय में अपील का अधिकार [धारा 19(1) इत्यादि] सभी में "टाडा" अधिनियमों के अधीन शीघ्र विचारण की संकल्पना का समावेश है।

शीघ्र विचारण

89. शीघ्र विचारण का अधिकार "मैगना कार्टा" (महाचार्टर) के एक उपबंध से लिया गया है। इस सिद्धांत को 1776 की अधिकारों की वर्जीनिया घोषणा में सम्मिलित किया गया और वहां से इसे संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के छठे संशोधन में सम्मिलित किया गया जो कि इस प्रकार है, "सभी दांडिक अभियोजनों में, अभियुक्त को शीघ्र और लोक विचारण का अधिकार प्राप्त होगा......"।

90. इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि 1974 का परिसंघ अधिनियम है जिसे "शीघ्र विचारण अधिनियम" कहा जाता है जिसके द्वारा गुरुतर घटनाओं अर्थात् दांडिक मामलों में जानकारी, अभ्यारोपण, दोषारोपण को कार्यान्वित करने के लिए एक निश्चित काल सीमा रखी जाती है [ब्लैक कृत विधि शब्दावली (छठा संस्करण) पृ० 1400 दृष्टव्य है]।

91. शीघ्र विचारण का अधिकार न केवल अनुचित और अन्यायपूर्ण कारावास रोकने के लिए, अभियोग से उत्पन्न चिंता और व्यग्रता को कम करने के लिए और अभियुक्त की स्वयं की प्रतिरक्षा करने के सामर्थ्य को आंच न आने देने की संभावना को सीमित करने का महत्त्वपूर्ण रक्षोपाय है अपितु शीघ्र विचारण का उपबंध करने में सामाजिक हित भी निहित है। यह अधिकार अभी हाल ही के वर्षों की उत्पत्ति है और न्यायालयों ने विभिन्न विनिश्चयों में मूल अधिकारों के नवीन आयामों का अनावरण किया है। वास्तव में, न्यायालयों में अत्यधिक और असम्यक् विलंब के आधार पर कार्यवाहियों को इस दलील के साथ कि इस अधिकार का आश्रय लिए जाने के लिए औपचारिक अभ्यारोपण की कोई आवश्यकता नहीं है, अभिखंडित किए जाने के अनेक मामले आ रहे हैं।

92. शीघ्र विचारण की संकल्पना जो कि अनुच्छेद 21 में दी गई है हमारे संविधान में प्रत्याभूत और परिलक्षित प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार का आवश्यक भाग है। शीघ्र विचारण का अधिकार उस समय प्रारंभ होता है जब गिरफ्तारी और परिणामस्वरूप कारावास द्वारा अवरोध उत्पन्न किए जाते हैं और वे सभी प्रक्रमों पर अर्थात् अन्वेषण जांच, विचारण, अपील और पुनरीक्षण के प्रक्रम पर जारी रहते हैं ताकि किसी भी प्रकार के संभाव्य प्रतिकूल प्रभाव को जो अपराध किए जाने के समय से उसके पूरा होने तक अनुज्ञेय और परिहार्य विलंब के परिणामस्वरूप होगा टाला जा सके। इस संदर्भ में यह उल्लेख किया जा सकता है कि शीघ्र विचारण की सांविधानिक प्रत्याभूति दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 309 में समुचित रूप में परिलक्षित है।

93. इस न्यायालय ने **हुसैन आरा खातून और अन्य बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य**[1] वाले मामले में संविधान के अनुच्छेद 21 की चर्चा करते हुए यह मताभिव्यक्ति की :

> "ऐसी कोई भी प्रक्रिया जो युक्तियुक्त रूप से शीघ्र विचारण सुनिश्चित नहीं करती है "युक्तियुक्त, ऋजु या न्यायसंगत" नहीं मानी जा सकती है और यह अनुच्छेद 21 के विरुद्ध होगी। अतः, इस बाबत किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि शीघ्र विचारण से हमारा अभिप्राय युक्तियुक्त रूप से शीघ्र विचारण है और शीघ्र विचारण संविधान के अनुच्छेद 21 में दी गई प्राण और स्वतंत्रता के मूल अधिकार का अभिन्न और आवश्यक भाग है। तथापि यह प्रश्न उद्भूत होता है कि यदि किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति को शीघ्र विचारण से वंचित किया जाता है और संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन मूल अधिकार के अतिक्रमण में शीघ्र और अत्यधिक विलंबित विचारण के परिणामस्वरूप कारावास द्वारा उसकी स्वतंत्रता से वंचित किया जाना ईप्सित है तो परिणाम क्या होगा। क्या वह इस आधार पर कि उसका विचारण असम्यक् दीर्घ कालावधि के पश्चात् किया जा रहा है और उसे ऐसे

---

[1] [1980] 2 उम० नि० प० 763=1980 (1) एस० सी० सी० 81-89.

विचारण के पश्चात् सिद्धदोष घोषित किया जाना अनुच्छेद 21 के अधीन उसके मूल अधिकार का अतिक्रमण गठित करेगा उस आरोप से जो उसके विरुद्ध लगाया गया बिना शर्त मुक्त किए जाने पर छोड़े जाने का हकदार होगा।"

94. इस बाबत **सुनील बत्रा** बनाम **दिल्ली प्रशासन**[1], **हुसैन आरा खातून और अन्य** बनाम **गृह सचिव, बिहार राज्य**[2], **हुसैन आरा खातून** बनाम **गृह सचिव, बिहार राज्य**[3], **हुसैन आरा खातून और अन्य** बनाम **गृह सचिव, बिहार राज्य, बिहार सरकार, पटना**[4], **करदा पहाड़िया** बनाम **बिहार राज्य**[5], **टी० वी० वतीश्वरण** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[6] और **अब्दुल रहमान अंतुले** बनाम **आर० एस० नायक**[7] वाले मामलों का भी परिशीलन किया जा सकता है।

95. इस प्रकार इस न्यायालय ने अनेक न्यायिक निर्णयों द्वारा इस बाबत जोर दिया और बार-बार यह जोर दिया कि शीघ्र विचारण संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार का एक पहलू है और विधि द्वारा "युक्तियुक्त, न्यायसंगत और ऋजु" प्रक्रिया सुनिश्चित की जानी चाहिए और उपर्युक्त **मेनका गांधी**[8] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के पश्चात् इन शब्दों का सर्जनात्मक अभिप्राय है।

96. संयुक्त राज्य अमरीका की उच्चतम न्यायालय के उन दो विनिश्चयों के प्रति निर्देश करना उपयुक्त रहेगा जिनमें शीघ्र विचारण की व्याप्ति पर विचार किया गया जो कि संयुक्त राज्य अमरीका के छठे संशोधन द्वारा अंतःस्थापित प्रत्याभूत मूल अधिकार है।

97. **बीवर्स** बनाम **हॉवर्ट**[9] वाले मामले में संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने यह मताभिव्यक्ति की :

> "शीघ्र विचारण का अधिकार अवश्यमेव ही आपेक्षिक है। यह विलंब के संगत नहीं है और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यह प्रतिवादी के अधिकारों को सुरक्षित रखता है। यह लोक न्याय के अधिकारों को प्रविरत नहीं करता है।"

98. शीघ्र विचारण के आधार पर दाण्डिक कार्यवाही खारिज किए जाने के लिए अभियुक्त द्वारा न्यायालय में समावेदन करने के अधिकार को मान्यता प्रदान करते हुए, अमरीकी उच्चतम न्यायालय ने **स्ट्रंक** बनाम **युनाइटेड स्टेट्स**[10] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि अभियुक्त को शीघ्र विचारण के अधिकार से वंचित किए जाने के परि-

---

[1] [1979] 3 उम० नि० प० 407=1979 (1) एस० सी० आर० 392.

[2] [1980] 2 उम० नि० प० 772=1979 (3) एस० सी० आर० 169.

[3] [1980] 2 उम० नि० प० 793=[1979] 3 एस० सी० आर० 532.

[4] [1980] 2 उम० नि० प० 805=1979 (3) एस० सी० आर० 1276.

[5] 1983 (2) एस० सी० सी० 104.

[6] [1983] 2 उम० नि० प० 1256=1983 (2) एस० सी० आर० 348

[7] 1992 (1) एस० सी० सी० 225.

[8] [1979] 1 उम० नि० प० 243=1978 (2) एस० सी० आर० 621.

[9] 198 यू० एस० 77, 87 (1905).

[10] 412 यू० एस० 434 (1973).

णामस्वरूप अभ्यारोपण खारिज हो जाएगा या दोषसिद्धि उलट दी जाएगी। इस संबंध में **युनाइटेड स्टेट्स बनाम मेकडोनाल्ड**[1] वाले मामले का भी परिशीलन किया जा सकता है।

99. वास्तव में, इस सिद्धांत के अधीन समीक्षा किए जाने के लिए कदाचित कोई समय सीमा निश्चित नहीं है और न ही अभियुक्त से मामलों के निपटारे के विलंब के कारण पड़ने वाले वास्तविक प्रतिकूल प्रभाव को दर्शित करने के लिए कहा जा सकता है। दूसरी ओर न्यायालय को अभियुक्त को परिहार्य विलंब द्वारा होने वाले संभाव्य प्रतिकूल प्रभावों और असुविधाओं को ध्यान में रखते हुए और इस बाबत अवधारण के लिए कि क्या अभियुक्त को दांडिक कार्यवाही में अयुक्तियुक्त विलंब सहित शीघ्र विचारण के उसके अधिकार से वंचित किया गया है संतुलनकारी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और इन बातों का पता इन कारणों द्वारा लगाया जाना चाहिए : (1) कालावधि (2) विलंब के लिए औचित्य, (3) अभियुक्त द्वारा अपने शीघ्र विचारण के अधिकार का प्राख्यान और (4) ऐसे विलंब द्वारा अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव। तथापि, विलंब का तथ्य प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है क्योंकि विलंब के कारण भिन्न-भिन्न होंगे यथा अपराधों का व्यापक शाखा-विस्तारण और इसके राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अभिहित तंत्र के कारण अन्वेषण में विलंब, साक्षी या साक्षियों की जानबूझकर अनुपस्थिति न्यायालय की फाइल पर निर्णय-सूचियों की भरमार आदि।

100. जब विवाद के विवाद्यक की शीघ्र विचारण के उपर्युक्त संक्षिप्त रूप में निरूपित सिद्धांत के प्रकाश में परीक्षा की जाती है, तो उक्त सिद्धान्त जो कि 1984 के अधिनियम सं० 61 (विशेष न्यायालय अधिनियम) में अभिव्यक्ततः अनुध्यात है और दो "टाडा" अधिनियमों के उपर्युक्त विभिन्न उपबंधों के अधीन प्रकट हैं स्पष्टतः इन अधिनियमों की आवश्यक विशिष्टता के रूप में अंतःस्थापित है। आक्षेपित अधिनियमों के अधीन मामलों में शीघ्र विचारण को अपनाने की बाबत किसी प्रकार का संविवाद या मतभेद नहीं है अपितु प्रश्न यह है कि क्या विहित प्रक्रिया संविधान के किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण करती है।

101. एक और तर्क अर्थात् संविधान के अनुच्छेद 21 में वर्णित न्यायसंगत और ऋजु विचारण की बाबत पहले यह कहते हुए दिया गया कि जब आपातकाल की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो और जब संविधान के भाग-3 द्वारा प्रदत्त सभी मूल अधिकारों को प्रवर्तित किया जा सके, तो ऋजु विचारण के अधिकार को मिटाया या समाप्त नहीं किया जा सकता है और द्वितीयतः जब आपातकाल की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो, तो भी राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 359 (1) के अधीन आदेश द्वारा यह घोषित कर सकता है कि भाग-3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए किसी न्यायालय में समावेदन का अधिकार और इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए किसी न्यायालय में सभी कार्यवाहियां आपातकाल के दौरान निलंबित रहेंगी किंतु अनुच्छेद 20 और 21 द्वारा प्रदत्त अधिकार नहीं। संक्षेप में, संविधान के अनुच्छेद 20 और 21 के अधीन प्रदत्त मूल अधिकारों का प्रवर्तन कराया जा सकता है और आपातकाल के दौरान भी मूल अधिकारों को प्रवर्तित किया जा सकता है। इसे बेहतर रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि आपातकाल के दौरान भी अनुच्छेद 20 और

[1] 435 यू० एस० 850 (1977).

1994(3) eILR(PAT) SC 1

21 के प्रवर्तन की छूट की बाबत विधायी इतिहास का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है ।

102. संविधान (चवालीसवें संशोधन) अधिनियम, 1978 जो 20 जून, 1979 से प्रवर्तन में आया अधिनियमित किए जाने से पूर्व भाग-3 द्वारा प्रदत्त समस्त अधिकार जिनमें अनुच्छेद 20 और 21 भी सम्मिलित हैं आपातकाल के दौरान निलंबित किए जा सकते थे । किंतु चवालीसवें संशोधन के "उद्देश्य और कारणों" में वर्णित कारणों से उपर्युक्त संशोधन अधिनियम द्वारा छूट प्रदान की गई । ये "उद्देश्य और कारण" इस प्रकार हैं :

उद्देश्य और कारण

> "अभी हाल ही के अनुभव से यह दर्शित है कि संविधान द्वारा नागरिकों को मंजूर किए गए मूल अधिकारों जिनमें प्राण और स्वतंत्रता का अधिकार सम्मिलित है का अस्थायी बहुमत द्वारा हरण किया जा सकता है । अतः, इस बाबत कि ऐसी आकस्मिकता भविष्य में पुनः उद्भूत न हो और लोगों द्वारा उस सरकार के रूप का अवधारण करने में जिसमें वे रहना पसंद करेंगे प्रभावी भूमिका अदा करने की बाबत सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त रक्षोपाय उपबंधित करना आवश्यक है । यही इस विधेयक का प्राथमिक उद्देश्य है ।..............................
>
> आपातकालीन उपबंधों के दुरुपयोग को पुनः नियंत्रित करने के लिए और प्राण तथा स्वतंत्रता के अधिकार को सुरक्षित बनाने के लिए यह उपबंधित किया जाता है कि किसी मूल अधिकार के प्रवर्तन के लिए न्यायालय में समावेदन करने के अधिकार को निलंबित करने की शक्ति का प्राण और स्वतंत्रता के मूल अधिकार के संबंध में प्रयोग नहीं किया जाता है.............................."

103. उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संसद ने संविधान के (चवालीसवें संशोधन) अधिनियम, 1979 की धारा 40 द्वारा अनुच्छेद 359 के खण्ड (1) और (1क) में दिए गए इन शब्दों "भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकार" के स्थान पर "भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकार (अनुच्छेद 20 और 21 को छोड़कर)" प्रतिस्थापित किए ।

104. इस बाबत इंकार नहीं किया जा सकता है कि जब चुनौती दिए गए तीनों अधिनियम अधिनियमित किए गए थे, उस समय आपातकाल नहीं था । अतः 1984 के अधिनियम के अधिनियमित किए जाने के समय से भाग 3 के अधीन सभी मूल अधिकार प्रवर्तनीय अधिकार बने रहे । किंतु पक्षकारों की यह दलीलनहीं है कि आक्षेपित अधिनियम या इनके समरूप कोई अधिनियम आपातकाल की उद्घोषणा के अभाव में अधिनियमित नहीं किया जाना चाहिए । इस बाबत बार-बार जोर देने की कोई आवश्यकता नहीं है कि संविधान के किसी उपबंध का अतिलंघन किए बिना कोई विधि अधिनियमित करना संसद् का कर्तव्य है और इस प्रकार अधिनियमित किए जाने की आवश्यकता को देखते हुए ऐसा करना उसकी विधायी सक्षमता के अन्तर्गत आता है ।

105. अब हम इन मुख्य प्रश्नों की परीक्षा करेंगे जिनमें प्रथम यह है कि (1) क्या 1984 और 1987 के अधिनियमों के अधीन विहित प्रक्रिया न्यायसंगत, ऋजु और युक्ति युक्त प्रक्रिया की प्रतिकूल धारणा है; (2) क्या उन प्रक्रिया संबंधी रक्षोपायों से जिनके लिए

अभियुक्त हकदार है उस पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए और उसे असुविधा उत्पन्न करते हुए पूर्णतः वंचित किया जाना चाहिए; (3) क्या अधिनियम प्रकृति में अत्याचार और निरंकुशता से परिपूर्ण हैं और लागू किए जाने की बाबत विभेदकारी हैं और (4) क्या इन अधिनियमों के उपबंध अनुच्छेद 14, 17 और 21 में सम्मिलित मूल अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं।

106. अब हम उपर्युक्त सभी जटिल प्रश्नों की गहनतापूर्वक संवीक्षा करेंगे जिन पर हमारे समक्ष पक्षकारों द्वारा अपनी-अपनी दलीलें दी गईं और जो समाधानप्रद निष्कर्ष निकालने के लिए न्यायालय के लिए पर्याप्त चिंता का विषय है और दोनों पक्षकारों द्वारा दी गई पुरजोर विधिक दलीलों की सावधानीपूर्वक समीक्षा करते हुए इन अधिनियमों के विभिन्न उपबंधों के सन्दर्भ में विभिन्न विषयों की परीक्षा करेंगे तथा यह विनिश्चय करेंगे कि क्या आक्षेपित किए जाने वाले उपबंधों का वाचन संकुचित अर्थ में या व्यापक अर्थ में किया जाना चाहिए।

"दुष्प्रेषण करना" शब्द की परिभाषा

107. यह गंभीर दलील दी गई कि 1987 के अधिनियम की धारा 2(1) (क) में "दुष्प्रेरित करना" शब्द की परिभाषा स्पष्ट नहीं है और अऋजुता का प्रथम उदाहरण है और पर्याप्त रूप में इतनी अस्पष्ट है कि अत्याचार को जन्म देती है और इस संदिग्ध परिभाषा से उन निर्दोष व्यक्तियों को भी जो किसी प्रकार के नैतिक दोष से मुक्त हैं गिरफ्तार और निरुद्ध करके अभियोजित किया जा सकता है। आगे यह भी कहा गया कि "दुष्प्रेरित करना" शब्द दण्ड विधि की प्रत्येक विधिसम्मत आवश्यकता और प्रयोजन को पूरा करने के लिए भारतीय दण्ड संहिता की धारा 107 में पर्याप्त रूप में परिभाषित है और अधिनियम में दिए गए शब्द की परिभाषा जिससे मनमानेपन का आभास होता है उपर्युक्त **मेनका गांधी**[1] वाले मामले में प्रतिपादित कथन के अन्तर्गत अऋजुता का प्रथम उदाहरण है और संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 की अतिक्रमणकारी होने के कारण अभिखण्डित किए जाने योग्य है।

108. विद्वान अपर महासालिसिटर ने उपर्युक्त दलीलों का खण्डन करते हुए यह कहा कि "दुष्प्रेरित करना" शब्द की विस्तारित परिभाषा उस अवधि के दौरान जब आतंकवादी क्रियाकलाप किसी अधिसूचित क्षेत्र में बड़े पैमाने पर और व्यापक रूप में किए जा रहे हैं और ऐसे विक्षुब्ध समय में अभियोजन पक्ष के लिए भौतिक तथ्यों को साबित करते हुए "आपराधिक मनःस्थिति" या "आशय" को साबित करना कठिन है अधिनियम के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए है। उसने आगे यह भी कहा कि यह दलील कि परिभाषा अस्पष्ट है आधारहीन है क्योंकि उक्त परिभाषा मात्र समावेशी और निदर्शी है और ये बातें व्यापक प्रकृति नहीं हो सकतीं। उसने अनेक अधिनियमितियों के विभिन्न उपबंधों को सूचीबद्ध किया जिनमें आपराधिक मनःस्थिति के तत्त्व के सबूत को अपवर्जित किया गया है अर्थात् (1) खाद्य अपमिश्रण अधिनियम, 1954 की धारा 7 और 16; (2) विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम की धारा 8 (1), 23 (क) और 23 (1) (क); (3) समुद्री सीमा-शुल्क

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 243=1978 (2) एस० सी० आर० 621.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

अधिनियम, 1878 की धारा 178-क और (4) लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 123 (7)।

109. उसने उपर्युक्त दलील के समर्थन में अनेक विनिश्चयों का अवलंब भी लिया अर्थात् **सरजू प्रसाद** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**,[1] **पुखराज** बनाम **डी० आर० कोहली**,[2] **नत्थू लाल** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**,[3] **डॉ० वाई० एस० परमार** बनाम **श्री हीरासिंह पाल**,[4] **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **मेयर हैंस जॉर्ज**[5], **जगदीश प्रसाद** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[6] और **सीमा-शुल्क कलक्टर** बनाम **चेट्टी**[7] वाले मामले।

110. 1987 के अधिनियम की धारा 2 (1) (क) में यथापरिभाषित "दुष्प्रेरित करना" शब्द की परिभाषा इस प्रकार है :

"2 (1) इस अधिनियम में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो—

(क) "दुष्प्रेरित करना" के अन्तर्गत इसके व्याकरणिक रूप भेदों और सजातीय पदों के साथ निम्नलिखित है—

(i) ऐसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग के साथ संपर्क या सहयोग जो किसी भी रीति से आतंकवादियों और विध्वंसकारियों की सहायता करने में लगा हुआ है ;

(ii) किसी विधिपूर्ण प्राधिकार के बिना किसी ऐसी जानकारी का हस्तांतरण या प्रकाशन, जिससे आतंकवादियों या विध्वंसकारियों को सहायता मिलने की संभावना है और आतंकवादियों या विध्वंसकारियों से अभिप्राप्त किसी दस्तावेज या सामग्री का हस्तांतरण, प्रकाशन या उसका वितरण ;

(iii) आतंकवादियों या विध्वंसकारियों को वित्तीय या अन्यथा कोई सहायता देना ;

111. उपर्युक्त परिभाषा समावेशी परिभाषा है। "दुष्प्रेरित करना" शब्द जो कि क्रिया है से ऐसा कोई भी व्यक्ति अभिप्रेत है जो ऐसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग के साथ संपर्क या सहयोग जो किसी भी रीति में आतंकवादियों और विध्वंसकारियों की सहायता करने में लगा हुआ है अथवा किसी विधिपूर्ण प्राधिकार के बिना किसी ऐसी जानकारी का हस्तांतरण या प्रकाशन जिससे आतंकवादियों या विध्वंसकारियों को सहायता मिलने की संभावना है और आतंकवादियों या विध्वंसकारियों से अभिप्राप्त किसी दस्तावेज या सामग्री का हस्तांतरण, प्रकाशन या उसका वितरण अथवा आतंकवादियों या विध्वंसकारियों को वित्तीय या अन्यथा कोई सहायता देता है।

---

[1] 1961 (3) एस० सी० आर० 324-327.

[2] 1962 सप्ली० (3) एस० सी० आर० 866-872

[3] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 43.

[4] 1959 सप्ली० (1) एस० सी० आर० 213.

[5] 1965 (1) एस० सी० आर० 123.

[6] [1972] 2 उम० नि० प० 155=1972 (2) एस० सी० आर० 845.

[7] 1962 (3) एस० सी० आर० 786.

112. सामान्य बोलचाल की भाषा में "दुष्प्रेरित करना" शब्द से सहायता, सहयोग और प्रोत्साहन अभिप्रेत है और इसमें सदोष प्रयोजन सम्मिलित है ।

113. "कॉरपस ज्यूरिस सेकेंडम" जिल्द 1, पृष्ठ 306 पर "दुष्प्रेरित करना" शब्द इस प्रकार दिया गया है :—

"दुष्प्रेरित करना" शब्द सहायता देने; मदद देने या सहायता देने; आदिष्ट करने, उपास्त करने, या परामर्श देने; समर्थन देने; प्रोत्साहन देने, परामर्श देने, उत्प्रेरित करने, या सहायता देने; करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को प्रोत्साहित करने के अर्थ में परिभाषित है । "मदद" के लिए प्रयुक्त किया गया है । "दुष्प्रेरित करना" शब्द सामान्यत: "मदद" शब्द और समरूप शब्दों के रूप में प्रयुक्त है ।"

114. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 107 में "दुष्प्रेरण" शब्द (जो कि संज्ञा है) इस प्रकार परिभाषित है :—

"107. किसी बात का दुष्प्रेरण—वह व्यक्ति किसी बात के किए जाने का दुष्प्रेरण करता है, जो — पहला — उस बात को करने के लिए किसी व्यक्ति को उकसाता है ; अथवा

दूसरा—उस बात को करने के लिए किसी षड्यंत्र में एक या अधिक अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ सम्मिलित होता है, यदि उस षड्यंत्र के अनुसरण में, और उस बात को करने के उद्देश्य से, कोई कार्य या अवैध लोप घटित हो जाए ; अथवा

तीसरा—उस बात के किए जाने में किसी कार्य या अवैध लोप द्वारा साशय सहायता करता है। ...."

115. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 108 में "दुष्प्रेरक" शब्द इस प्रकार परिभाषित है :—

"108. दुष्प्रेरक—वह व्यक्ति अपराध का दुष्प्रेरण करता है, जो अपराध के किए जाने का दुष्प्रेरण करता है या ऐसे कार्य के किए जाने का दुष्प्रेरण करता है, जो अपराध होता, यदि वह कार्य अपराध करने के लिए विधि-अनुसार समर्थ व्यक्ति द्वारा उसी आशय या ज्ञान से, जो दुष्प्रेरक का है, किया जाता ।"

116. "दुष्प्रेरण" का अपराध किसी व्यक्ति द्वारा —

(1) किसी व्यक्ति को कोई अपराध किए जाने के लिए उकसा कर ; या

(2) इसे करने के किसी षड्यंत्र में लगाकर ; या

(3) किसी व्यक्ति को उसे करने में साशय सहायता करके किया जाता है ।

117. किसी बात के करने को दुष्प्रेरित करने के लिए किसी व्यक्ति को, धारा 107 में दिए गए किसी खण्ड में रखने के लिए, न केवल यह साबित करना आवश्यक है कि उस व्यक्ति ने जिसने दुष्प्रेरित किया संव्यवहारों के सोपानों में भाग लिया अपितु किसी न किसी रीति में वह संव्यवहारों के उन सोपानों से जो आपराधिक हैं संबद्ध भी रहा है । दुष्प्रेरण का

1994(3) eILR(PAT) SC 1

अपराध उस व्यक्ति के आशय पर निर्भर करता है जो दुष्प्रेरित करता है, न कि उस कार्य पर जो वास्तव में उस व्यक्ति द्वारा किया जाता है जिसे वह दुष्प्रेरित करता है।

118. साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 3(1) में "दुष्प्रेरित करना" शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है:—

> "3(1) —"दुष्प्रेरित करना" का अपने व्याकरणिक रूप भेदों और सजातीय अभिव्यक्तियों के साथ वही अर्थ होगा जो भारतीय दण्ड संहिता (1860 का 45) में दिया हुआ है।"

119. कॉलिन्स अंग्रेजी शब्दकोश में "दुष्प्रेरित करना" शब्द का शब्दकोशीय अर्थ "सहायता देना या प्रोत्साहित करना विशेष रूप से अपराध या गलत कार्य करने में" दिया गया है।

120. विद्वान काउंसेल जिसने आलोचना करते हुए "दुष्प्रेरित करना" शब्द की परिभाषा की बाबत आक्षेप किया ने यह कहा कि परिभाषा 2(1)(क) के अधीन ऐसे व्यक्ति को भी जो किसी आतंकवादी या विध्वंसकारी क्रियाकलाप से पूर्णतः निर्दोष है दण्डित किया जा सकता है और पांच वर्ष का विहित न्यूनतम दण्डादेश अधिरोपित किया जा सकता है और इसलिए, इस धारा की वास्तविक खामी या त्रुटि को सुधारने के लिए "आपराधिक मनः-स्थिति" के सिद्धांत का अनुसरण किया जाना चाहिए।

121. विद्वान काउंसेल ने उपर्युक्त तर्क का समर्थन करते हुए हमारा ध्यान **इन्दर सेन** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय की ओर आकृष्ट किया जिसमें इस न्यायालय ने उस दाण्डिक अपील का निपटारा करते हुए जिसमें अभियुक्त को इन अभिकथनों पर कि अपीलार्थी के कब्जे में एक पार्सल पाया गया जिसके खोलने पर उसमें अफीम मिली अफीम अधिनियम, 1878 की धारा 9(क) के अधीन सिद्धदोष घोषित किया गया यह अभिनिर्धारित किया:—

> "............जानकारी अपराध का आवश्यक संघटक है क्योंकि "रखना" शब्द से धारा 9 के संदर्भ में जानकारी के साथ रखना अभिप्रेत है।
>
> विधानमण्डल का आशय अपराध की जानकारी बिना मात्र शारीरिक अभिरक्षा नहीं हो सकता था। धारा 9(क) के अधीन दोषसिद्धि कुछ हद तक दोषपूर्ण होगी और तब यह उपधारणा करना उपयुक्त होगा कि विधानमण्डल का आशय यह है कि कब्जा सचेत कब्जा होना चाहिए।"

122. उपर्युक्त विनिश्चय में अधिकथित कथन के बल पर उन्होंने यह दलील दी कि "आपराधिक मनःस्थिति" प्रत्येक अपराध का आवश्यक तत्त्व है और "आपराधिक मनः-स्थिति" के सबूत के अभाव में किसी को भी विशेषकर ऐसे मामलों में जिनमें भयोपरापी दण्डादेश अपेक्षित है किसी प्रकार की आपराधिकता से आरोपित नहीं किया जा सकता है।

---

[1] [1973] 3 उम० नि० प० 669=1973 (2) एस० सी० सी० 372.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

123. अपनी इस दलील के समर्थन में कि परिभाषा बहुत ही अस्पष्ट है, हमारा ध्यान **ए० के० राय और अन्य बनाम भारत संघ और एक अन्य**[1] वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ के निर्णय के इस उद्धरण की ओर आकृष्ट किया गया :—

> "............"स्थापित" शब्द का प्रयोग अनुच्छेद 21 में यह दर्शित करने और सुनिश्चित करने के लिए किया गया है कि विधि द्वारा विहित प्रक्रिया इसलिए निश्चित रूप में परिभाषित होनी चाहिए कि उन लोगों को जिन्हें प्राण या स्वतंत्रता के उनके मूल अधिकार से अपवंचित किया गया इस अपवंचन की वास्तविक हद का पता है।"

(अधोरेखांकित भाग पर जोर दिया गया)

124. यद्यपि किसी अधिनियमिति का सहज साधारण व्याकरणिक अर्थ सर्वोत्तम दिशानिर्देश होता है और किसी कानून का निर्वचन करने का उद्देश्य उस विधान मण्डल के आशय को अभिनिश्चित करना है जिसने इसे अधिनियमित किया, अर्थ निकालने के अन्य तरीकों का आश्रय लिया जा सकता है यदि भाषा परस्पर विरोधी, संदिग्ध है अथवा इससे इसके वास्तविक भाव और अर्थ के विपरीत वास्तव में बेतुके परिणाम निकलते हैं। इस बाबत (1) सामंड कृत "ज्यूरिसप्रूडेंस" (विधिशास्त्र) (11वां संस्करण पृष्ठ 152), (2) **साउथ एशिया इण्डस्ट्रीज (प्रा० लि०) बनाम एस० स्वरूप सिंह**[2] और **नारायणस्वामी एस० बनाम जी० पन्नेसेल्वम्**[3] वाले मामले दृष्टव्य हैं।

125. अभी हाल ही के **प्रवर्तन निदेशालय बनाम दीपक महाजन और एक अन्य**[4] वाले मामले के विनिश्चय में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ (जिसमें हममें से एक न्यायमूर्ति एस० रत्नवेल पांडियन भी न्यायाधीश थे) ने यह अभिनिर्धारित किया कि "............ न्यायालयों के लिए कृत्यकारी दृष्टिकोण अपनाना और विधायी आशय का परिशीलन करना अनुज्ञेय है और कभी-कभी उनके लिए शब्दों और अधिनियमिति के निहित अर्थ का पता लगाना आवश्यक है और अधिनियमिति के विधायी आशय और प्रयोजन और भाव को प्रभावी बनाने के लिए अन्य बातों पर भी विचार करना चाहिए ताकि किसी प्रकार का बेतुकापन या व्यावहारिक असुविधा न हो........."

126. दाण्डिक कार्रवाई में शास्तिक दायित्वों की साधारण शर्तें इस उक्ति में उपदर्शित हैं "केवल कार्य किसी को अपराधी नहीं बनाता यदि उसका मन भी अपराधी न हो।" तथापि इस नियम के अपवाद हैं और इसके कारण ये हैं कि विधानमण्डल ने, कतिपय स्थितियों और परिस्थितियों में किसी विशिष्ट कार्य के किए जाने को रोकने के लिए, आपराधिक मनःस्थिति के तत्त्व को किसी अपराध का संघटक भाग या आशय या वास्तविक ज्ञान का पर्याप्त सबूत न मानने के लिए अपनी बुद्धिमता में ऐसा महत्वपूर्ण समझा। तथापि, जब तक कि किसी कानून में अभिव्यक्ततः या आवश्यक विवक्षा द्वारा इस प्रकार के मामलों में "आप-

[1] [1982] 2 एस० सी० आर० 272-293.
[2] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 346, 348.
[3] [1972] 3 उम० नि० प० 189=ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 2284-2285.
[4] 1994 (1) जे० टी० 290-302.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

राधिक मन:स्थिति" को अस्वीकार न किया गया हो, "आपराधिक मन:स्थिति" के तत्त्व का पता कानून के उपबंधों से लगाया जाना चाहिए। प्रश्न यह नहीं है कि शब्द का अर्थ क्या है अपितु क्या यह अनुमान लगाने के पर्याप्त आधार हैं कि संसद् का आशय इस सामान्य नियम का अपवर्जन था कि किसी व्यक्ति को "दुष्प्रेरित करना" शब्द के अंतर्गत लाने के लिए "आपराधिक मन:स्थिति" आवश्यक तत्त्व है।

127. इस प्रभाव के न्यायिक विनिश्चय हैं कि इस बाबत विचार किए जाने के लिए कि क्या "आपराधिक मन:स्थिति" या वास्तविक ज्ञान का अर्थ परिभाषा में दिया हुआ है अधिनियमिति के शब्दों और अन्य कारणों पर विचार करना सामान्यत: आवश्यक है। (इस बाबत **ब्राण्ड बनाम वुड**[1], **शैरास बनाम डे रूटजेन**[2], **निकोलस बनाम हाल**[3] और उपर्युक्त **इन्दरसेन बनाम पंजाब राज्य**[4] वाले मामले दृष्टव्य हैं)।

128. इस न्यायालय ने **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **एम० एच० जार्ज**[5] वाले मामले में इस प्रश्न की परीक्षा करते हुए कि क्या "आपराधिक मन:स्थिति" या वास्तविक ज्ञान विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1947 की धारा 8(1) के साथ पठित धारा 23(1)(क) के अधीन अपराध का आवश्यक संघटक है जब यह दर्शित किया गया कि प्रत्यर्थी (अभियुक्त) इस मामले में रिजर्व बैंक की अनुज्ञा बिना भारत में स्वेच्छया स्वर्ण लाया, बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम विदेशी मुद्रा जो कि किसी विकासशील देश की अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक है को सुरक्षित और संरक्षित रखने के लिए बनाया गया है और, इसलिए इसके उपबंध तस्करी समाप्त करने के उद्देश्य से कठोर बनाए गए हैं। अत: विधान के उद्देश्य और प्रयोजन की पृष्ठभूमि में यदि "आपराधिक मन: स्थिति" के तत्त्व का आवश्यक विवक्षा द्वारा आश्रय नहीं लिया जाता है, तो तस्करी निवारण के प्रभावी साधन के रूप में यह पूर्णत: विफल रहेगा।

129. तथापि न्यायमूर्ति सुब्बाराव ने विसम्मत निर्णय सुनाते हुए यह अभिनिर्धारित किया :—

> "..........मात्र यह तथ्य कि किसी कानून का उद्देश्य कल्याण क्रियाकलापों का संवर्धन करना या भयंकर सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना है स्वयं में इस प्रश्न का निश्चायक नहीं है कि क्या "आपराधिक मन:स्थिति" अपराध के संघटकों से अपवर्जित है। यह जांच करना भी आवश्यक है कि क्या कानून किसी व्यक्ति पर कठोर दायित्व आरोपित करके राज्य की विधि प्रवर्तन में सहायता करता है : क्या वह विधि पालन को बढ़ावा देने के लिए कुछ कर सकता है ? आपराधिक मन:स्थिति' आवश्यक विवक्षा द्वारा किसी कानून से केवल तभी अपवर्जित की जा सकती है जब यह पूर्णत: स्पष्ट हो कि किसी कानून के उद्देश्य को कार्यान्वित किया जाना अन्यथा विफल हो जाएगा और इसके अपवर्जन से वे लोग जो कठोर दायित्व के अधीन हैं

---

1 62 टी० एल० आर० 462-463.
2 1 बी० 918.
3 एल० आर० (1873) 8 सी० पी० 322.
4 [1973] 3 उम० नि० प० 669=1973 (2) एस० सी० सी० 372.
5 ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 722.

अपने कार्य या लोप से विधि के उन्नयन में सहायता करने में समर्थ बनेंगे। आपराधिक मन:स्थिति की प्रकृति जो अपराध सर्जित करने वाले किसी कानून में विवक्षित होगी अधिनियम के उद्देश्य और इसके उपबंधों पर आधारित है।"

130. तत्पश्चात्, इसी प्रकार का प्रश्न अपवर्जन के किसी विनिर्दिष्ट उपबंध के अभाव में "आपराधिक मन:स्थिति" के तत्त्व के अपवर्जन से संबंधित उपर्युक्त **नाथू लाल बनाम मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में उद्भूत हुआ। न्यायमूर्ति सुब्बा राव ने उपर्युक्त **एम० एच० जार्ज**[2] वाले मामले में अपने पूर्व मत को दोहराते हुए यह मताभिव्यक्ति की—

"............आपराधिक मन:स्थिति दांडिक अपराध का आवश्यक संघटक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी कानून में आपराधिक मन:स्थिति के तत्त्व का अपवर्जन हो, किंतु यह इंग्लैंड में अपनाया जाने वाला अर्थान्वियन का उत्तम नियम है और इसे सामान्य विधि के अनुरूप न कि इसके विरुद्ध ऐसे कानूनी उपबंध का अर्थान्वियन करते समय जो अपराध सर्जित करता है उस समय तक जब तक कि कानून में अभिव्यक्तत: या आवश्यक विवक्षा द्वारा आपराधिक मन:स्थिति अपवर्जित न की गई हो भारत में भी स्वीकार किया गया है। मात्र यह तथ्य कि कानून का उद्देश्य कल्याण क्रियाकलापों का संवर्धन या भयंकर सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना है स्वयं में इस प्रश्न का निश्चायक नहीं है कि क्या 'आपराधिक मन:स्थिति' का तत्त्व अपराध के संघटकों से अपवर्जित है। आपराधिक मन:स्थिति आवश्यक विवक्षा द्वारा कानून से केवल तभी अपवर्जित की जा सकती है जब यह बिल्कुल स्पष्ट हो कि कानून के उद्देश्य का कार्यान्वियन अन्यथा विफल हो जाएगा।"

131. **श्रीनिवास मल बनाम सम्राट**[3], **हरिप्रसाद राव बनाम राज्य**[4], और उपर्युक्त **सरजू प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[5] वाले मामले दृष्टव्य हैं।

132. इस संबंध में हम **राज्य बनाम अब्दुल अजीज**[6] वाले मामले में बाम्बे उच्च न्यायालय के उस निर्णय के प्रति भी निर्देश करना चाहेंगे जिसमें खंड न्यायपीठ ने आयात और निर्यात (नियंत्रण) अधिनियम, 1947 की धारा 5 की चर्चा करते हुए जिसके अधीन प्रत्यर्थी (अभियुक्त) को अभियोजित किया गया था यह अभिनिर्धारित किया—

"1947 के अधिनियम की धारा 5 में आपराधिक मन:स्थिति के प्रति कोई निर्देश नहीं है। आदेश के उल्लंघन का दुष्प्रेरण इसी उपबंध में उल्लंघन के साथ है। अत: इसे एक ही स्तर का माना जाना चाहिए। अत:, हमारे विचार में दुष्प्रेरण के अपराध के लिए भी किसी प्रकार की आपराधिक मन:स्थिति की आवश्यकता नहीं है।"

---

[1] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 43.

[2] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 722.

[3] ए० आई० आर० 1947 प्रिवी कौंसिल 135.

[4] [1951] एस० सी० आर० 322.

[5] [1961] 3 एस० सी० आर० 324.

[6] ए० आई० आर० 1962 (जिल्द 49) बाम्बे 243.

133. उपर्युक्त मताभिव्यक्ति को दूसरे शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि "जब किसी मुख्य अपराध में आपराधिक मनःस्थिति आवश्यक नहीं है, तो यह इसके दुष्प्रेरण के लिए भी आवश्यक नहीं है।"

134. अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या विधानमंडल ने 1987 के अधिनियम के मुख्य अपराधों में दांडिक अपराध अर्थात् "आपराधिक मनःस्थिति के आवश्यक संघटक को अपनाया है।

135. यह सत्य है कि "टाडा" अधिनियमों के उपबंध "आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलापों के निवारण के लिए और उनसे निपटने के लिए तथा उनसे संबंधित या उनके आनुषंगिक विषयों के लिए वास्तव में बहुत ही कड़े विरचित किए गए हैं।" प्रश्न यह है कि क्या इस उपबंध का प्रभाव पूर्णतः विफल हो जाएगा यदि अपराधी को आपराधिक मनःस्थिति या वास्तविक जानकारी के तत्त्व को स्वीकार नहीं किया जाता है या परिभाषा के संकुचित अर्थ में देखा जाता है।

136. सामान्यतः, आपराधिक विधिशास्त्र का यह आवश्यक सिद्धांत है कि यदि प्रश्नगत कार्य करने वाले व्यक्ति का मस्तिष्क निर्दोष है, तो अपराध किया नहीं जा सकता। अतः, अपराध गठित करने के लिए आशय और कार्य दोनों होने चाहिए।

137. उपर्युक्त विधिक प्रतिपादना की पृष्ठभूमि में, हम विद्वान काउंसेल द्वारा मुख्य अधिनियम में विनिर्दिष्ट मुख्य अपराध या अपराधों के प्रति निर्देश करते हुए दी गई दलीलों पर विचार करेंगे।

138. 1984 के अधिनियम में "दुष्प्रेरित करना" शब्द परिभाषित नहीं है तथापि इस अधिनियम में दी गई "आतंकवादी" शब्द की परिभाषा से यह अपेक्षित है कि व्यक्ति आतंकवाद के कार्य में लगा होना चाहिए और धारा 2(1) (ज) के अधीन दी गई आतंकवादी शब्द की परिभाषा के खण्ड (i) से (iv) में दिया गया कोई अपराध करने के दृष्टिकोण से आतंकवादी कार्य किया गया दर्शित होना चाहिए। भारतीय दण्ड संहिता में अनुसूचित अपराध अर्थात् धारा 122 और 123 के लिए उन अपराधों को करने वाले व्यक्ति का आशय अभिव्यक्ततः अपेक्षित है, यद्यपि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 121 और 121-क और यान-हरण निवारण अधिनियम, 1982 की धारा 4 और 5 जो कि इस अधिनियम में अनुसूचित अपराध है के अधीन आशय आवश्यक नहीं है। अनुसूची में दिए गए टिप्पण में यह कथित है कि आपराधिक षड्यंत्र का अपराध या इस अनुसूची में विनिर्दिष्ट अपराध करने का प्रयास, या दुष्प्रेरण अनुसूचित अपराध माना जाएगा।

139. 1985 के अधिनियम के अधीन भी "दुष्प्रेरित करना" शब्द परिभाषित नहीं है। तथापि इस अधिनियम की धारा 3 और 4 में क्रमशः आतंकवाद और विध्वंस के मुख्य अपराधों के लिए दंड की चर्चा है और इन धाराओं में दोनों मुख्य अपराधों के दुष्प्रेरण को भी शास्तिक अपराध बनाया गया है। "दुष्प्रेरित करना" शब्द की परिभाषा सर्वप्रथम 1987 के अधिनियम ("टाडा") में दी गई हैं।

140. धारा 3(1) जिसमें "आतंकवादी" अभिव्यक्ति का अर्थ विनिर्दिष्टतः दिया गया है में आतंकवादी कार्य करने वाले अपराधी का आशय होना आवश्यक है। इसी प्रकार

धारा 4 (2) (i) और (ii) के लिए भी यह आवश्यक है कि यह दर्शित किया जाना चाहिए कि विध्वंसकारी कार्य करने वाले व्यक्ति का इस कार्य को करने का आशय था। 1985 और 1987 के अधिनियमों की धारा 3 और 4 के उपबंध समरूप हैं। अतः यह स्पष्ट है कि मुख्य अपराधों के लिए आतंकवादी कार्य या विध्वंसकारी कार्य करने वाले व्यक्ति का ऐसा करने का आशय होना आवश्यक है। इन दोनों अपराधों को किए जाने का दुष्प्रेरण 1987 के अधिनियम की धारा 3 (3) और 4 (1) के अंतर्गत आता है। "दुष्प्रेरित करना" शब्द धारा 6 (2) में भी दिया गया है जिसमें "वर्धित शास्तियों" की चर्चा है।

141. अतः, जब अधिनियम के मुख्य उपबंधों के अधीन अपराध गठित करने के लिए आवश्यक संघटक के रूप में आशय आवश्यक है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि उस दुष्प्रेरक का आशय का संघटक अपवर्जित किया जाना चाहिए जो इन मुख्य अपराधों को दुष्प्रेरित करता है। दूसरे शब्दों में, क्या यह कहा जा सकता है कि दुष्प्रेरक ने बिना किसी आपराधिक मनःस्थिति या इस बात के वास्तविक ज्ञान के बिना कि उसके अभिकल्पित कार्य के क्या परिणाम होंगे मुख्य अपराध दुष्प्रेरित किया।

142. अब प्रश्नगत परिभाषा पर विचार करते हुए, खण्ड (ii) और (iii) के लिए किसी प्रकार के दिखावे की आवश्यकता नहीं है क्योंकि दोनों खण्ड स्वयं में स्पष्टकारी हैं। जैसा कि ठीक ही कहा गया धारा 2 (1) (i) में दी गई "दुष्प्रेरित करना" शब्द की परिभाषा अति सावधानीपूर्वक विशिष्टता की बजाय अति लचीलेपन में अपनाई गई है। तथापि हमें इसके अनुज्ञेय अभिप्राय का पता लगाना चाहिए ताकि ऐसी कोई अनिश्चितता न हो जिससे अवश्यमेव ही किसी व्यक्ति को विधि द्वारा प्रतिषिद्ध कार्यों को समझने में बहुत कठिनाई महसूस न हो और वह तद्नुसार कार्य कर सके।

143. विधिशास्त्र का यह आधारभूत सिद्धांत है कि यदि अधिनियमिति में प्रतिषेध स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं है, तो वह अधिनियमिति अस्पष्टता के कारण शून्य होगी। अस्पष्ट विधि अनेक महत्वपूर्ण मूल्यों का ह्रास करती है। यह जोर दिया गया और इस बाबत बल दिया गया कि विधि द्वारा साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति को जो कुछ प्रतिषिद्ध किया गया है उसे जानने का युक्तियुक्त अवसर प्रदान करना चाहिए ताकि वह तद्नुसार कार्य कर सके। अस्पष्ट विधि जिसमें ऋजु चेतावनी का उपबंध नहीं है निर्दोष व्यक्ति को फंसा सकती है। ऐसी विधि से अननुज्ञेय रूप में पुलिस वालों और न्यायाधीशों के हाथ में तदर्थ और आत्मपरक आधार पर समाधान के लिए आधारभूत नीति गत विषय आ जाते हैं जिनसे उन्हें मनमाने और विभेदकारी रूप में लागू किए जाने का खतरा बना रहता है। इससे भी अधिक प्रयोग किए गए अनिश्चित और अपरिभाषित शब्दों के आधार पर नागरिक "उसकी बजाय यदि प्रतिषिद्ध क्षेत्रों की सीमाएं स्पष्ट रूप से दी गई होतीं............ विधिविरुद्ध अंचल में भटक जाएंगे।"

144. अब हम धारा (2) (1) (क) के खण्ड (i) की परीक्षा करेंगे। इस धारा से यह पर्याप्त रूप में और अननुज्ञेय रूप में दर्शित है कि स्पष्ट और उपयुक्त नहीं है। जैसा कि विद्वान काउंसेल द्वारा स्पष्ट किया गया कि यहां तक कि निर्दोष व्यक्ति भी जो चालाकी से और ओट में बिना जानकारी के कार्य में सहयुक्त होता है या संपर्क करता है अथवा उसके पास इस बाबत विश्वास करने या संदेह करने का कोई कारण नहीं है कि वह व्यक्ति या

व्यक्तियों का वर्ग जिसके साथ सहयोग किया या संपर्क किया किसी रीति में आतंकवादियों या विध्वंसकारियों की सहायता करने में लगा हुआ है इस परिभाषा के दुरुपयोग या गलत प्रयोग करके या इसे उचित प्रकार से लागू न करने के आधार पर गिरफ्तार और अभियोजित किया जा सकता है। कार्यवाहियों को अंतिम अंजाम देने के लिए संभवतः उस निरपराधी और अनपकारी निर्दोष व्यक्ति को भी सिद्धदोष घोषित किया जा सकता है।

145. विद्वान अपर महासालिसिटर द्वारा उस व्यक्ति के लिए जो ऐसे किसी व्यक्ति से संपर्क करता है या सहयोग करता है जो किसी रीति में आतंकवादी या विध्वंसकारियों की सहायता में लगा हुआ है "आपराधिक मनःस्थिति" या आशय या जानकारी अपवर्जित करने को न्यायोचित ठहराते हुए दी गई विरोधी दलील को इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए माना नहीं जा सकता है कि सारभूत अपराधों के लिए अभिव्यक्त उपबंध द्वारा दुष्प्रेरक का आशय आवश्यक है। उसके द्वारा अवलंबित विनिश्चयों से भी मुख्य अपराधों के के लिए आशय की अपेक्षा को समाविष्ट करते हुए विभिन्न कारणों को दृष्टिगत करते हुए आशय के अपवर्जन से संबंधित उसके अभिवाक् की पुष्टि के लिए किसी प्रकार की सहायत प्राप्त नहीं हो सकती है।

146. अतः, "दुष्प्रेरित करना" शब्द की परिभाषा में अस्पष्टता और अनुपयुक्तता से संबंधित विषमता को दूर करने के लिए उपर्युक्त कारणोंवश यह मत व्यक्त किया जाता है कि यह दर्शित किया जाना चाहिए कि उस व्यक्ति को जिसने ऐसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग से संपर्क किया या सहयोग किया जो किसी रीति में आतंकवादियों या विध्वंसकारियों की सहायता करने में लगा हुआ है यह विश्वास करने का वास्तविक ज्ञान या कारण होना चाहिए कि वह व्यक्ति या व्यक्तियों का वर्ग जिसकी बाबत उस पर यह आरोप लगाया गया है कि उसने उससे या उनसे संपर्क किया या सहायता की किसी रीति में आतंकवादियों और विध्वंसकारियों की सहायता करने में लगा हुआ था।

147. उपर्युक्त विवेचन से संक्षेप में यह प्रकट है कि परिभाषा में दी गई "संपर्क" और "सहयोग" अभिव्यक्ति परिभाषा को इस अर्थ में सुरक्षित रखने के लिए है ताकि इस परिभाषा की सहायता से फंसाए जाने वाले व्यक्ति के "वास्तविक ज्ञान" या "विश्वास करने के कारण" को संकुचित अर्थ में समझने की बजाय सही अर्थ में समझा जा सके और धारा 2 (1) (क) के खण्ड (i) में दी गई परिभाषा को "ऐसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग के साथ संपर्क या सहयोग जो किसी भी रीति से आतंकवादियों और विध्वंसकारियों की सहायता करने में लगा हुआ है" के अर्थ में समझा जाना चाहिए ताकि इस खण्ड का उद्देश्य और प्रयोजन अन्यथा विफल और निष्फल न हो जाए।

विशेष न्यायालय अधिनियम, 1984 की धारा 3

148. विशेष न्यायालय अधिनियम, 1984 की धारा 3 की विधिमान्यता को चुनौती देते हुए यह दलील दी गई कि धारा 3(1) के अधीन केंद्रीय सरकार में अधिसूचना द्वारा किसी क्षेत्र को "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित करने और ऐसे क्षेत्र को एकल न्यायिक अंचल या इतने अधिक न्यायिक अंचल गठित करने जो वह उपयुक्त समझे के लिए दी गई शक्ति न केवल अस्पष्ट है अपितु इससे किसी प्रकार का दिशानिर्देश भी प्राप्त नहीं होता है।

149. पूर्व-अपेक्षित शर्तें जो केंद्रीय सरकार द्वारा 1984 के अधिनियम की धारा, 3 (1) के अधीन उसे प्रदत्त प्राधिकार के कारण "आतंकवादी क्षेत्र" के रूप में किसी क्षेत्र को घोषित करने के लिए अनिवार्य हैं इस प्रकार हैं—

"(1) किसी क्षेत्र में जिसे "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित किया गया है, किए जाने वाले प्रकृति के अपराध अनुसूची में विनिर्दिष्ट अपराधों में से कोई एक या एक से अधिक होने चाहिए;

(2) आतंकवादियों द्वारा किए जाने वाले अपराधों को धारा 2 (1) (ज) में दी गई अपराध की परिभाषा पूरी करनी चाहिए अर्थात् व्यक्तियों की निर्ममतापूर्वक हत्या या हिंसा की गई या समुदाय के लिए आवश्यक सेवाओं या संचार के साधनों का विध्वंस या "आतंकवादी" शब्द की परिभाषा में उपदर्शित खण्ड (i) से (iv) में से किसी में दिए गए किसी अपराध के किए जाने को दृष्टिगत करते हुए संपत्ति को नुकसान पहुंचाया गया;

(3) आतंकवादियों द्वारा किए गए अनुसूचित अपराध ऐसी रीति में किए जाने चाहिए कि ऐसे आतंकवादियों की गतिविधियों से निपटने के प्रयोजनार्थ इस अधिनियम के उपबंधों का आश्रय लेना समीचीन है।"

150. जब तक कि उपर्युक्त सभी शर्तें पूरी नहीं कर दी जातीं केंद्रीय सरकार किसी क्षेत्र को "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित करने के लिए धारा 3 (1) के अधीन शक्ति का आश्रय नहीं ले सकती है। दूसरे शब्दों में, किसी प्रकार की शर्त के अभाव में, धारा 3 (1) का आश्रय नहीं लिया जा सकता है। अतः, यह दलील कि धारा 3 (1) अस्पष्ट है और इससे किसी प्रकार के दिशानिर्देश भी प्राप्त नहीं होते हैं सारहीन हैं।

151. इस संबंध में, हम यह और कहना चाहेंगे कि विद्वान अपर महासालिसिटर ने 1984 के अधिनियम की धारा 3 की विधिमान्यता को कायम रखते हुए यह दलील दी कि विधानमण्डल ने ऐसे गंभीर अपराधों के लिए जिनका अधिसूचित तारीख के पश्चात् अधिसूचित क्षेत्र में शांति और सौहार्द से सीधा संबंध है एक रूप प्रक्रिया विहित करना उपयुक्त समझा और ऐसे गंभीर अपराधों का जिनसे लोगों के मन में भय और आतंक उत्पन्न होने की संभावना है की चर्चा अधिनियम के अधीन है और इनके लिए शीघ्रतर विचारण विहित किया गया है ताकि विक्षुब्ध स्थितियों को समय गंवाए बिना नियंत्रित किया जा सके और स्थिति को बिगड़ने से और अधिक क्षेत्रों में फैलने से रोका जा सके।

152. हमें काउंसेल की 1984 के अधिनियम की धारा 3 की विधिमान्यता को चुनौती देने से संबंधित दलील को नामंजूर करते हुए उपर्युक्त दलील में कुछ बल दिखाई देता है।

"टाडा" (1987 के अधिनियम) की धारा 3 और 4

153. 1987 के अधिनियम की धारा 3 और 4 की वैधता और प्रभावोत्पादकता को इन आधारों पर चुनौती दी गई है अर्थात्—

(1) इन दोनों धाराओं में ऐसे कार्यों का वर्णन है जो भारतीय दंड संहिता, भारतीय आयुध अधिनियम और विस्फोटक पदार्थ अधिनियम सरीखी विधि के अधीन अपराध गठित करते हैं;

(2) ऐसा कोई मार्गदर्शित करने वाला सिद्धांत अधिकथित नहीं किया गया जब कार्यपालिका साधारण विधि या 1987 के इस आक्षेपित अधिनियम के अधीन कार्यवाही कर सके; और

(3) इस अधिनियम और इसकी धारा 3 और 4 को **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **अनवर अली सरकार**[1] जिसका **ए० आर० अंतुले** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले को सम्मिलित करते हुए बहुत से मामलों में अनुसरण किया गया, में अधिकथित सिद्धान्त के आधार पर अभिखंडित किया जाना चाहिए।

154. अधिनियम की धारा 3 इस प्रकार है—

"3. **आतंकवादी कार्यों के लिए दंड**—(1) जो कोई विधि द्वारा स्थापित सरकार को आतंकित करने या जनता के किसी वर्ग में आतंक फैलाने या जनता के किसी वर्ग को पृथक् करने या जनता के विभिन्न वर्गों के बीच सौहार्द पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के आशय से, बमों, डायनामाइट या अन्य विस्फोटक पदार्थों या ज्वलनशील पदार्थों या अग्न्यायुधों या अन्य प्राणहर आयुधों या विषों का या अपायकर गैसों या अन्य रसायनों या परिसंकटमय प्रकृति के किन्हीं अन्य पदार्थों का(चाहे वे जैव हों या अन्यथा), ऐसी रीति से उपयोग करके जिससे किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों की मृत्यु या उन्हें क्षति या संपत्ति को नुकसान या उसका विनाश अथवा समुदाय के जीवन के लिए आवश्यक किन्हीं प्रदायों या सेवाओं में विघ्न कारित करता है या कारित करना संभाव्य है या सरकार को या किसी अन्य व्यक्ति को कोई कार्य करने या कोई कार्य करने से विरत रहने के लिए विवश करने के लिए किसी व्यक्ति को निरुद्ध करता है और ऐसे व्यक्ति को मारने या उसे क्षति पहुंचाने की धमकी देता है, वह आतंकवादी कार्य करता है।

(2) जो कोई आतंकवादी कार्य करेगा, वह—

(i) यदि ऐसे कार्य के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति की मृत्यु हुई है तो मृत्यु या आजीवन कारावास से और जुर्माने से भी, दंडनीय होगा;

(ii) किसी अन्य दशा में, कारावास से, जिसकी अवधि पांच वर्ष से कम की नहीं होगी किंतु आजीवन कारावास तक की हो सकेगी और जुर्माने से भी, दण्डनीय होगा।

(3) जो कोई आतंकवादी कार्य या आतंकवादी कार्य की तैयारी का कार्य करने का षड्यंत्र करेगा, या प्रयत्न करेगा, या उसके किए जाने का पक्षपोषण करेगा, दुष्प्रेषण करेगा, सलाह देगा या उद्दीप्त करेगा या उसका किया जाना जानबूझकर सुकर बनाएगा, वह कारावास से, जिसकी अवधि पांच वर्ष से कम की नहीं होगी किंतु आजीवन कारावास तक की हो सकेगी, और जुर्माने से भी, दंडनीय होगी।

(4) जो कोई किसी आतंकवादी को संश्रय देगा या छिपाएगा या संश्रय देने या छिपाने का प्रयत्न करेगा, वह कारावास से, जिसकी अवधि पांच वर्ष से कम की

---

[1] [1952] एस० सी० आर० 284.

[2] (1988) 2 एस० सी० सी० 764.

नहीं होगी किंतु आजीवन कारावास तक की हो सकेगी, और जुर्माने से भी, दंडनीय होगा ।"

155. चूंकि संसद ने तारीख 22 मई, 1993 से आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) संशोधन अधिनियम, 1993 (1993 का 43)द्वारा 1987 के अधिनियम की धारा 3 में दो और उपधाराएं (5 और 6) पुरःस्थापित की है, अतः यथासंशोधित धारा के पूर्ण पाठ को जानने के लिए हम इन उपधाराओं को यहां प्रस्तुत कर रहे हैं—

"(5) ऐसा कोई व्यक्ति, जो किसी ऐसे आतंकवादी गिरोह या किसी आतंकवादी संगठन का सदस्य है जो आतंकवादी कार्यों में संलग्न है, वह कारावास से जिसकी अवधि पांच वर्ष से कम की नहीं होगी किंतु आजीवन कारावास तक की हो सकेगी; और जुर्माने से भी, दंडनीय होगा ।

(6) जो कोई किसी ऐसी जो आतंकवादी कार्य के किए जाने से व्युत्पन्न या अभिप्राप्त की गई है किसी संपत्ति को धारण करेगा या जो आतंकवादी निधियों से अर्जित की गई है, वह कारावास से, जिसकी अवधि पांच वर्ष से कम की नहीं होगी किंतु आजीवन कारावास तक की हो सकेगी, और जुर्माने से भी, दंडनीय होगा ।"

156. अधिनियम की धारा 4 इस प्रकार है—

"4. **विध्वंसक क्रियाकलापों के लिए दंड**—(1) जो कोई किसी विध्वंसक क्रियाकलाप या विध्वंसक क्रियाकलाप की तैयारी का कार्य करेगा, या करने का षड्यंत्र करेगा या प्रयत्न करेगा या दुष्प्रेरण करेगा, पक्षपोषण करेगा, सलाह देगा या ऐसे कार्य का किया जाना जान-बूझकर सुकर बनाएगा, वह कारावास से, जिसकी अवधि पांच वर्ष से कम की नहीं होगी किंतु आजीवन कारावास तक की हो सकेगी और जुर्माने से भी, दंडनीय होगा ।

(2) उपधारा (1) के प्रयोजनों के लिए "विध्वंस क्रियाकलाप" से कार्य द्वारा या भाषण द्वारा या किसी अन्य माध्यम द्वारा या किसी भी अन्य रीति से की गई कोई ऐसी कार्रवाई अभिप्रेत हैं,—

(i) जो प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः भारत की प्रभुता और राज्यक्षेत्रीय अखंडता को प्रश्नगत करती है, उसमें विघ्न डालती है या विघ्न डालने के लिए आशयित है; या

(ii) जो संघ से भारत के किसी भाग के अध्यर्पण या भारत के किसी भाग के विलग हो जाने का, प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः दावा करने या ऐसे दावे का समर्थन करने के लिए आशयित है ।

स्पष्टीकरण —इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए—

(क) "अध्यर्पण" के अंतर्गत भारत के किसी भाग के लिए किसी विदेशी के किसी दावे की स्वीकृति है । और

(ख) "विलग हो जाने" के अंतर्गत यह अवधारण करने के लिए किसी दावे का प्राख्यान है कि भारत का कोई भाग संघ में रहेगा या नहीं ।

(3) उपधारा (2) के उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना यह घोषित किया जाता है कि कार्य द्वारा या भाषण द्वारा या किसी अन्य माध्यम

द्वारा या किसी अन्य रीति से की गई कार्रवाई जो भारत की प्रभुता और अखंडता बनाए रखने के लिए संविधान के अधीन शपथ द्वारा आबद्ध किसी व्यक्ति या किसी लोकसेवक की हत्या या विनाश का—(क) पक्षपोषण करती है, सलाह देती है, सुझाव देती है या उद्दीपन करती है ; या (ख) ऐसी रीति से भविष्यकथन, भविष्यवाणी या घोषणा या अन्यथा अभिव्यक्त करती है जिससे ऐसी हत्या या विनाश का उद्दीपन, सलाह, सुझाव या प्रेरणा होती है, यह समझा जाएगा कि वह कार्रवाई इस धारा के अर्थ में विध्वंसक क्रियाकलाप है ।

(4) जो कोई किसी विध्वंसकारी को संश्रय देगा या छिपाएगा अथवा संश्रय देने या छिपाने का प्रयत्न करेगा, वह आजीवन कारावास से, जिसकी अवधि पांच वर्ष से कम की नहीं होगी, किंतु आजीवन कारावास तक की हो सकेगी, और जुर्माने से भी, दण्डनीय होगा ।"

157. यह सत्य है कि धारा 3 और 4 में दिए गए कार्यों से उद्भूत अपराध साधारण दण्ड विधि के अंतर्गत आने वाले अपराधों के अनुरूप है । दूसरे शब्दों में, आतंकवादी या विध्वंसक क्रियाकलापों सेउद्भूत अनेक अपराध अन्य साधारण दण्ड विधियों के अंतर्गत आने वाले कुछ अपराधों को अतिव्यापी हो सकते हैं । इस बाबत विवाद नहीं है कि उपर्युक्त उपबंधों जिनमें "आतंकवादी कार्य और "विध्वंसक क्रियाकलाप" अभिव्यक्तियां परिभाषित हैं में कठोर दण्ड उपबंधित है और इन दोनों उपबंधों के अन्तर्गत आने वाले अपराधों को गठित करने वाले कुछ कार्यों के लिए न्यूनतम दण्डादेश भी विहित है । 1987 के अधिनियम की धारा 6 में ऐसे व्यक्ति के लिए जो किसी आतंकवादी या विध्वंसकारी की सहायता करने के आशय से इसके किसी उपबंध का, या आयुध अधिनियम, 1959 (1959 का 54), विस्फोटक अधिनियम, 1884 (1884 का 4), विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, 1908 (1908 का 6) या ज्वलनशील पदार्थ अधिनियम, 1952 (1952 का 20) के अधीन बनाए गए किसी नियम का उल्लंघन करता है कम से कम पांच वर्ष की "वर्धित शास्ति" उपबंधित है जिसे अधिनियमों या क्रमशः अधिनियमों के अधीन बनाए गए नियमों में दी गई किसी बात के होते हुए भी आजीवन कारावास और जुर्माने के लिए उपबंध है—

158. धारा 6 (2) इस प्रकार है—

"इस धारा के प्रयोजनों के लिए, ऐसे किसी व्यक्ति के बारे में, जो किसी विधि, नियम या आदेश के किसी उपबंध के उल्लंघन का प्रयत्न या दुष्प्रेरण करेगा या दुष्प्रेरण का प्रत्यन करेगा या उसके उल्लंघन की तैयारी करेगा, यह समझा जाएगा कि उसने उस उपबंध का उल्लंघन किया है और उपधारा (1) के उपबंध ऐसे व्यक्ति के संबंध में, इस उपांतरण के अधीन रहते हुए प्रभावी होंगे कि "आजीवन कारावास" के प्रति निर्देश का "दस वर्ष की अवधि का कारावास" के प्रति निर्देश के रूप में अर्थ लगाया जाएगा ।"

159. अधिनियम के भाग 3 में उन आतंकवादियों और विध्वंसकारियों जिन्हें अधिनियम के अधीन किसी प्रकार का अपराध किए जाने से आरोपित किया गया है के विचारण के लिए विशेष तंत्र अर्थात् अभिहित न्यायालयों का गठन, उनकी अधिकारिता,

शक्ति, अन्य अपराधों से संबंधित विचारण की शक्ति और नियमित न्यायालयों को मामलों का अंतरण, अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया आदि का वर्णन है।

160. जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि अधिनियम द्वारा बहुत ही कठोर और प्रबल तथा कड़े उपबंध किए गए हैं और न्यूनतम दण्ड विहित किया गया है और कुछ अन्य अपराधों के लिए वर्धित शास्तियां भी। विशेष प्रक्रिया विहित करने वाले उपबंधों का उद्देश्य साधारण प्रक्रिया संबंधी विधि के अधीन विहित प्रक्रिया से अलग मामलों का शीघ्र विचारण है और ऐसा इस कारण किया गया है कि विद्यमान प्रक्रिया संबंधी विधि आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलापों में लगे हुए अपराधियों से निपटने के लिए अपर्याप्त और पर्याप्त रूप से प्रभावी नहीं पाई गई, द्वितीय यह कि आतंकवादियों और विध्वंसकारियों के क्रियाकलापों से ऐसे अपराध पनप रहे हैं जिनसे भारत की प्रभुता और राज्य क्षेत्रीय अखंडता का विध्वंस होगा या विध्वंस होना आशयित है या जिससे भारत का कोई भाग अध्यर्पण कर सकता है या उसके ऐसे किसी दावे या संघ से भारत के किसी भाग के विलग हो जाने के दावे को समर्थन प्राप्त होगा, और जिससे लोगों के मन में आतंक और असुरक्षा की भावना उत्पन्न होगी। तथापि, विधानमंडल ने अपराधों की बढ़ती प्रवृति को देखते हुए इस विधि के अधीन प्रक्रिया में यह व्यापक परिवर्तन किया है ताकि विधानमण्डल का उद्देश्य विफल और अकृत न बन जाए।

161. न्यायमूर्ति अहमदी ने **निरंजन सिंह के० एस० पंजाबी बनाम जीतेन्द्र भीमराव बिज्जया**[1] वाले मामले में यह कहा कि उन कानूनों का जो उस विहित विधि के अधीन किसी दाण्डिक कार्रवाई में कारावास अधिरोपित करते हैं नियमनिष्ठ रूप में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए। वास्तव में, इस न्यायालय ने **उस्मान भाई दाउदभाई मेमन बनाम गुजरात राज्य**[2] वाले मामले में यह मताभिव्यक्ति की—

> "इस अधिनियम का आश्रय ऐसी स्थिति में अन्तिम विकल्प के रूप में लिया जाना चाहिए जब साधारण दण्ड विधि के अधीन पुलिस स्थिति न संभालने पाए। इससे देश के विभिन्न भागों में आतंकवाद के बढ़ते खतरे का सामना करने के लिए विशेष तंत्र का उपबन्ध करना आशयित है।"

162. उपर्युक्त **उस्मान भाई**[2] वाले मामले में की गई उपर्युक्त मताभिव्यक्ति से सहमति व्यक्त करते हुए न्यायमूर्ति अहमदी ने उपर्युक्त **निरंजन सिंह**[1] वाले मामले में यह मताभिव्यक्ति की—

> "इस अधिनियम सरीखे किसी दांडिक कानून का आश्रय लेते समय अभियोजन मामले के अभिलेख और अन्वेषण के दौरान संगृहीत दस्तावेजों से यह दर्शित करने के लिए कर्तव्यबद्ध है कि इससे उद्भूत होने वाले तथ्यों से विधि के अन्तर्गत अपराध गठित होता है। जब कानून में देश की साधारण दंड विधि के अधीन समरूप अपराधों के लिए विहित दंड की भांति विशेष या वर्धित दण्ड उपबंधित हो,

---

[1] (1990) 4 एस० सी० सी० 76.

[2] [1988] 4 उम० नि० प० 467=(1988) 2 एस० सी० सी० 271.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

तो न्यायाधीशों का यह निश्चित करने का विशेष दायित्व और कर्तव्य बन जाता है कि अभियोजन पक्ष द्वारा लगाए गए आरोप का समर्थन करने के लिए प्रथमदृष्ट्या साक्ष्य उपलब्ध है। अत:, जब विधि किसी व्यक्ति पर गंभीर दांडिक परिणाम अधिरोपित करती है, तो यह सुनिश्चित करने के लिए कि उन लोगों को जिन्हें, विधानमंडल द्वारा कानून को अभिव्यक्त भाषा के अन्तर्गत लाना आशयित नहीं है विधि की भाषा को व्यापक अर्थ देते हुए मिथ्या आलिप्त न किया जाए अत्यधिक सावधानी बरती जानी चाहिए। किंतु इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि उस न्यायिक अधिकारी को जिससे यह विनिश्चित करने के लिए कहा गया कि क्या अधिनियम के अधीन आरोप विरचित करने के लिए कोई मामला बनता है अथवा नहीं नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। उसे केवल तभी यदि अभियोजन पक्ष यह दर्शित करता है कि अभिलेख पर प्रस्तुत की गई सामग्री और अवलंबित दस्तावेजों से यह शंका प्रबलतापूर्वक उत्पन्न होती है कि अभियुक्त ने वह अपराध किया अथवा नहीं जिसका उसके विरुद्ध अभिकथन किया गया आरोप विरचित करना चाहिए।"

163. अत:, 1987 के अधिनियम के उद्देश्य और प्रयोजन को देखते हुए जो कि उद्देशिका और अधिनियम के उद्देश्य और कारणों से परिलक्षित हैं, इस दलील को जिसे उपर्युक्त (1) और (2) आधार पर धारा 3 और 4 की वैधता और प्रभावोत्पादकता को आक्षेपित करते हुए दिया गया माना नहीं जा सकता है। जहां तक आधार सं० 3 का संबंध है हम उपर्युक्त **अनवर अली**[1] वाले मामले में जिसमें अपराध के वर्ग या वर्गों के विवाद्यकों और विधि के समक्ष "समता की कसौटी" की चर्चा है के अधिकथित सिद्धांत पर संविधान के अनुच्छेद 14 के प्रति निर्देश करते हुए और इस बाबत विचार करते हुए इस निर्णय के अंतिम भाग में विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे। फिलहाल हम यह कहना चाहेंगे कि इन दोनों उपबंधों की विधिमान्यता को तीसरे आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है क्योंकि हमें इस अधिनियम के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इसके अधीन के मामलों के विचारण के लिए उपबंधित पृथक् तंत्र को देखते हुए किसी प्रकार का विभेद दिखाई नहीं देता है।

1987 के अधिनियम की धारा 8

164. श्री वी० एम० तारकुण्डे ने इस उपबंध को जिसमें इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध में अभिहित न्यायालय द्वारा सिद्धदोष घोषित किए गए कतिपय व्यक्तियों की संपत्ति के समपहरण के लिए उपबंध है यह कहते हुए आक्षेपित किया कि यह धारा इस आधार कि (1) किसी सिद्धदोष घोषित किए गए व्यक्ति की संपत्ति का समपहरण किया जाए अथवा नहीं, इस बाबत किसी प्रकार का दिशानिर्देश उपबंधित नहीं है, और (2) "सभी विल्लंगमों से मुक्त" सरकार को समपहरण से अधिकांश मामलों में उन पर व्यक्तियों को व्यर्थ में ही दंडित होना पड़ेगा जिनका इस अपराध से जिससे किसी व्यक्ति को सिद्धदोष घोषित किया गया है और जिसका इसमें इसके सिवाय कोई हित नहीं है कि उसने समपहृत संपत्ति की प्रतिभूति पर धन उपलब्ध कराया किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं है संविधान के अनुच्छेद 21 और 14 की अतिक्रमणकारी है।

[1] [1952] एस० सी० आर० 284.

165. इस तर्क का विद्वान अपर महासालिसिटर द्वारा यह दलील देते हुए विरोध किया गया कि धारा 8 "आतंकवादी" की संपत्ति या हित को राज्य में निहित करती हैं और कोई भी पर-व्यक्ति समपहरण के होते हुए भी समपहृत संपत्ति में विधि के अनुसार अपने हित से संबंधित अपने अधिकारों को "आतंकवादियों" के विरुद्ध सदैव प्रवृत्त कर सकता है।

166. अधिनियम की धारा 8(1) में अभिहित न्यायालय को इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन किसी अपराध में सिद्धदोष घोषित किए जाने पर किसी प्रकार का दंड अधिनिर्णीत करते हुए लिखित में इस घोषणा के साथ आदेश पारित करने की वैवेकिक शक्ति प्रदान की गई है कि आदेश में विनिर्दिष्ट सिद्धदोष व्यक्ति की जंगम या स्थावर या दोनों प्रकार की संपत्ति सभी विल्लंगमों से मुक्त सरकार को समपहृत हो जाएगी।

167. धारा 8 की उपधारा (2) में यह कहा गया है कि उस अभिहित न्यायालय को जो इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन किसी अपराध के लिए किसी अभियुक्त का विचारण कर रही है उसके विचारण की अवधि के दौरान उसकी समस्त संपत्तियों या किन्हीं संपत्ति को कुर्क करने से संबंधित आदेश पारित करने की स्वतंत्रता है और उस स्थिति में यदि विचारण में दोषसिद्धि हो जाती है, तो संपत्ति सभी विल्लंगमों से मुक्त सरकार को समपहृत हो जाएगी।

168. धारा 8 की उपधारा 3(क), (ख) और (ग) में अभिहित न्यायालय को किसी फरार अभियुक्त की संपत्ति को कुर्क करने का वैवेकिक प्राधिकार और अभिहित न्यायालय को इस कुर्की में यदि कुर्की दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन की गई थी से संबंधित दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 83 से 85 को लागू करने की शक्ति भी दी गई है।

169. संहिता की धारा 82 में फरार व्यक्तियों की उद्घोषणा का वर्णन है। धारा 83 में फरार व्यक्तियों की संपत्ति की कुर्की वर्णित है। धारा 84 में कुर्की के दावे और आपत्ति की चर्चा है। धारा 84 की उपधारा (1) में यह परिकल्पित है कि यदि धारा 83 के अधीन कुर्क की गई किसी संपत्ति के बारे में उस कुर्की की तारीख से छह मास के भीतर कोई व्यक्ति, जो उद्घोषित व्यक्ति से भिन्न है, इस आधार पर दावा या उसके कुर्क किए जाने पर आपत्ति करता है कि दावेदार या आपत्तिकर्ता का उस संपत्ति में कोई हित है और ऐसा हित धारा 83 के अधीन कुर्क नहीं किया जा सकता तो उस दावे या आपत्ति की जांच की जाएगी, और उसे पूर्णतः या भागतः मंजूर या नामंजूर किया जा सकता है।

170. हमारा "टाडा" की धारा 8 की उपधारा (3) और (4) से कोई संबंध नहीं है अपितु इसकी मात्र उपधारा (1) और (2) से संबंध है।

171. धारा 8(1) और (2) के अधीन अभिहित न्यायालय को दी गई वैवेकिक शक्ति का प्रयोग दुर्लभ आकस्मिकताओं में ही किया जाना चाहिए अर्थात् यह कि (1) समपहरण का आदेश किया जाना आवश्यक है और यह आदेश लिखित में किया जाना चाहिए, (2) संपत्ति चाहे जंगम हो या स्थावर अथवा दोनों प्रकार की "टाडा" या तद्धीन नियम के अधीन किसी अपराध के सिद्धदोष व्यक्ति की होनी चाहिए, (3) संपत्ति आदेश में विनिर्दिष्ट होनी चाहिए, (4) यद्यपि कुर्की मामले के विचारण के दौरान धारा 8(2) के अधीन की जा

1994(3) eILR(PAT) SC 1

सकती है, समपहरण का आदेश केवल दोषसिद्धि की स्थिति में ही किया जा सकता है अन्यथा नहीं।

172. इस तथ्य से कि आदेश लिखित में होना चाहिए यह विवक्षित है कि अभिहित न्यायालय को ऐसे आदेश के कारण देने चाहिए यद्यपि इस धारा में अभिहित न्यायालय से ऐसा करने के कारण अभिलिखित करने की अपेक्षा विनिर्दिष्टतः नहीं है क्योंकि शब्दकोशीय अर्थ के अनुसार भी "आदेश" शब्द से अपराध का विचारण करने वाले न्यायालय द्वारा अंतर्वर्ती या प्रारंभिक या अंतिम विनिश्चय या निदेश अभिप्रेत है। दूसरे, अधिनियम की धारा 19 के अधीन ऐसे किसी आदेश से जो कि अंतर्वर्ती आदेश नहीं है तथ्य और विधि दोनों के आधार पर आधिकारिक रूप में सीधे उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।

173. उपर्युक्त कारणों से, यह दलील असफल रहती है।

1987 के अधिनियम की धारा 9

174. इस धारा जिसमें किसी क्षेत्र या क्षेत्रों के लिए या किसी मामले या किसी वर्ग या समूह के मामलों के लिए अभिहित न्यायालय का गठन करने के लिए केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा जारी की जाने वाली अधिसूचना का वर्णन है की विधिमान्यता को पहले इस आधार पर चुनौती दी गई कि यह सातवीं अनुसूची की सूची 2 की प्रविष्टि 65 और संविधान के अनुच्छेद 233, 234 और 235 की अतिक्रमणकारी है और दूसरे धारा 9 की उपधारा (7) संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए ऋजु विचारण के सिद्धांत के विरुद्ध है।

175. अब हम प्रथम दलील पर विचार करेंगे।

176. हम इस विधि का विधायन करने से संबंधित संसद् की विधायी सक्षमता की बाबत व्यापक रूप में चर्चा कर चुके हैं और हम यह निष्कर्ष निकाल चुके हैं कि संसद् संविधान के अनुच्छेद 248 के साथ पठित सूची 1 की प्रविष्टि 97 और प्रविष्टि 1 अर्थात् "भारत की सुरक्षा" न कि सूची 2 की प्रविष्टि 1 अर्थात् "लोक व्यवस्था" के अधीन अवशिष्ट शक्ति के अंतर्गत "टाडा" अधिनियमित करने के लिए सक्षम है। सूची 1 की प्रविष्टि 95 इस प्रकार है "उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों की इस सूची के किसी विषय के संबंध में अधिकारिता और शक्तियां………।"

177. जैसा कि हमने अभी देखा यह आक्षेपित अधिनियम सूची 1 की प्रविष्टि 1 के अधीन अधिनियमित किया गया है, अतः केन्द्रीय सरकार द्वारा अभिहित न्यायालयों के गठन को सूची 2 की प्रविष्टि 65 का जो राज्य विधानमण्डल को न्यायालयों का गठन करने के लिए सशक्त बनाती है अतिक्रमणकारी नहीं कहा जा सकता है। अधिनियम की धारा 9 के अधीन केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें दोनों धारा 9 की उपधारा (2) के अधीन अधिसूचना द्वारा अभिहित न्यायालयों का गठन करने के लिए प्राधिकृत है। यह स्पष्ट किया जाता है कि केंद्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकार की अभिहित न्यायालयों का गठन करने से संबंधित जारी की गई अधिसूचना से पहले या बाद में गठित किए गए न्यायालयों को उस क्षेत्र या क्षेत्रों में किए गए किसी अपराध का विचारण करने की अधिकारिता होगी और राज्य सरकार द्वारा गठित अभिहित न्यायालयों को उस क्षेत्र या क्षेत्रों में किए गए किसी अपराध का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं होगी।

178. इसके अतिरिक्त, आक्षेपित धारा की उपधारा (3) में यह कहा गया है कि जहां किसी अभिहित न्यायालय की अधिकारिता की बाबत कोई प्रश्न उद्भूत हो, वहां केंद्रीय सरकार द्वारा इस संबंध में लिया गया विनिश्चय अंतिम होगा ।

179. पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर हमें इस दलील में कोई सार दिखाई नहीं देता है कि धारा 9 संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 2 की प्रविष्टि 65 और अनुच्छेद 233, 234 और 235 की अतिक्रमणकारी है ।

180. अब हम धारा 9 की, उपधारा (7) की विधिमान्यता से संबंधित द्वितीय आक्षेप पर विचार करेंगे ।

181. धारा 9(1) के अधीन, केंद्रीय सरकार या कोई राज्य सरकार ऐसे क्षेत्र या क्षेत्रों के लिए, या ऐसे मामले या मामलों के वर्ग या ग्रुप के लिए जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किए जाएं एक या अधिक अभिहित न्यायालय गठित कर सकती है । इस धारा की उपधारा (2) में केंद्रीय सरकार द्वारा गठित अभिहित न्यायालय की अधिकारिता और केंद्रीय सरकार द्वारा गठित अभिहित न्यायालय की अधिमानी अधिकारिता अर्थात् राज्य सरकार द्वारा गठित अभिहित न्यायालय को अधिकारिता का वर्णन है । उपधारा (3) में यथा पूर्वोक्त किसी न्यायालय की अधिकारिता से संबंधित किसी प्रकार के विवाद के प्रश्न की स्थिति में उसका केंद्रीय सरकार द्वारा विनिश्चय किए जाने की चर्चा है । उपधारा (4) और (5) में अभिहित न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति का वर्णन है जबकि उपधारा (6) में नियुक्त किए जाने वाले न्यायाधीशों की अर्हता की चर्चा है ।

182. धारा 9 की उपधारा (7) को जिसमें न्यायाधीश की सेवा जारी रखे जाने की बाबत उपबंध है इस आधार पर चुनौती दी गई है कि किसी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा अधिवर्षिता की आयु प्राप्त किए जाने के पश्चात् उसे जारी रखा जाना प्रतिगामी उपबंध है क्योंकि न्यायाधीश जिसे पद धारण करने के लिए अनुज्ञात किया गया है अधिवर्षिता के पश्चात् न्यायिक स्वतंत्रता से कार्य नहीं कर पाएगा अपितु वह कार्यपालिका के प्रसाद पर पद धारण करने के कारण पद के अनुरूप कार्य नहीं कर पाएगा और कार्यपालिका जब चाहे उसकी नियुक्ति का पर्यवसान करने के लिए स्वतंत्र होगी । विद्वान काउंसेल के अनुसार, सेवा में बने रहने की इस विधिक मंजूरी मे न्यायसंगत और ऋजु विचारण का प्रयोजन हल नहीं होगा और इससे अनुच्छेद 21 में दिए गए सिद्धांत का अतिक्रमण होगा । उपर्युक्त दलील के समर्थन में **विशेष न्यायालय विधेयक**[1] का अवलंब लिया गया ।

183. इस मामले में राष्ट्रपति द्वारा इस प्रश्न पर विचार किए जाने के लिए कि क्या विशेष न्यायालय विधेयक, 1978 या अधिनियमित किया गया इसका कोई उपबंध सांविधानिकतः अविधिमान्य होगा संविधान के अनुच्छेद 143(1) के अधीन निर्देश किया गया । विधेयक के खण्ड 7 में यह उपबंधित था कि विशेष न्यायालय की अध्यक्षता भारत के किसी उच्च न्यायालय के किसी आसीन न्यायाधीश द्वारा या ऐसे किसी व्यक्ति द्वारा जिसने भारत के किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर कार्य किया है और जिसका नाम-निर्देशन केंद्रीय सरकार द्वारा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से किया गया है, की

[1] [1979] 2 एस० सी० आर० 476.

जाएगी। (चूंकि यहां हमारा संबंध केवल अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने के पश्चात् भी पद धारण करने वाले न्यायाधीश को बनाए रखने से है, हम विशेष न्यायालय विधेयक के अन्य उपबंधों या खण्डों पर विचार नहीं करेंगे।)

184. न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया :—

> "अतः, हमारी यह राय है कि विधेयक का खण्ड 7 संविधान के अनुच्छेद 21 का इस रूप में अतिक्रमण करता है कि ऐसे व्यक्ति को जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर आसीन रहा है मात्र भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से विशेष न्यायालय की अध्यक्षता किए जाने के लिए नियुक्त किया जा सकता है।"

185. इस विनिश्चय का सावधानीपूर्वक परिशीलन करने के उपरांत हमारा यह मत है कि विशेष न्यायालय विधेयक के खण्ड (7) के प्रति निर्देश करते हुए इस न्यायालय की मताभिव्यक्ति को इस कारण धारा 9(7) के अधीन किसी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश को बनाए रखने की स्थिति में कड़ाई से लागू नहीं किया जा सकता है कि वह व्यक्ति जिसे विशेष न्यायालय विधेयक के खण्ड 7 के अधीन भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से केंद्रीय सरकार द्वारा नामनिर्दिष्ट किया जाना है ऐसा व्यक्ति है जिसने उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर कार्य किया अर्थात् यह कि नियुक्ति सेवानिवृत्ति के पश्चात् की जाए। किंतु वर्तमान अधिनियम में न्यायाधीश यथास्थिति, न्यायाधीश या अपर न्यायाधीश के रूप में अधिवर्षिता की प्राप्ति पर उसी प्रकार न्यायिक सेवा जारी रखने के लिए अनुज्ञात किया गया है। दूसरे शब्दों में, न्यायाधीश अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने पर भी सेवानिवृत्त नहीं होता है।

186. अतः, हमें **विशेष न्यायालय विधेयक**[1] वाले मामले में की मताभिव्यक्ति का लाभ उठाकर धारा 9(7) की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती देने से संबंधित उपर्युक्त दलील में कोई बल दिखाई नहीं देता है। तथापि, हम यह कहना चाहेंगे कि केंद्रीय सरकार और राज्य सरकार को अभिहित न्यायालय के किसी न्यायाधीश या अपर न्यायाधीश की संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से नियुक्ति करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि अभिहित न्यायाधीश के पास नियुक्ति के प्रारम्भिक प्रक्रम पर भी सेवा की पर्याप्त कालावधि है ताकि किसी को भी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश को उसकी अधिवर्षिता की प्राप्ति पर सेवा में बनाए रखने के संबंध में कोई शिकायत न हो सके। अतः धारा 9(7) किसी सांविधानिक उपबंध का अतिक्रमण नहीं करती है।

187. 1987 के अधिनियम [आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987] की धारा 11(2) के संबंध में यह पुरजोर दलील दी गई कि इसमें किसी राज्य में के अभिहित न्यायालय में लंबित किसी मामले को उसी राज्य के भीतर किसी दूसरे अभिहित न्यायालय को या किसी दूसरे राज्य में किसी अन्य अभिहित न्यायालय को अंतरित करने का उपबंध है।

188. श्री बी० एम० तारकुंडे के अनुसार जब तक धारा 11(2) में यह नहीं पढ़ा जाएगा कि केवल अभियुक्त को सुनने के पश्चात् ही अन्तरण किया जाएगा यह नैसर्गिक

[1] **1979 (2) एस० सी० आर० 476.**

1994(3) eILR(PAT) SC 1

न्याय के नियम के विपरीत उपबंध होगा और धारा 11(2) संविधान के अनुच्छेद 14 के अतिक्रमण में होगी। उन्होंने आगे यह दलील दी है कि ऐसा कोई आदेश जिसमें धारा 11(2) के अधीन सहमति दी गई है न्यायिक प्रकृति का अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए। अपनी दलील के समर्थन में उन्होंने **ए० के० क्रैपक और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय का अवलंब लिया है और यह कथन किया है कि नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत, जिसका प्रयोजन अन्याय का निवारण है, न केवल न्यायिक और न्यायिककल्प आदेश को लागू होता है बल्कि यह प्रशासनिक आदेश को भी लागू होता है। निम्नलिखित मामलों के प्रति भी निर्देश किया गया है : **एच० के० (अवयस्क बालक वाला मामला)**[2], **उड़ीसा राज्य** बनाम **डा० (कुमारी) वीणापाणी देवी और अन्य**[3]।

189. दलील के दौरान श्री तारकुंडे ने कहा कि भले ही अभियुक्त की सम्मति पर सहमति दे दी जाए तो भी यह एक न्यायिककल्प आदेश होगा और यह कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 406 के अधीन समावेदन करके किसी मामले को अन्तरित करने का प्राधिकार जो उच्चतम न्यायालय में निहित है वह इस अधिनियम के उपबंध द्वारा नहीं छीना गया है। उन्होंने निश्चायक रूप से यह कथन किया कि अभियुक्त को किसी प्रकार का आदेश पारित करने से पहले आक्षेप, यदि कोई वह करना चाहे, करने का एक अवसर दिया जाना चाहिए। उन्होंने आगे कहा कि जब एक अभिहित न्यायालय से किसी दूसरे अभिहित न्यायालय को बहुत सारे मामले अन्तरित किए जाते हैं तो उसे कोई आपत्ति नहीं होगी, किन्तु यदि सहमति की वांछा एक विशिष्ट या वैयक्तिक मामले में की जाती है तो ऐसे अन्तरण से प्रभावित व्यक्ति को सुनवाई का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए; यह कि यदि सरकार अभियुक्त के निवेदन पर अन्तरण की सहमति की ईप्सा करती है तो ऐसी स्थिति में अभियुक्त को नोटिस जारी करने की कोई आवश्यकता नहीं होती और यह कि यह प्रत्येक विशिष्ट मामले की अत्यावश्यकता के ऊपर निर्भर करता है। अन्त में अपने अभिवाक् के समर्थन में श्री तारकुंडे ने **विमल कौर** बनाम **भारत संघ**[4] वाले मामले में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ द्वारा दिए गए निर्णय के पैरा 34 की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है जिसमें यह कहा गया है कि "भारत संघ की ओर से विद्वान काउन्सेल ने यह स्वीकार किया है कि अभियुक्त को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष इससे पहले कि वह मामले को अन्तरण करने के लिए अपनी सम्मति दे अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाना चाहिए।"

190. धारा 11(2) की सांविधानिक विधिमान्यता को आक्षेपित करते हुए इसी प्रकार श्री हरदेव सिंह ने भी अपनी दलील दी है।

191. इसके विरोध में विद्वान अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि क्योंकि इस उपबंध में ऐसे किसी क्षेत्र के संबंध में "जो आतंकवाद से प्रभावित क्षेत्र" या "विक्षुब्ध क्षेत्र" के रूप में घोषित किया गया है एक अधिसूचना की विद्यमानता की पूर्वकल्पना है जिसमें

---

[1] 1970 (1) एस० सी० आर० 457.

[2] 1967 (2) क्यू० बी० 617, 630.

[3] 1967 (2) एस० सी० आर० 635.

[4] ए० आई० आर० 1988 पंजाब और हरियाणा 95 (पृष्ठ 102).

यह अनिवार्य है कि उस क्षेत्र के भीतर सामान्यतया ऋजु विचारण साध्य नहीं होगा और यह कि विधानमण्डल ने ऐसी विस्फोटक स्थिति को ध्यान में रखते हुए मामलों को अन्तरित करने के संबंध में उदार प्रक्रिया उपबंधित की है जिससे कि ऋजु और उचित विचारण शांत वातावरण में किया जा सके। तथापि, विधानमण्डल ने ऐसे अन्तरणों के संबंध में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति प्राप्त करना एक पुरोभाव्य शर्त के रूप में अन्तर्विष्ट करके सुरक्षोपाय प्रदान किया है और यह कि जब ऐसा सुरक्षोपाय अन्तर्विष्ट किया जाता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि अभियुक्त की सुनवाई के बिना अन्तरण विधि की दृष्टि में दोषपूर्ण है। उन्होंने दलील दी है कि संसद् इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि किसी आक्षेप को ग्रहण करना केवल इस उपबंध के अर्थपूर्ण प्रयोजन को बेकार कर देगा और कार्यवाहियों को विफल कर देगा, कुछ असाधारण परिस्थितियों में नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत को लागू करने को वर्जित करने के लिए पूर्ण रूप से सशक्त है। विद्वान अपर महासालिसिटर ने **तुलसीराम पटेल वाले मामले**[1] का अवलंब लिया है जिसमें न्या० डी० पी० मदान ने सांविधानिक न्यायपीठ के बहुमत के निर्णय को सुनाते हुए निम्न प्रकार मत व्यक्त किया था :—

> "............यह सुस्थापित है कि जहां पूर्व नोटिस और किसी आदेश के पारित होने से पहले सुनवाई के अवसर का अधिकार त्वरित कार्यवाही में विघ्न पैदा करेगा वहां ऐसे अधिकार का वर्जन किया जा सकता है। यह अधिकार वहां भी वर्जित किया जा सकेगा जहां की जाने वाली कार्यवाही की प्रकृति जिसका उद्देश्य और प्रयोजन तथा सुसंगत कानूनी उपबंधों की स्कीम इसके वर्जन की मांग करती है, न ही सुनवाई के अधिकार का नियम लागू किया जा सकेगा यदि इसके लागू करने का प्रभाव प्रशासकीय प्रक्रिया को बेकार कर देगा या किसी. कार्यवाही किए जाने की तत्परता और अपरिहार्यता की ऐसी आवश्यकता है।"

192. इसके साथ में उन्होंने हमारा ध्यान इन मामलों की ओर आकृष्ट किया है। **सत्यवीर सिंह बनाम भारत संघ**[2] और **सी० बी० गौतम बनाम भारत संघ**[3]।

193. संहिता की धारा 406 के प्रति निर्देश करते हुए श्री तारकुंडे की दलील के अन्य पहलू की बाबत चर्चा करते हुए विद्वान अपर महासालिसिटर ने "टाडा" की धारा 25 का अवलंब लिया जिसमें "टाडा" के सिवाय किसी अन्य अधिनियमिति में दी गई बात के विसंगत किसी बात के होते हुए भी अधिनियम के उपबंधों के अध्यारोही प्रभाव की चर्चा है। उसने आगे यह भी कहा कि उपर्युक्त **ए० के० क्रेपक**[4] वाले मामले में अधिकथित सिद्धांत वर्तमान मामले को बिल्कुल भी लागू नहीं होता है क्योंकि वह ऐसा मामला था जिसमें अभियुक्त की सुनवाई अधिनियम द्वारा अभिव्यक्ततः या आवश्यक विवक्षा द्वारा अपवर्जित की गई थी।

194. उपर्युक्त संविवादास्पद बहस इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर आधारित है अर्थात् (1) उस आदेश की प्रकृति क्या है जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति ने इस निमित्त किए गए प्रस्ताव

---

[1] 1985 (3) एस० सी० 398.
[2] 1985 (4) एस० सी० सी० 252.
[3] 1993 (1) एस० सी० सी० 78.
[4] 1970 (1) एस० सी० आर० 457.

पर पारित किया और (2) क्या अभियुक्त भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सहमति व्यक्त किए जाने से पूर्व सुनवाई का अवसर दिए जाने का हकदार है ।

195. अधिनियम की धारा 11 की उपधारा (2) और (3) इस प्रकार है :—

"11. (1)..........................

(2) यदि किसी राज्य में विद्यमान स्थिति की अभ्यावश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय सरकार की यह राय है कि—

(क) उस राज्य में विद्यमान स्थिति ऋजु, निष्पक्ष या शीघ्र विचारण के लिए सहायक नहीं है, या

(ख) परिशांति भंग या अभियुक्त, साक्षियों, लोक अभियोजक और अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश या उनमें से किसी की सुरक्षा के लिए गंभीर जोखिम पैदा किए बिना यह होनी संभाव्य नहीं है, या

(ग) यह अन्यथा न्याय के हित में नहीं है, तो वह भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से (ऐसी सहमति महाधिवक्ता द्वारा उस निमित्त किए गए प्रस्ताव पर अभिप्राप्त की जाएगी) उस राज्य में किसी अभिहित न्यायालय के समक्ष लंबित ऐसे मामले को उस राज्य के भीतर या किसी अन्य राज्य में किसी अन्य अभिहित न्यायालय को अंतरित कर सकेगी ।

(3) जहां किसी अभिहित न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर का संपूर्ण क्षेत्र या उसका कोई भाग, उपद्रव को दबाने के लिए तथा लोक व्यवस्था को बहाल करने और बनाए रखने के लिए उपबंध करने वाली तत्समय प्रवृत्त किसी अधिनियमिति के अधीन विक्षुब्ध क्षेत्र घोषित किया गया है, या उसका भाग है और केन्द्रीय सरकार की यह राय है कि उस राज्य में विद्यमान स्थिति इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन ऐसे अपराधों के, जिनका ऐसा अभिहित न्यायालय विचारण करने के लिए सक्षम है, राज्य के भीतर ऋजु, निष्पक्ष या शीघ्र विचारण के लिए सहायक नहीं है, वहां केन्द्रीय सरकार, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से, ऐसे न्यायालय के संबंध में (जिसे इस उपधारा में इसके पश्चात् स्थानीय न्यायालय कहा गया है) राज्य के बाहर किसी अभिहित न्यायालय को (जिसे इस धारा में इसके पश्चात् विनिर्दिष्ट न्यायालय कहा गया है), राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, विनिर्दिष्ट कर सकेगी, और तब—

(क) ऐसी स्थानीय न्यायालय के लिए ऐसी अधिसूचना के प्रवर्तन की अवधि के दौरान किसी समय यह सक्षम नहीं होगा कि वह इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन किसी अपराध की बाबत किसी अधिकारिता का प्रयोग करे या उसका विचारण करे ;

(ख) ऐसी अधिकारिता जो, यदि ऐसी अधिसूचना निकाली नहीं जाती तो, ऐसी अधिसूचना के प्रवर्तन की अवधि के दौरान किए गए ऐसे अपराधों की बाबत ऐसे स्थानीय न्यायालय द्वारा प्रयोक्तव्य होती ;

1994(3) eILR(PAT) SC 1

(ग) ऐसी अधिसूचना के निकाले जाने की तारीख से ठीक पूर्व ऐसे स्थानीय न्यायालय के समक्ष लंबित ऐसे अपराधों से संबंधित सभी मामले उस तारीख को विनिर्दिष्ट न्यायालय को अंतरित हो जाएंगे ;

(घ) ऐसे सभी मामलों के बारे में जिनका खंड (ख) या खण्ड (ग) के अधीन विनिर्दिष्ट न्यायालय ने संज्ञान किया है या जो उसको अंतरित किए गए हैं (ऐसी अधिसूचना के प्रवर्तन की अवधि के दौरान या उसके पश्चात्) इस अधिनियम के अनुसार वैसे ही कार्रवाई की जाएगी और विचारण किया जाएगा मानो ऐसे अपराध, यथास्थिति, विनिर्दिष्ट न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर किए गए हों या उपधारा (2) के अधीन उसके विचारण के लिए अंतरित किए गए हों ।

स्पष्टीकरण 1. ....

स्पष्टीकरण 2. ...."

196. भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति भारत के महान्यायवादी या उसकी अनुपस्थिति में भारत के महासालिसिटर या दोनों की अनुपस्थिति में भारत के अपर महा-सालिसिटरों में से किसी एक द्वारा इस निमित्त किए गए प्रस्ताव पर अभिप्राप्त की जानी चाहिए [धारा 11 की उपधारा (2) का स्पष्टीकरण 2 दृष्टव्य है]

197. धारा 11 की उपधारा (3) की यह अपेक्षा है कि केन्द्रीय सरकार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से राजपत्र में अधिसूचना जारी करके राज्य के बाहर कोई अभि-हित न्यायालय विनिर्दिष्ट करेगी ।

198. सहमति प्रदान करने का प्राधिकार ऐसे स्वतंत्र न्यायिक प्राधिकारी में निहित है जो कि भारत की न्यायपालिका का अध्यक्ष है अर्थात् भारत के मुख्य न्यायमूर्ति नामोदिष्ट व्यक्ति के रूप में । भारत के मुख्य न्यायमूर्ति में इस शक्ति का निहित किया जाना प्रकटतः यह स्पष्ट करने के प्रयोजन से है कि केन्द्रीय सरकार विद्वेष या असद्भाव के हेतु से या किसी बाह्य विचारणा द्वारा प्रभावित होकर सहमति अभिप्राप्त करने की ईप्सा नहीं करती, अपितु आवश्यक शर्तों की पूर्वापेक्षा की विचारणा पर विचार करते हुए युक्तियुक्त और न्यायोचित आधार पर ऐसा करती है और ये पूर्वापेक्षाएं यह हैं (1) कि उस राज्य में विद्यमान स्थिति जिससे धारा 11(2) के अधीन कोई मामला किसी अन्य अभिहित न्यायालत को अंतरित किया जाना ईप्सित है ऋजु, निष्पक्ष या शीघ्र विचारण के लिए उपयुक्त नहीं है ; (2) यह कि प्रशांति भंग या अभियुक्त, साक्षियों, लोक अभियोजक और अभिहित न्यायालय के न्याया-धीश या उनमें से किसी की सुरक्षा के लिए गंभीर जोखिम पैदा किए बिना यह होनी संभाव्य नहीं है । धारा 11 के उपखंड (3) के अधीन केंद्रीय सरकार राज्य के बाहर अभिहित न्यायालय विनिर्दिष्ट करने के लिए भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति की ईप्सा करने के लिए सशक्त है जब उसकी यह राय हो कि राज्य में विद्यमान स्थिति राज्य के भीतर ऋजु, निष्पक्ष और शीघ्र विचारण के लिए उपयुक्त नहीं है ।

199. निस्संदेह यह सत्य है कि संविधान के अधीन पहले से विद्यमान विनिर्दिष्ट उपबंध हैं और ऐसे कुछ कानून भी हैं जो अंतरित करने वाले न्यायालय के अधीनस्थ किसी न्यायालय से किसी अन्य न्यायालय को मामलों और अपीलों के अंतरण से संबंधित हैं ।

200. संविधान के अनुच्छेद 139-क के अधीन या तो भारत का महान्यायवादी या किसी मामले का कोई पक्षकार इस अनुच्छेद में यथा अनुध्यात कतिपय मामलों के अंतरण के लिए उच्चतम न्यायालय में समावेदन कर सकता है। वास्तव में उच्चतम न्यायालय अपने स्वयं के प्रस्ताव पर भी उच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयों में लंबित मामले या मामलों को वापस ले सकता है और स्वयं इन सभी मामलों का निपटारा कर सकता है।

201. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 406 के अधीन आपराधिक मामलों के अंतरण के लिए, भारत का महान्यायवादी या कोई हितबद्ध पक्षकार (संहिता की धारा 407 के विपरीत) संकल्प के रूप में समर्थनकारी शपथपत्र के साथ या मामलों और अपीलों को एक उच्च न्यायालय से किसी अन्य उच्च न्यायालय को या एक उच्च न्यायालय के अधीनस्थ दंड न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय के अधीनस्थ समान या वरिष्ठ अधिकारिता वाले दूसरे दंड न्यायालय को अंतरित करने के प्रतिज्ञान के रूप में उच्चतम न्यायालय में आवेदन कर सकता है।

202. सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 24 के अधीन उच्च न्यायालय और जिला न्यायालय को किसी भी पक्षकार के आवेदन पर उन्हें नोटिस जारी किए जाने और सुने जाने के पश्चात् या अपने स्वयं के संकल्प पर मामलों के अंतरण और वापस लेने की साधारण शक्ति प्रदान की गई है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 25 उच्चतम न्यायालय को एक राज्य के किसी उच्च न्यायालय या सिविल न्यायालय से किसी वाद, अपील और अन्य कार्यवाहियों को किसी अन्य राज्य में के किसी उच्च न्यायालय या अन्य सिविल न्यायालय को पक्षकार के आवेदन पर और उन्हें नोटिस जारी करने और सुनने के पश्चात् अंतरण करने के लिए सशक्त बनाती है।

203. 1976 के संशोधन अधिनियम 104 द्वारा प्रतिस्थापित सिविल प्रक्रिया संहिता की नवीन धारा 25 में राज्य सरकार में अब तक निहित विद्यमान शक्ति का उच्चतम न्यायालय को अंतरण के लिए उपबंध है और इसमें उच्चतम न्यायालय को इतनी व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं जितनी कि उसे संहिता की धारा 406 के अधीन दांडिक मामलों में प्राप्त है। वास्तव में धारा 25 की व्याप्ति दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 406 की बनिस्बत व्यापक है। यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 139-क और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 406 में ऐसा कोई अभिव्यक्त उपबंध नहीं है कि उच्चतम न्यायालय को मामलों के अंतरण के लिए किए गए या प्रस्तुत किए गए आवेदन पर किसी प्रकार का आदेश पारित करने से पूर्व दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 24 और 25 के अधीन यथा अपेक्षित रूप में पक्षकारों को "दूसरे पक्ष को भी सुनो" के सिद्धान्त के आधार पर नोटिस जारी करना चाहिए और उन्हें सुना जाना चाहिए, उस पक्षकार/पक्षकारों को जिनके किसी अंतिम आदेश द्वारा प्रभावित होने की संभाव्यता है नोटिस दिया जाता है। तथापि, नोटिस जारी करने और पक्षकारों को सुने जाने का प्रश्न उस समय उद्भूत नहीं होगा यदि उच्चतम न्यायालय द्वारा स्वप्रेरणा से आदेश पारित किया जाता है।

204. "टाडा" अधिनियम की धारा 11(2) और (3) पर पुनः विचार करते हुए, जब राज्य में विद्यमान स्थिति की अभ्यावश्यकताएं ऋजु, निष्पक्ष अथवा शीघ्र विचारण के लिए सहायक नहीं हैं मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति की ईप्सा की जा सकती है। वास्तव में इस

सहमति की ईप्सा करने के कारण विधि अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत किए गए संकल्प में प्रकट होने चाहिएं। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति कानूनी कृत्य का निर्वहन करते हुए उस संकल्प में उसके समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर अपना अपेक्षित व्यक्तिपरक समाधान करके कानूनी आदेश पारित करेंगे और सहमति देंगे या मना करेंगे।

205. इस संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार उस स्थिति में यदि मुख्य न्यायमूर्ति सहमति देने से इनकार कर देते हैं धारा 11(2) के अधीन किसी मामले को अंतरित नहीं कर सकती है या धारा 11(3) के अधीन अधिसूचना जारी नहीं कर सकती है। दूसरे रूप में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि धारा 11(2) या धारा 11(3) के अधीन कोई आदेश जारी किए जाने के लिए मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति अनिवार्य है। तथापि इसी समय इस विधिक स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए कि मात्र सहमति प्रदान करना ही अंतरण का आदेश नहीं है अपितु यह केन्द्रीय सरकार के लिए उपर्युक्त उपबंधों में से किसी के अधीन कोई आदेश पारित करने के लिए सुकर बनाता है। दूसरे शब्दों में, धारा 11 की उपधारा (2) या उपधारा (3) के अधीन केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी प्रकार का आदेश पारित किए जाने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति प्राप्त करना पूरी की जाने वाली या अनुपालन की जाने वाली विनिर्दिष्ट शर्तों में से एक है। यद्यपि सहमति प्रदान किया जाना आवश्यक है किंतु इससे सरकार किसी प्रकार का आदेश पारित करने के लिए बाध्य नहीं है यदि, किसी अन्य मध्यवर्ती कारणवश, केन्द्रीय सरकार सहमति प्राप्त करने के पश्चात् भी यह विनिश्चय करती है कि किसी मामले को अंतरित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में सम्मति का कोई प्रभाव नहीं होगा। अतः, सहमति प्रदान किया जाना जो कि सरकार द्वारा अंतरण आदेश पारित किए जाने की पुरोभाव्य शर्त है मात्र कानूनी आदेश है, न कि न्यायिक आदेश क्योंकि किसी प्रकार का कोई न्यायनिर्णयन और किसी विवाद्यक का अवधारण नहीं होता है। अतः सरकार द्वारा पारित अंतिम आदेश को तो न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए चुनौती दी जा सकती है किंतु प्रदत्त की गई सहमति को नहीं क्योंकि यह मात्र कानूनी शर्त है जो केन्द्रीय सरकार द्वारा अंतरण आदेश पारित किए जाने से पूर्व पूरी की जानी चाहिए।'

206. इस संबंध में, हम **आर बनाम केन, आर बनाम शॉलिक**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश कर सकते हैं। इस मामले में अपीलार्थी विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, 1983 के अधीन अपराध से आरोपित था। इस अधिनियम की धारा 7 (1) के अनुसार इस मामले में आगे कार्यवाही किए जाने से पूर्व महान्यायवादी की सहमति प्राप्त करना आवश्यक है। इस उपबंध के अनुसार महान्यायवादी की सहमति इस मामले में प्रदान की गई जिसे इस आधार पर चुनौती दी गई कि महान्यायवादी की सहमति का दस्तावेज धारा 7 के प्रयोजनार्थ पर्याप्त सहमति गठित नहीं करता है। कोर्ट ऑफ अपील्स द्वारा इस चुनौती को यह अभिनिर्धारित करते हुए नामंजूर कर दिया गया कि महान्यायवादी का कर्तव्य मामले की सामान्य परिस्थितियों पर विचार करना और इस बाबत विनिश्चय करना था कि क्या कोई और यदि वह उपयुक्त समझे, तो अधिनियम के किन उपबंधों का उस प्रतिवादी के विरुद्ध अनुसरण किया जाए जिसे मजिस्ट्रेट के समक्ष ऐसे किसी अपराध से आरोपित किया गया था।

[1] 1975 (2) ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 900.

207. गॉरिएट बनाम यूनियन ऑफ पोस्ट आफिस वर्कर्स और अन्य[1] वाला मामला भी दृष्टव्य है ।

208. श्री तारकुण्डे की दलील यह है कि संबंधित अभियुक्त को जिसके इस अंतरण से प्रभावित होने की संभाव्यता है, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा सहमति दिए जाने से पूर्व उसके द्वारा नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत के अनुपालन में अपना अभ्यावेदन करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए ।

209. विद्वान अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि संसद जब की जाने वाले कार्रवाई, सुसंगत कानूनी उपबंधों के उद्देश्य और प्रयोजन तथा स्कीम की प्रकृति के ठप्प पड़ जाने या विफल हो जाने की संभाव्यता है "दूसरे पक्ष को भी सुनो" के नियम के लागू किए जाने को अपवर्जित करने के लिए पूर्णत: सशक्त है । उसके अनुसार, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति प्राप्त की जाने की ईप्सा किसी राज्य में विद्यमान स्थिति की अभ्यावश्यकताओं जो ऋजु, निष्पक्ष अथवा शीघ्र विचारण के लिए सहायक नहीं है, को देखते हुए ही की जानी चाहिए ।

210. जैसा कि हमने बार-बार कहा, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा धारा 11(2) और (3) के अधीन सहमति संकल्प में दिए गए कारणों या राज्य में विद्यमान स्थिति की अभ्यावश्यकताओं जिनके कारण केंद्रीय सरकार के लिए सहमति प्राप्त करना और तत्पश्चात् मामले को अंतरित करने की आवश्यकता पड़ी को स्पष्ट करते हुए उसके समक्ष प्रस्तुत किसी सामग्री के आधार पर अपेक्षित व्यक्ति निष्ट समाधान करके अपने कानूनी कृत्य के निर्वहन में दी जा सकती है या नामंजूर की जा सकती है । अत:, हम यह महसूस करते हैं कि संसद की असाधारण परिस्थितियों में "दूसरे पक्ष को भी सुनो" के नियम के लागू किए जाने को अपवर्जित करने की शक्ति के होते हुए भी भारत के मुख्य न्यायमूर्ति किसी समुचित मामले में अभियुक्त के मामले का परिशीलन करने के लिए स्वतंत्र हैं ।

211. विद्वान काउन्सेल द्वारा किए गए निवेदन में अंतर्वलित प्रश्नों का उत्तर तद्नुसार दिया जाता है ।

1987 के अधिनियम की धारा 15

212. धारा 15 जिसकी बाबत गर्मागर्म बहस की गई कि विधिमान्यत से संबंधित कठोर प्रहार किया गया । इस धारा के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा किसी पुलिस अधिकारी जो पुलिस अधीक्षक से निम्न पंक्ति का नहीं है के समक्ष की गई संस्वीकृति और जिसेलिखित में या कैसेट, टेप या साउण्ड ट्रेक (ध्वनि पट्टी) सरीखी किसी यांत्रिक युक्ति द्वारा लेखबद्ध किया गया ऐसे व्यक्ति या इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन किसी अपराध के अभियुक्त, दुष्प्रेरक या षड्यंत्रकारी के विचारण में ग्राह्य होगी । यह उल्लेख किया जा सकता है कि "या सहअभियुक्त, दुष्प्रेरक या षड्यंत्रकारी" शब्द "टाडा" (संशोधन) अधिनियम, 1993 (1993 का 43) द्वारा तारीख 22 मई, 1993 से अंत:स्थापित किए गए और यह परंतुक भी जोड़ा गया कि "परन्तु यह तब जबकि सह-अभियुक्त दुष्प्रेरक या षड्यंत्रकारी को उसी मामले में अभियुक्त के साथ आरोपित कर और उसका

[1] 1977 (3) ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 70

विचारण किया जाता है।" तथापि, उपधारा (1) के अधीन संस्वीकृति प्रदान करने से पूर्व, संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति को धारा 15 की उपधारा (2) के अधीन यथा अनुध्यात कानूनी चेतावनी दी जानी चाहिए।

213. श्री राम जेठमलानी ने यह दलील देते हुए इस उपबंध की बाबत गंभीर आक्षेप किया कि यह उपबंध भद्दा और किसी सभ्य विचारण प्रणाली के पूर्णतः विपरीत तथा साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 और 26 तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 और 164 को अध्यारोही करता है। उसके अनुसार जब विद्यमान विधि संहिताओं में जो एक शताब्दी से अधिक पुरानी है इस आधार पर कार्यवाही की जाती है कि पुलिस के समक्ष की गई संस्वीकृतियां अविश्वसनीय, अतितसंभावी है, तो यांत्रिक युक्तियों पर लेखबद्ध की गई संस्वीकृतियां अवश्य ही मजिस्ट्रेटों द्वारा खुले न्यायालयों में कानून, उच्च न्यायालय के नियमों और न्यायिक विनिश्चयों द्वारा विहित सभी पूर्णावधानियों के साथ अभिलिखित संस्वीकृतियों से निम्नकोटि की होंगी। इस प्रकार अभिलिखित संस्वीकृतियों में अनेक खामियां होंगी यथा चयनात्मक अभिलेखन, गड़बड़ी, गढ़ा जाना और संकलित करना और यांत्रिक युक्तियों पर इस प्रकार अभिलिखित संस्वीकृतियां इन संस्वीकृतियों के करने वालों द्वारा यथालिखित और हस्ताक्षरित संस्वीकृतियों की भांति अवलंब लिए जाने योग्य नहीं हैं। अतः, उसने यह दलील दी कि इस उपबंध को संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 दोनों के अधीन अन्याय-संगत, अयुक्तियुक्त और विधि की दृष्टि में दोषपूर्ण घोषित किया जाना चाहिए। इस संबंध में उसने धारा 21 (1) (ग) के प्रति निर्देश किया जिसके अनुसार किसी सह-अभियुक्त द्वारा की गई यह संस्वीकृति कि अभियुक्त ने अपराध किया है, यदि साबित हो जाती है, तो अभिहित न्यायालय द्वारा उस समय तक जब तक कि प्रतिकूल साबित न किया जाए यह उपधारणा की जाएगी कि अभियुक्त ने ही वह अपराध किया है। उसके अनुसार, यह उपबंध साक्ष्य अधिनियम की धारा 30 के पूर्णतः विपरीत है और यह कि सहअभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति साक्ष्य अधिनियम में यथापरिभाषित साक्ष्य नहीं है। उसने अपनी दलील की पुष्टि के लिए दो विनिश्चय उद्धृत किए जिनमें प्रथम **भवानी साहू** बनाम **सम्राट**[1] है जिसमें प्रिवी कौंसिल ने **पेरिस्वामी नूपन**[2] वाले मामले में न्यायमूर्ति रेली की इस मताभिव्यक्ति का अनुमोदन करने के उपरान्त कि "जहां सहअभियुक्त के विरुद्ध साक्ष्य उसकी दोषसिद्धि का समर्थन करने का विश्वास किए जाने के लिए पर्याप्त है, तो धारा 30 में वर्णित संस्वीकृति को उस साक्ष्य पर विश्वास करने के अतिरिक्त कारण के रूप में नामंजूर किया जा सकता है" यह अभिनिर्धारित किया कि······किसी सहअभियुक्त की संस्वीकृति स्पष्टतः बहुत ही कमजोर प्रकृति का साक्ष्य है। वास्तव में, यह साक्ष्य अधिनियम की धारा 3 में अंतर्विष्ट "साक्ष्य" की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता है। इसे शपथ पर दिए आने की आवश्यकता नहीं है और न ही अभियुक्त की उपस्थिति में और इसकी प्रतिपरीक्षा द्वारा परीक्षा नहीं की जा सकती है। और दूसरा **हरिचरण कुर्मी और जोगिया हजाम** बनाम **बिहार राज्य**[3] वाला मामला है जिसमें मुख्य न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने संविधान न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह कहा कि "यद्यपि साक्ष्य अधिनियम की धारा 30 में वर्णित संस्वीकृति

---

[1] ए० आई० आर० 1949 (प्रिवी कौंसिल) 257.

[2] 1913 आई० एल० आर० 54 मद्रास 75-77.

[3] 1964 (6) एस० सी० आर० 623.

अधिनियम की धारा 3 द्वारा यथापरिभाषित साक्ष्य नहीं है, यह ऐसा तत्व है जिस पर दांडिक न्यायालयों द्वारा विचार किया जाना चाहिए और इस प्रकार इसे गैर-तकनीकी रूप में साक्ष्य माना जा सकता है। तथापि किसी अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध किसी मामले पर विचार करते हुए, न्यायालय सह-अभियुक्त व्यक्ति की संस्वीकृति से आरम्भ नहीं कर सकता है, उसे अभियोजन द्वारा पेश किए गए अन्य साक्ष्य से आरंभ करना चाहिए और उक्त साक्ष्य की गुणवत्ता और प्रभाव से संबंधित अपनी राय बनाने के पश्चात् ही दोषिता के निष्कर्ष जिसे न्यायिक मस्तिष्क उक्त अन्य साक्ष्य के आधार पर निकालेगा से संबंधित आश्वस्त होने के लिए विचार करना अनुज्ञेय हैं।"

214. अपनी दलील को जारी रखते हुए विद्वान वरिष्ठ काउंसेल ने इस बाबत जोर दिया कि पुलिस अधिकारी अपना मनपसंद भेदिया सरलतापूर्वक खोजकर ऐसे किसी भी व्यक्ति को जिसे वह आलिप्त करना चाहता है उसकी संस्वीकृति लेखबद्ध कर सकता है और ऐसे सभी व्यक्तियों के प्राण और स्वतंत्रता का समपहरण हो जाएगा जब तक कि वे प्रतिकूल साबित न करें अर्थात् अपनी निर्दोषिता जिसका निर्वहन किया जाना बहुत ही असम्भव है और इस प्रकार धारा 21 (1) (ग) न्याय की सभी सभ्य धारणाओं के प्रतिकूल है और इससे दांडिक विचारण पूर्णतः हास्यास्द बन जाएगा।

215. दूसरे काउंसेल की दलीलों को पूरा करते हुए विद्वान काउंसेल श्री हरजिन्दर सिंह ने **ओल्गा टेलिस और अन्य** बनाम **मुम्बई नगर निगम**[1] वाले मामले का विनिश्चय उद्धृत किया जिसमें यह मताभिव्यक्ति की गई कि "यदि विधि से ऐसे किसी कार्य के किए जाने की बाबत निदेश परिलक्षित हो जो कि संविधान द्वारा प्रतिषिद्ध है या किसी कार्य के किए जाने में उस प्रक्रिया को अपनाया जाता है जो कि संविधान के अधीन अननुज्ञेय है, तो उसे अभिखंडित किया जाएगा। उसने **रायप्पा ई० पी०** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[2], **मेनका गांधी** बनाम **भारत संघ**[3] **एम० एच० होस्कट** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[4]; **सीताराम** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[5]; **सुनील बत्रा** बनाम **दिल्ली प्रशासन**[6]; **हुसैन आरा खातून** बनाम **गृह सचिव, बिहार राज्य पटना**[7]; **हुसैन आरा खातून (द्वितीय)** बनाम **गृह सचिव, बिहार राज्य पटना**[8]; **सुनील बत्रा (द्वितीय)** बनाम **दिल्ली प्रशासन**[9]; **जॉली जॉर्ज वर्गीज** बनाम **बैंक ऑफ कोचीन**[10]; **कस्तूरी लाल लक्ष्मी रेड्डी** बनाम **जम्मू-कश्मीर राज्य**[11]; और **फ्रांसिस कोरेली मुल्लिन** बनाम **प्रशासक, संघ राज्य क्षेत्र दिल्ली**[12] वाले मामलों के विनिश्चयों के प्रति भी निर्देश किया।

---

1 [1986] 1 उम० नि० प० 269=1985 (2) सप्ली० एस० सी० आर० 51.

2 [1974] 2 उम० नि० प० 42=1974 (2) एस० सी० आर० 348.

3 [1979] 1 उम० नि० प० 244=1978 (2) एस० सी० आर० 621.

4 1991 (1) एस० सी० आर० 192.

5 [1980] 1 उम० नि० प० 592=1979 (2) एस० सी० आर० 1085.

6 [1989] 3 उम० नि० प० 407=1979 (1) एस० सी० आर० 392.

7 1979 (3) एस० सी० आर० 532.

8 [1980] 2 उम० नि० प० 743=1980 (1) एस० सी० आर० 81.

9 [1980] 4 उम० नि० प० 1094=1980 (2) एस० सी० आर० 557.

10 1980 (2) एस० सी० आर० 913.

11 1980 (3) एस० सी० आर० 1338.

12 [1981] 4 उम० नि० प० 1133=1981 (2) एस० सी० आर० 516.

216. उपर्युक्त विनिश्चयों में अधिकथित सिद्धांत के आधार पर उसने यह कहते हुए, निष्कर्ष निकाला कि अयुक्तियुक्तता न केवल विधि को दोषपूर्ण बनाती है अपितु प्रक्रिया को भी और, इसलिए, यह आवश्यक है कि किसी व्यक्ति को उनके मूल अधिकार से वंचित किए जाने की विहित प्रक्रिया न्याय और ऋजु व्यवहार के अनुरूप होनी चाहिए।

217. सभी काउंसेलों ने जिन्होंने इस अधिनियम के उपबंधों की विधिमान्यता को चुनौती दी थी, श्री जेठमलानी की ही भांति दलीलें दीं और एक स्वर में यह कहा कि अधिनियम की धारा 15 इस आधारभूत सिद्धांत को विनष्ट कर देती है जिसे अब तक अपनाया जाता रहा है और जिसे मान्यता प्रदान की गई है कि किसी भी परिस्थिति में किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति या किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष या पुलिस अभिरक्षा में किसी पर-व्यक्ति के समक्ष की गई संस्वीकृति पूर्णतः ग्राह्य नहीं है और ऐसी संस्वीकृति को किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध साबित नहीं किया जा सकता है।

218. विद्वान अपर महासालिसिटर ने यह कहते हुए उपर्युक्त दलील का खण्डन करने का भरपूर प्रयास किया कि धारा 15 की सांविधानिक विधिमान्यता का अवधारण उस प्रक्रिया में परिवर्तन करने के लिए जो उस स्थिति जिससे कानून निपटने का प्रयास करता है के तथ्यों और परिस्थितियों में न्यायसंगत और ऋजु है संसद् की सक्षमता के आधार पर किया जाना चाहिए न कि साक्ष्य अधिनियम के निष्कर्ष के आधार पर। उसके अनुसार, इस धारा में किसी प्रकार के दुरुपयोग या उचित प्रकार से उपयोग न किए जाने को रोकने के लिए वरिष्ठ पुलिस अधिकारी में संस्वीकृति लेखबद्ध करने की शक्ति विनिहित करके एक महत्वपूर्ण रक्षोपाय किया गया है। इस न्यायालय द्वारा इस रक्षोपाय का **गुरुबचन सिंह बनाम बॉम्बे राज्य**[1] वाले मामले में अनुमोदन किया गया जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया कि असाधारण प्रक्रिया विहित करने वाली विधि आपवादिक परिस्थितियों का सामना किए जाने के लिए बनाई जा सकती है अन्यथा अधिनियम का प्रयोजन और उद्देश्य विफल हो जाएगा।

219. साक्ष्य के अंतर्भूत मूल्य पर विचार करते हुए अपर महासालिसिटर ने यह कहा कि इस धारा में संस्वीकृति का प्रमाणक मूल्य अधिकथित नहीं है न ही इसमें यह इंगित है कि किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई मात्र संस्वीकृति के आधार पर दोषसिद्धि की जा सकती है। उसने आगे यह भी कहा कि प्रत्येक मामले में उसके तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर संस्वीकृति के प्रमाणक मूल्य का अवधारण न्यायालय द्वारा किए जाने के लिए छोड़ दिया गया है। तत्पश्चात् उसने हमारा ध्यान उन विभिन्न कानूनों में के कतिपय उपबंधों की ओर आकृष्ट किया जिनके द्वारा इसमें विनिर्दिष्ट अधिकारियों को अपराधियों को पकड़ने या गिरफ्तार करने और उनसे ऐसे कथन लेखबद्ध करने जो विभिन्न उच्च न्यायालयों और इस न्यायालय द्वारा सुनाए गए न्यायिक निर्णयों द्वारा उनके विरुद्ध दांडिक कार्यवाही में साक्ष्य में ग्राह्य माने जाएंगे सशक्त बनाया गया है। वे हैं—(1) रेल संरक्षण बल अधिनियम, 1957 की धारा 12; (2) रेल संपत्ति (विधि विरुद्ध कब्जा) अधिनियम, 1966 की धारा 8 और 9; (3) सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 108; और (4) विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 की धारा 40।

---

[1] 1952 एस० सी० आर० 737-743.

220. अब हम 1993 के अधिनियम संख्या 43 द्वारा यथासंशोधित धारा 15 का विश्लेषण और परीक्षा अलग-अलग पक्षकारों द्वारा दी गई दलीलों को संविधान, साधारण प्रक्रिया संबंधी विधि और साक्ष्य अधिनियम के कतिपय सुसंगत उपबंधों, के संदर्भ में करेंगे।

221. अधिनियम की यथासंशोधित धारा 15 इस प्रकार है :—

"15. पुलिस अधिकारियों के समक्ष कुछ संस्वीकृतियों को विचार में लेना—(1) संहिता में या भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872 का 1) में किसी बात के होते हुए भी, किंतु इस धारा के उपबंधों के अधीन रहते हुए, किसी व्यक्ति द्वारा पुलिस अधीक्षक से अनिम्न रैंक के किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति, जो ऐसे पुलिस अधिकारी, द्वारा लिखित में या किसी यांत्रिक युक्ति से जैसे कैसेट, टेप या साउंड ट्रैक, जिससे ध्वनियां या आकृतियां पुनः प्रस्तुत की जा सकती हैं, अभिलिखित की गई है, इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन किसी अपराध के लिए ऐसे व्यक्ति या सह अभियुक्त, दुष्प्रेरक या षड्यंत्रकारी के विचारण में ग्राह्य होगी।

परंतु यह तब जबकि सह-अभियुक्त, दुष्प्रेरक या षड्यंत्रकारी को अभियुक्त के साथ उसी मामले में आरोपित और उसका विचारण किया जाता है।

(2) पुलिस अधिकारी, उपधारा (1) के अधीन कोई संस्वीकृति अभिलिखित करने से पूर्व, संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति को यह स्पष्ट करेगा कि वह ऐसी संस्वीकृति करने के लिए बाध्य नहीं है और यदि वह ऐसा करता है, तो उसका उपयोग उसके विरुद्ध साक्ष्य के रूप में किया जा सकेगा और ऐसा पुलिस अधिकारी ऐसी कोई संस्वीकृति तब तक अभिलिखित नहीं करेगा जब तक संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति से प्रश्न करने पर उसे यह विश्वास नहीं हो जाता है कि वह स्वेच्छा से की जा रही है।"

222. किसी पुलिस अधिकारी द्वारा संस्वीकृति अभिलिखित किए जाने से पूर्व उक्त पुलिस अधिकारी को अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के नियम 15 के अधीन कुछ विधिक औपचारिकताओं का पालन और कतिपय शर्त का अनुपालन करना पड़ता है। यदि संस्वीकृति लेखबद्ध की जाती है, तो नियम 15 के उपनियम (3) के अधीन उक्त संस्वीकृति, संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षरित होनी चाहिए और उस पुलिस अधिकारी द्वारा जिसने संस्वीकृति अभिलिखित की नियम द्वारा यथा अपेक्षित प्रमाणपत्र संलग्न किया जाना चाहिए। चूंकि इस नियम का वाचन "टाडा" की धारा 15 के साथ किया जाना है, हम यह महसूस करते हैं कि इस नियम को पुनः प्रस्तुत करना आवश्यक होगा ताकि अपनाई जाने वाली विधिक औपचारिकता को उचित प्रकार समझा जा सके।

223. आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) नियम, 1987 का नियम 15 इस प्रकार है :—

* "15. पुलिस अधिकारियों के समक्ष की गई संस्वीकृति को अभिलिखित किया जाना किसी व्यक्ति द्वारा पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति

जिसे ऐसे पुलिस अधिकारी द्वारा अधिनियम की धारा 15 के अधीन अभिलिखित किया गया निरपवाद रूप से उस भाषा में लेखबद्ध की जाएगी जिसमें संस्वीकृति की गई और यदि ऐसा व्यवहार्य नहीं है तो उस भाषा में जो ऐसे पुलिस अधिकारी द्वारा सरकारी प्रयोजनार्थ प्रयुक्त की जाए अथवा अभिहित न्यायालय की भाषा में और यह अभिलेख का भाग होगी ।

(2) इस प्रकार अभिलिखित संस्वीकृति को संबंधित व्यक्ति को दिखाया जाएगा, इसे उसको पढ़कर या बजाकर सुनाया जाएगा और यदि वह उस भाषा को नहीं समझता है जिसमें इसे अभिलिखित किया गया, तो इसे उसको ऐसी भाषा में व्याख्या करके सुनाया जाएगा जिसे वह समझता है और वह अपनी संस्वीकृति को स्पष्ट करने या उसमें जोड़ने के लिए स्वतंत्र होगा ।

(3) संस्वीकृति, यदि यह लिखित में है, पर :—

(क) उस व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षर किए जाएंगे जिसने संस्वीकृति की ; और

(ख) ऐसी संस्वीकृति उस पुलिस अधिकारी द्वारा जो अपने स्वयं हाथ से यह भी प्रमाणित करेगा कि यह उसकी उपस्थिति में की गई थी और इसे उसके द्वारा अभिलिखित किया गया और यह कि अभिलेख में उस व्यक्ति द्वारा की गई संस्वीकृति का पूर्ण और वास्तविक वर्णन है और ऐसा पुलिस अधिकारी संस्वीकृति के अंत में यह ज्ञापन देगा :—

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"15. Recording of Confession made to police officers—A confession made by a person before a police officer and recorded by such police officer under Section 15 of the Act shall invariably be recorded in the language in which such confession made and if that is not practicable, in the language used by such police officer for official purposes or in the lauguage of the Designated Court and it shall form part of the record.

(2) The confession recorded shall be shown, read or played back to the person concerned and if he does not understand the language in which it is recorded, it shall be interpreted to him in a language which he understands and he shall be at liberty to explain or add to his confession.

(3) The confession shall, if it is in writing, be—

(a) Signed by the person who makes the confession; and

(b) by the police officer who shall also certify under his own hand that such confession was taken in his presence and recorded by him and that the record contains a full and true account of the confession made by the person and such police officer shall make a memorandum at the end of the confession to the following effect :—

मैंने (नाम) को यह स्पष्ट कर दिया है कि वह संस्वीकृति करने के लिए आबद्ध नहीं है और यह कि, यदि वह ऐसा करता है, तो कोई भी संस्वीकृति जो वह करेगा उसके विरुद्ध साक्ष्य के रूप में प्रयुक्त की जा सकती है और मुझे विश्वास है कि यह संस्वीकृति स्वेच्छा से की गई। यह मेरे सामने की गई और इसे मैंने सुना तथा इसे मेरे द्वारा अभिलिखित किया गया और इसे करने वाले व्यक्ति को पढ़कर सुनाया गया और उसने इसे सही बताया और इसमें उसके द्वारा किए गए कथन का पूर्ण और सत्य वर्णन है।

हस्ता०/

(पुलिस अधिकारी)"

(4) जहां संस्वीकृति किसी यांत्रिक तंत्र पर अभिलिखित की जाए, उपनियम (3) में निर्दिष्ट ज्ञापन जहां तक यह लागू होता है और संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति द्वारा की गई यह घोषणा कि यांत्रिक तंत्र पर अभिलिखित की गई उक्त संस्वीकृति को उसके समक्ष सही अभिलिखित किया गया संस्वीकृति के अंत में यांत्रिक तंत्र पर भी अभिलिखित की जाएगी।

(5) उक्त धारा 15 के अधीन अभिलिखित प्रत्येक संस्वीकृति को तत्काल मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट या उस क्षेत्र में जिसमें ऐसी संस्वीकृति अभिलिखित की गई है अधिकारिता रखने वाले मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को प्रेषित किया जाएगा और ऐसा मजिस्ट्रेट इस प्रकार प्राप्त की गई अभिलिखित संस्वीकृति को उस अभिहित न्यायालय को अग्रेषित करेगा जो अपराध का संज्ञान कर सकता है।"

"I have explained to (name) that he is not bound to make confession and that, if he does so, any confession he may made may be used as evidence against him and I believe that this confession was voluntarily made. It was taken in my presence and hearing and recorded by me and was read over to the person making it and admitted by him to be correct and it contains a full and true account of the statement made by him.

Sd/-

Police Officer."

(4) Where the confession is recorded on any mechanical device, the memorandum reffered to in sub-rule (3) in so far as it is applicable and a declaration made by the person making the confession that the said confession recorded on the mechanical device has been correctly recorded in his presence shall also be recorded in the mechanical device at the end of the confession.

(5) Every confession recorded under the said Section 15 shall be sent forth with to the Chief Metropolitan Magistrate or the Chief Judical Magistrate having jurisdiction over the area in which such confession has been recorded and such Magistrate shall forward the recorded confession so received to the designated Court which may take cognizance of the offence."

224. आगे विवेचना करने से पूर्व हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि धारा 21 (1) (ग) का जिसकी बाबत कुछ दलील दी गई है 1993 के संशोधन अधिनियम सं० 43 द्वारा धारा 21 (1) (घ) के साथ लोप कर दिया गया।

225. हमारे संविधान और प्रक्रिया संबंधी विधि तथा साक्ष्य विधि में दांडिक कार्य-वाही में व्यक्ति के अधिकार और स्वतंत्रता को संरक्षित करने की कुछ प्रत्याभूतियां और उसके द्वारा किए गए किसी कथन का प्रयोग करने संबंधी रक्षोपाय हैं। संविधान के अनुच्छेद 20 (3) में यह घोषित किया गया है कि "किसी अपराध के अभियुक्त किसी व्यक्ति को स्वयं उसके विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।"

226. संविधान के अनुच्छेद 20 (3) में स्वयं को फंसाए जाने की बाध्यता के विरुद्ध संरक्षण का सिद्धांत सन्निहित है जो कि ब्रिटिश प्रणाली के आपराधिक विधि-शास्त्र के मूल सिद्धांतों में से एक है और जिसे अमरीकी प्रणाली द्वारा अपनाया गया है तथा परिसंघ अधिनियमों में अंतःस्थापित किया गया है। संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के पांचवें संशोधन में यह उपबन्धित है, "किसी भी व्यक्ति को बड़े, अथवा अन्यथा कुख्यात अपराध का उत्तर देने के लिए रोका नहीं जाएगा जब तक कि उसे बड़ी जूरी के समक्ष प्रस्तुत या अभ्यारोपित न कर दिया जाए,.......उद्भूत होने वाले मामलों के सिवाय, न ही उसे उसके विरुद्ध किसी दांडिक मामले में साक्षी होने के लिए बाध्य किया जाएगा.........।"

227. उपर्युक्त सिद्धान्त को हमारे देश में आपराधिक न्याय प्रशासन के विभिन्न कानूनी उपबंधों में सारवान् रूप में सम्मिलित किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 20 (3) में दी गई प्रत्याभूति के संघटकों में से एक यह है कि यह उस बाध्यता के विरुद्ध संरक्षण है जिसके परिणामस्वरूप किसी अपराध का अभियुक्त अपने विरुद्ध साक्ष्य देगा। इस न्यायालय के और भी अनेक महत्वपूर्ण विनिश्चय हैं जिनमें अनुच्छेद 20 (3) के आशय को स्पष्ट किया गया है। हम यह महसूस करते हैं कि इतना ही पर्याप्त होगा यदि इनमें से कुछ निर्णयों के प्रति निर्देश किया जाए जो कि इस प्रकार है : **एम० पी० शर्मा और अन्य** बनाम **सतीश चन्द्र, जिला मजिस्ट्रेट दिल्ली और अन्य**[1], **राजा नारायण लाल बंशीलाल** बनाम **मानेक**[2], **बॉम्बे राज्य** बनाम **काठी कालू ओगढ़**[3] और **नन्दिनी सत्पथी** बनाम **पी० एल० दानी और एक अन्य**[4]।

228. अनुच्छेद 22 (1) और (2) उस व्यक्ति को जिसे गिरफ्तार किया गया है कतिपय अधिकार प्रदान करते हैं। दण्ड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों पर विचार करते हुए, धारा 161 अन्वेषण करने वाले पुलिस अधिकारी को मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से परिचित समझे जाने वाले किसी व्यक्ति की मौखिक परीक्षा करने और ऐसी परीक्षा के दौरान उसके समक्ष किए गए किसी कथन को लेखबद्ध करने के लिए सशक्त बनाती है। धारा 162 जिसमें इस प्रकार अभिलिखित किए गए कथन का प्रयोग किए जाने की बाबत उल्लेख है में यह कहा गया है कि पुलिस अधिकारी द्वारा लेखबद्ध किया गया कोई कथन,

[1] 1954 एस० सी० आर० 1077.

[2] 1961 (1) एस० सी० आर० 417.

[3] 1962 (3) एस० सी० आर० 10.

[4] [1979] 2 उम० नि० प० 380=1978 (2) एस० सी० सी० 424.

यदि लेखबद्ध किया जाता है, तो इसे कथन करने वाले व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षरित नहीं किया जाएगा और यह कि इस कथन का प्रयोग संहिता और साक्ष्य अधिनियम के उपबंधों में यथा उपबंधित के सिवाय किसी प्रयोजनार्थ नहीं किया जाएगा। धारा 162 द्वारा अधिरोपित पाबंदी ऐसे सभी कथनों को लागू होती है चाहे वे संस्वीकृति संबंधी हों या अन्यथा जो किसी व्यक्ति द्वारा चाहे वह अभियुक्त है अथवा नहीं संहिता के अध्याय 12 के अधीन पुलिस अधिकारी के समक्ष अन्वेषण के दौरान किए जाएं। तथापि, किसी अभियुक्त द्वारा किए गए कथन का प्रयोग साक्ष्य अधिनियम की धारा 145 द्वारा उस दशा में उपबंधित रीति में किया जा सकता है यदि अभियुक्त संहिता की धारा 315 (1) जो कि पुरातन संहिता की धारा 342-क की तत्संबंधी है का लाभ उठाकर प्रतिरक्षा के लिए साक्षी के रूप में अपनी परीक्षा कराता है और अपने विरुद्ध या उसी विचारण में अपने साथ आरोपित किसी व्यक्ति के विरुद्ध लगाए गए आरोपों का खंडन करने के लिए शपथ पर साक्ष्य देता है।

229. साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 के अधीन किसी अभियुक्त द्वारा किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष किए गए इस कथन के प्रयोग किए जाने पर स्पष्ट प्रतिषेध है जिसके अनुसार किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध साबित की जाएगी और धारा 26 के अधीन किसी व्यक्ति द्वारा जिस समय वह पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में है की गई संस्वीकृति उस समय तक जब तक कि यह मजिस्ट्रेट की बिल्कुल उपस्थिति में न की जाए ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध साबित नहीं की जाएगी। एकमात्र अपवाद धारा 27 में दिया गया है जो कि धारा 26 के परंतुक का प्रयोजन पूरा करती है। धारा 27 में यह अनुध्यात है कि केवल इतनी जानकारी चाहे वह संस्वीकृति की कोटि में आती हो या नहीं, जितनी एतद्द्वारा पता चले हुए तथ्य से स्पष्टतया संबंधित है किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से जो पुलिस की अभिरक्षा में है उसके विरुद्ध साबित की जा सकेगी।

230. विवेचनाधीन मामले के संदर्भ में संहिता के दो और उपबंधों अर्थात् संहिता की धारा 24 और 30 के प्रति निर्देश भी किया जा सकता है।

231. साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 में ऐसी संस्वीकृति को जो किसी अभियुक्त द्वारा किसी प्राधिकारी के समक्ष उत्प्रेरणा, धमकी या वचन द्वारा कराई जाए दांडिक कार्रवाही में स्पष्ट रूप से विसंगत बनाया गया है। साक्ष्य अधिनियम की धारा 30 इस प्रकार हैं कि यदि एक से सधिक व्यक्तियों द्वारा स्वयं को और उसी अपराध के लिए संयुक्त रूप से विचारित कुछ अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करते हुए की गई संस्वीकृति को साबित किया जाता है, तब न्यायालय ऐसी संस्वीकृति को ऐसे अन्य व्यक्ति के विरुद्ध तथा ऐसे संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध विचार में ले सकेगा। इस धारा का स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि इस धारा में प्रयुक्त "अपराध" शब्द के अन्तर्गत उस अपराध का दुष्प्रेरण या उसे करने का प्रयत्न आता है।

232. संहिता की धारा 164 में इस धारा में विनिर्दिष्ट मजिस्ट्रेटों द्वारा विधिक औपचारिकताओं का अनुपालन करके और कानूनी शर्तों का अनुसरण करके जिनमें इसकी उपधारा (2) से (6) के अधीन यथा अनुध्यात संस्वीकृति अभिलिखित करने वाले मजिस्ट्रेट

का प्रमाणपत्र संलग्न किया जाना भी आता है संस्वीकृति और कथन लेखबद्ध किए जाने का उल्लेख है।

233. यद्यपि पुरातन संहिता में धारा 164 की मुख्य उपधारा (1) में सन्निविष्ट अन्वेषण के दौरान किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष किए गए किसी कथन या संस्वीकृति को उसके द्वारा लेखबद्ध किए जाने पर प्रतिषेध है, वर्तमान संहिता में अब विधिक वर्जन धारा 164 की उपधारा (1) के पृथक् परंतुक द्वारा किया गया है:—

> "परंतु यह कि संस्वीकृति ऐसे पुलिस अधिकारी द्वारा लेखबद्ध की जाएगी जिसे किसी प्रवृत्त विधि के अधीन मजिस्ट्रेट की किसी प्रकार की शक्ति प्रदान की गई है।"

234. यह नया उपबंध है किंतु इसका वही अर्थ है जो पुरानी संहिता की धारा 164 की मुख्य उपधारा (1) में दिया गया है।

235. अतः, अभियुक्त या किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति को सांविधानिक उपबन्धों और कानूनी उपबन्धों द्वारा इस प्रकार संरक्षित किया गया है कि किसी अभियुक्त द्वारा पुलिस अधिकारी के समक्ष जब वह अभिरक्षा में है कोई फंसाने वाला कथन इसके करने वाले के विरुद्ध प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। विद्वान अपर महासालिसिटर की यह दलील कि किसी अभियुक्त द्वारा रेल संरक्षण बल अधिनियम, 1957, रेल सम्पत्ति (विधि विरुद्ध कब्जा) अधिनियम, 1966 या सीमा-शुल्क अधिनियम या विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम के अधीन विनिर्दिष्ट अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति ग्राह्य बनाई गई है, "टाडा" के अधीन अभ्यारोपित किसी व्यक्ति द्वारा पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई ग्राह्य संस्वीकृति से संबंधित इस अधिनियम के अधीन विहित विशेष प्रक्रिया को चुनौती नहीं दी जा सकती है, मिथ्या है क्योंकि इन विशेष अधिनियमों के अधीन कथन लेखबद्ध करने के लिए सशक्त पदाधिकारी इस न्यायालय और उच्च न्यायालयों द्वारा सुनाए गए निर्णयों के अनुसार पुलिस अधिकारी नहीं हैं और यह सिद्धांत अभी तक प्रवृत है। इस बाबत **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **दुर्गा प्रसाद**[1], **बालकिशन** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[2], **रमेशचन्द्र मेहता** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[3], **पूलपंदी और अन्य** बनाम **अधीक्षक, केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क और अन्य**[4], **प्रवर्तन निदेशालय** बनाम **दीपक महाजन और अन्य**[5], और **एकम्बरम्** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[6] वाले मामले दृष्टव्य हैं। हम यह समझते हैं कि और अधिक विनिश्चयों को उद्धृत करके इस निर्णय के कलेवर को बढ़ाना आवश्यक नहीं है।

236. उपर्युक्त सांविधानिक और कानूनी प्रक्रिया संबंधी प्रत्याभूतियां और रक्षोपाय संविधान के अनुच्छेद 21 में दी गई "विधि-द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार" अभिव्यक्ति

---

[1] [1975] 1 उम० नि० प० 452=ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 2136.

[2] [1981] 1 उम० नि० प० 37=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 379.

[3] [1969] 2 उम० नि० प० 401=1969 (2) एस० सी० आर० 461.

[4] 1992 (3) एस० सी० सी० 251.

[5] जे० टी० 1994 (1) एस० सी० 290.

[6] 1972 मद्रास लॉ वीकली (क्रि०) 261.

के अनुरूप हैं और इस परिप्रेक्ष्य में न्यायसंगत और ऋजु विचारण के सिद्धांत पर विचार किया जाना चाहिए।

237. अनुच्छेद 21 द्वारा अनुध्यात प्रक्रिया "उचित, न्यायसंगत और ऋजु" होनी चाहिए न कि मनमानी, काल्पनिक और अन्यायपूर्ण। इस बाबत की प्रक्रिया उचित न्यायसंगत और ऋजु है, यह नैसर्गिक न्याय अर्थात् "ऋजु कार्रवाई" के सिद्धांत के अनुरूप होनी चाहिए।

238. यदि प्रक्रिया संबंधी विधि अन्यायपूर्ण है और संविधान के अनुच्छेद 21 के उल्लंघन में न्यायसंगत और ऋजु विचारण के सिद्धांत का अतिक्रमण करती है और संविधान के अनुच्छेद 14 के उल्लंघन में मनमानी और विधि के समान संरक्षण का अतिक्रमण करती है, तो "टाडा" की धारा 15 को अभिखंडित किया जाना चाहिए। अत:, इस बाबत विनिश्चय करने के लिए कि क्या धारा 15 संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 का अतिक्रमण करती है, हमारे लिए "अपराधियों" और "अपराधों" के वर्गीकरण की परीक्षा करना अपरिहार्य रूप से आवश्यक है।

239. विधायी वर्गीकरण का सिद्धान्त स्वीकृत सिद्धांत है जिसके अधीन व्यक्तियों का वर्गीकरण ग्रुपों में किया जा सकता है और ऐसे ग्रुपों को भिन्न माना जाएगा यदि इन अन्तर या विभेदों का युक्तियुक्त आधार है। अंतर का नियम यह है कि विभिन्न परिस्थितियों में जो एक ही प्रकार के व्यक्तियों या वस्तुओं को शासित करती हैं भिन्न व्यक्तियों या वस्तुओं के मध्य अन्तर करने वाली विधियां अधिनियमित की जाती हैं और ऐसी विधियां अवश्यमेव ही अन्य प्रकार के व्यक्तियों या वस्तुओं को शासित करने वाली विधियों जैसी नहीं हो सकती हैं और इस कारण असमान व्यवहार का प्रश्न वास्तव में विभिन्न दशाओं और विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों द्वारा शासित व्यक्तियों के मध्य उद्भूत नहीं होता है।

240. विधिमान्य वर्गीकरण की सीमा मनमानी न होकर वैज्ञानिक और युक्तिसंगत होनी चाहिए। यह सदैव कुछ वास्तविक और सारवान् विभेद पर आधारित होनी चाहिए और इसका उन आवश्यकताओं जिनकी बाबत वर्गीकरण किया गया है से युक्तियुक्त और न्यायसंगत संबंध होना चाहिए।

241. "टाडा" में आतंकवादियों और विध्वंसकारियों को सामान्य विधि के अधीन साधारण अपराधियों से पृथक् वर्ग के रूप में ग्रुप करके किए गए विभेद पर विचार करते हुए और "टाडा" के अधीन अपराधों के साधारण अपराधों से प्रभेदित गंभीर अपराधों के रूप में किए गए वर्गीकरण की परीक्षा संविधान के अनुच्छेद 14 के निबंधनानुसार युक्तियुक्तता और विधिमान्यता के आधार पर की जानी चाहिए। विभेद और वर्गीकरण की युक्तियुक्तता के प्रश्न पर विचार किए जाने के लिए इस विभेद और वर्गीकरण के उद्देश्य पर विचार करना आवश्यक है। इतना पर्याप्त है कि यदि उन व्यक्तियों और वस्तुओं के मध्य जिन्हें एक साथ ग्रुप किया गया है और जिन्हें ग्रुप से छोड़ दिया गया है तनिक सा भी या कोई अन्तर नहीं है, तो वर्गीकरण को युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है। वर्गीकरण करते समय इस बाबत विभिन्न कारणों पर विचार किया जाना चाहिए और परीक्षा की जानी चाहिए कि क्या ऐसा विभेद या वर्गीकरण भिन्न व्यवहार को न्यायोचित ठहराता है और क्या यह प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य के प्रतिकूल है।

242. उपर्युक्त सिद्धांत से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण निर्णय हैं और इनमें से कुछ को छोड़कर सभी के प्रति निर्देश करना आवश्यक नहीं है अर्थात् **चिरंजीत लाल** बनाम भारत संघ[1] ; **रामकृष्ण डालमिया बनाम न्यायमूर्ति तेंदुलकर**[2] और **विशेष न्यायालय विधेयक**[3] वाले मामले ।

243. जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया उन व्यक्तियों को जिनका विचारण "टाडा" के उपबंधों के अधीन विनिर्दिष्ट अपराधों के लिए किया जाना है भिन्न वर्ग के व्यक्ति हैं और गंभीर और जघन्य प्रकृति के अपराधों के लिए विचारण की प्रक्रिया भिन्न वर्गीकरण के अधीन साधारण अपराधियों और प्रक्रिया से प्रभेदनीय है। इस विभेद और अभियुक्त के ग्रुपीकरण तथा "टाडा" के अधीन विचारण किए जाने वाले अपराधों से उद्देशिका और "उद्देश्य तथा कारणों के कथन" से परिलक्षित अधिनियम का अर्थपूर्ण प्रयोजन और उद्देश्य प्राप्त करना है जिसकी बाबत हम इस निर्णय के पूर्व भाग में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।

244. हम संसद् की सक्षमता से संबंधित प्रश्न का पहले ही निपटारा कर चुके हैं और इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में पहले ही यह अभिनिर्धारित कर चुके हैं कि संसद् को इस विधि अर्थात् "टाडा" और 1984 के विशेष न्यायालय अधिनियम को अधिनियमित करने की विधायी सक्षमता प्राप्त है। जब इस धारा की विधिमान्यता की संवीक्षा उपर्युक्त पृष्ठभूमि में की जाती है, तो हम यह निरपवाद रूप से अभिनिर्धारित कर सकते हैं कि इस अधिनियम के अधीन विहित प्रक्रिया को संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 के अतिक्रमण में "अन्यायसंगत, ऋजु और अन्यायपूर्ण" नहीं कहा जा सकता है।

245. विद्वान अपर महासालिसिटर ने "टाडा" और नार्दर्न आयरलैण्ड इमरजैन्सी प्रोविजन्स ऐक्ट, 1978 के उपबंधों के अधीन जिसके अनेक उपबंध "टाडा" जिसमें इसके अधीन विनिर्दिष्ट अनुसूचित अपराधों को अति कठोर रीति में विचारण किए जाने का तरीका दिया गया है के कुछ उपबंधों के अनुरूप है और "टाडा" अधिनियमों के उपबंधों के तत्संबंधी अपराधों से संबंधित सबूत के भार और धारा 3 के अधीन अपराधों की उपधारणा आदि से संबंधित उसने यह दलील दी कि इस अधिनियम के अधीन किए गए जघन्य अपराधों के विचारण को विभेदकारी नहीं माना जा सकता है। उसने प्रीवेन्शन ऑफ टैरोरिज्म (टेम्पोररी प्रोविजन) ऐक्ट, 1984 (यू० के०) और भारत में अधिनियमित कुछ अन्य अधिनियमों जिनका अब विशेष प्रक्रिया विहित करके और कठोर दण्ड उपबंधित करके निरसन किया जा चुका है के प्रति भी निर्देश किया।

246. विद्वान अपर महासालिसिटर ने अपनी दलीलों को जारी रखते हुए यह कहा कि साधारण दण्ड विधि के अधीन प्रक्रिया अपराधियों अर्थात् आतंकवादियों और विध्वंसकारियों के गंभीर और वर्गीकृत प्रकृति के अपराधों के विचारण के लिए पूर्णतः अपर्याप्त और प्रभावी नहीं हैं और उसकी दलील को सन् 1984 से 1992 तक पंजाब राज्य में आतंकवादी अपराधों से संबंधित आंकड़ों जो इस न्यायालय के समक्ष दी गई लिखित दलील के

---

1 1950 एस० सी० आर० 869.

2 1959 एस० सी० आर० 279.

3 1979 (2) एस० सी० आर० 476.

संकलन में उपाबद्ध हैं और संसद् में "टाडा" प्रस्तुत किए जाने के समय की गई बहस तथा चर्चा से बल मिलता है। उसने **एन० बी० खरे बनाम दिल्ली राज्य**[1], **काठी रैनिंग रावत बनाम सौराष्ट्र राज्य**[2], **केदारनाथ बजोरिया** बनाम **पश्चिम बंगाल राज्य**[3], **स्टेट ऑफ बॉम्बे** बनाम **आर० एम० डी० चमारबोगवाला**[4] वाले मामलों का अवलंब लिया। इन विनिश्चयों में यह अभिनिर्धारित किया गया कि उपबंधों की कठोरता और उनके कड़ेपन का अवधारण करना न्यायालयों का कर्तव्य नहीं है। **पन्ना लाल बिंगराज** बनाम **भारत संघ**[5] वाले मामले में यह कहा गया कि दुरुपयोग की मात्र संभावना के आधार पर किसी कानून की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती है। **तालिब हाजी हुसैन** बनाम **मधुकर पी० मोंडकर**[6] वाले मामले में यह न्यायादेश किया गया कि ऋजु विचारण के दो उद्देश्य हैं अर्थात् यह कि यह अभियुक्त और अभियोजन के लिए ऋजु होना चाहिए। **कांगसारी हलधर** बनाम **पश्चिम बंगाल राज्य**[7] और **ए० के० राय** बनाम **भारत संघ**[8] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि व्यक्ति की स्वतंत्रता जनता के कल्याण के अधीन है।

247. उसने इन उद्धृत विभिन्न विनिश्चयों में अधिकथित सिद्धांत के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि "टाडा" अधिनियमों के अधीन अपराधों और अपराधियों का युक्तियुक्त और वैज्ञानिक वर्गीकरण अनुच्छेद 14 और 21 का अतिक्रमण नहीं माना जा सकता है और इस प्रकार इस उपबंध को चुनौती देने वाली विद्वान काउंसेल की दलील को पूर्णतः नामंजूर किया जाना चाहिए।

248. दूसरे विद्वान अपर महासालिसिटर श्री तुलसी और अन्य काउंसेल ने इस उपबंध की विधिमान्यता का समर्थन करते हुए यह सामान्य दलील दी कि इस उपबंध की विधिमान्यता को चुनौती दिए जाने से संबंधित काउंसेल की दलील के अनुसार सारभूत विधि को प्रक्रिया संबंधी विधि की बनिस्बत निम्न स्तर का सिद्ध करने का प्रयास करना है और इस प्रकार सारभूत विधि को कमजोर बनाकर इसे कृत्यविहीन बनाना है और इस प्रकार इस दलील को नामंजूर किया जाना चाहिए।

249. अधिनियम के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सामान्य परिस्थितियों में अपराधियों के विचारण की प्रक्रिया से विचलन करते हुए विशेष प्रक्रिया विहित करने की विधि अधिनियमित करने और विनिर्दिष्ट अपराधों—वर्तमान मामले में "टाडा" के अधीन पृथक प्रक्रिया के अधीन विचारण किए जाने वाले "अपराधों" और "अपराधियों" के वर्गीकरण की बाबत अधिनियमित करने की विधायी सक्षमता से संबंधित विनिश्चय-आधार के प्रकाश में हम इस बाबत अवधारण किए जाने के लिए पक्षकारों की विरोधी दलीलों की परीक्षा करेंगे कि क्या

[1] 1950 एस० सी० आर० 519.
[2] 1952 एस० सी० आर० 435.
[3] 1954 एस० सी० आर० 30, 38-73.
[4] 1957 एस० सी० आर० 874-927.
[5] 1957 एस० सी० आर० 233.
[6] 1958 एस० सी० आर० 1226-1232.
[7] 1960 (2) एस० सी० आर० 646-651.
[8] 1982 (1) एस० सी० सी० 271-272.

इस अधिनियम के अधीन विहित प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 का अतिक्रमण करती है।

250. इस प्रतिपादना के समर्थन में कि विधानमण्डल कानून लागू लिए जाने में "अपराधों" और 'अपराधियों" का वर्गीकरण करने के लिए स्वतंत्र है अनेक विनिश्चय हैं। इनमें से हम कुछ के प्रति निर्देश करना चाहेंगे।

251. **एस्बरी हॉस्पिटल बनाम केसेस काउण्टी**[1] वाले मामले में यह कहा गया कि—

"विधानमण्डल किसी कानून जो कि विधायी प्रयोजन के लिए सुसंगत है को लागू किए जाने में वर्गीकरण करने के लिए स्वतंत्र है। विधिमान्यता की अंतिम कसौटी यह नहीं है कि क्या मामले भिन्न हैं अपितु यह है कि उनके मध्य का अंतर उस विषय के उपयुक्त है जिसकी बाबत वर्गीकरण किया जाना है।"

252. **गॉस्र्ट बनाम क्लैरी**[2] वाले मामले में मिशीगन कानून में महिलाओं को वस्तु-विनिमेत्ता के रूप में अनुज्ञप्त करने के लिए प्रतिषिद्ध किया गया था और साथ ही इसमें लिकर स्थापनों के मालिकों की पत्नियों और पुत्रियों के पक्ष में अपवाद किया गया था। इस मामले में बहुमत न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि चौदहवें संशोधन के समान संरक्षण खण्ड का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है।

253. इसी प्रकार, उस नगर विनियम को जो नगर के मार्गों में यानों पर विज्ञापन दिए जाने को प्रतिषिद्ध करता था किंतु कारबार के परिदान यानों पर कारबार के नोटिस लगाने को अनुज्ञात करता था जहां तक कि उनका प्रयोग, मात्र अथवा प्रमुखत: विज्ञापन के लिए किया जाता है। **रेलवे एक्सप्रेस एजेन्सी बनाम न्यूयार्क**[3] वाले मामले में इसे चौदहवें संशोधन का अतिक्रमण नहीं माना गया। इस अपवाद की अभिपुष्टि की गई क्योंकि वर्गीकरण उस प्रयोजन से संबंधित था जिसके लिए यह किया गया और न्यायमूर्ति डगलस ने यह टिप्पणी की कि सैद्धांतिक अत्यावश्यकताओं की अपेक्षा अनुभव पर आधारित व्यावहारिक विचारणाओं द्वारा समान संरक्षण के प्रश्न का उत्तर दिया जाना चाहिए।

254. वास्तव में, संयुक्त राज्य अमरीका की उच्चतम न्यायालय ने कतिपय छूट के उपबंधों को इस आधार पर अभिखण्डित किया है कि वर्गीकरण मनमाना और काल्पनिक है और यह किसी ऋजु आधार पर आधारित नहीं है तथा विधान के उद्देश्य से इसका कोई सारभूत संबंध नहीं है।

255. संविधान के अनुच्छेद 14 के अर्थ और इसकी व्याप्ति की बाबत चर्चा करते हुए इस न्यायालय ने इसमें वर्णित समता के सिद्धांत और नीति के बाबत अनेक निर्णय दिए हैं।

256. **स्टेट ऑफ बॉम्बे बनाम एफ० एन० बलसारा**[4] वाले मामले में न्यायमूर्ति

[1] 1945 (90) लॉ संस्करण 6 पृष्ठ 13.

[2] 1948 (93) लॉ संस्करण 163 (ई).

[3] 1948 (93) लॉ संस्करण 533 (एफ).

[4] ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 318-326.

फज़ल अली ने उपर्युक्त चिरंजीत लाल बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में विवेचित अनुच्छेद 14 की व्याप्ति का अनुमोदन करते हुए ये सात प्रतिपादनाएं अधिकथित कीं :—

"1. उपधारणा सदैव किसी अधिनियमिति की सांविधानिकता के पक्ष में की जाती है क्योंकि यह उपधारित किया जाना चाहिए कि विधानमण्डल अपने लोगों की आवश्यकताओं को समझता है और सही निरूपित करता है और यह कि उसके द्वारा बनाई गई विधि अनुभव द्वारा प्रकट समस्याओं से संबंधित है और उसके द्वारा किए गए विभेद पर्याप्त आधारों पर आधारित हैं ।

2. इस उपधारणा को यह दर्शित करके कतिपय मामलों में खंडन किया जा सकता है कि कानून को देखते ही बिल्कुल भी किसी प्रकार के वर्गीकरण का पता नहीं चलता है और किसी व्यक्ति या वर्ग के प्रति विचित्र प्रकार का भेद नहीं किया गया है और यह किसी अन्य व्यक्ति या वर्ग को लागू नहीं होता है, फिर भी विधि मात्र विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग के विरुद्ध है ।

3. समता के सिद्धांत से यह अभिप्रेत नहीं है कि प्रत्येक विधि उन सभी व्यक्तियों को सार्वभौम रूप में लागू होगी जो प्रकृति, प्राप्ति या परिस्थितियों द्वारा एक सी स्थिति में नहीं हैं और विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के लिए प्राय: पृथक उपचार आवश्यक है ।

4. इस सिद्धांत के कारण राज्य की विधिसम्मत प्रयोजनों के लिए व्यक्तियों का वर्गीकरण करने की शक्ति समाप्त नहीं हो जाती है ।

5. प्रत्येक प्रकार के वर्गीकरण से किसी न किसी प्रकार की असमानता उत्पन्न होना संभाव्य है और मात्र असमानता का उत्पन्न होना पर्याप्त नहीं है ।

6. यदि विधि का संबंध उसी प्रकार किसी सुपरिभाषित वर्ग के सदस्यों से है, तो यह हानिकर नहीं है और इस आधार पर समान संरक्षण से वंचित करने की स्वतंत्रता नहीं होगी कि यह अन्य व्यक्तियों को लागू नहीं होता है ।

7. यद्यपि युक्तियुक्त वर्गीकरण अनुज्ञेय है, ऐसा वर्गीकरण कतिपय प्रकार की वास्तविकता पर आधारित होना चाहिए और सारभूत भेद युक्तियुक्त होना चाहिए और इसका प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य से युक्तियुक्त और न्यायसंगत संबंध होना चाहिए तथा वर्गीकरण मनमाने रूप में और बिना किसी सारभूत आधार के नहीं किया जा सकता है ।"

257. इस बाबत प्रोफेसर विलिस कृत सांविधानिक विधि (प्रथम संस्करण, पृष्ठ 578) भी दृष्टव्य है ।

258. उपर्युक्त प्रतिपादना को ध्यान में रखते हुए, हमें इस बाबत विनिश्चय करना है कि क्या 1987 के अधिनियम (टाडा) की धारा 15 के उपबंध अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करते हैं । वास्तव में यदि वर्गीकरण मनमाना, अयुक्तियुक्त और बिना किसी सारभूत आधार

---

1 1950 एस० सी० आर० 869.

के दर्शित कर दिया जाता है, तो विधि अनुच्छेद 14 में दिए गए विधि के समान संरक्षण के विरुद्ध होगी।

259. सभी काउंसेलों द्वारा इस उपबंध को चुनौती देते हुए उपर्युक्त **पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का सशक्त रूप में अवलंब लिया गया। इस विनिश्चय में पश्चिमी बंगाल विशेष न्यायालय अधिनियम की विधिमान्यता को आक्षेपित किया गया। उद्देशिका में यथाघोषित इस अधिनियम का उद्देश्य "कतिपय अपराधों के शीघ्र विचारण के लिए उपबंध करना है।" इस अधिनियम की धारा 3 में राज्य सरकार को राजपत्र में अधिसूचना द्वारा विशेष न्यायालय गठित किए जाने के लिए सशक्त बनाया गया है और धारा 5 में यह उपबंधित है कि—

> "विशेष न्यायालय ऐसे अपराधों या अपराधों के वर्ग या मामलों या मामलों के वर्ग का विचारण करेगा जो सामान्य या लिखित में, विशेष आदेश द्वारा सीधे किया जा सकेगा।"

260. दंड प्रक्रिया संहिता द्वारा अधिकथित प्रक्रिया से विभिन्न रूप में भिन्न विचारण की प्रक्रिया अधिनियम द्वारा अधिकथित की गई। यह दलील दी गई कि धारा 5 असांविधानिक है क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है। इस न्यायालय के बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि विद्वान मुख्य न्यायमूर्ति ने इस बाबत विसम्मत राय व्यक्त की कि धारा 5 शून्य है क्योंकि यह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है।

261. न्यायमूर्ति फजल अली ने इस दलील का निपटारा करते हुए कि धारा 5 असांविधानिक है अपने पृथक निर्णय में यह मताभिव्यक्ति की :—

> "युक्तियुक्त वर्गीकरण की परीक्षा की बाबत कुछ भी पवित्र या अलंघनीय नहीं है, अपितु इसमें कोई संदेह नहीं कि इसे समता के सिद्धांत के अतिलंघन के आधार पर विधि और शासकीय कार्यों की चुनौती का सामना करने के लिए लाभप्रद आधार के रूप में साबित किया गया है.................मेरी राय में, जब अनुच्छेद में ही स्पष्ट और वस्तुनिष्ठ कसौटी अधिकथित है, तो व्यक्तिनिष्ठ परीक्षा अपनाना खतरनाक होगा..............मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अधिनियम की धारा 5 या कम से कम उसका वह भाग जिससे हमारा इस अपील में संबंध है संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करता है और, इसलिए, यह असांविधानिक और शून्य है।"

262. न्यायमूर्ति महाजन ने न्यायमूर्ति मुखर्जी के निर्णय से सहमति व्यक्त करते हुए यह कहा :—

> "वर्तमान कानून में अपराधों या मामलों की बाबत किसी प्रकार का युक्तियुक्त आधार या वर्गीकरण नहीं है। उन व्यक्तियों या मामलों या अपराधों जो विशेष अधिनियम की परिधि से बाहर हैं के ग्रुपीकरण के लिए किसी प्रकार का मानदंड या उपाय अधिकथित नहीं है। इस अधिनियम में इस बात को पूर्णतः प्रांतीय सरकार के

---

[1] 1952 एस० सी० आर० 284.

अनियमित विवेक पर छोड़ दिया गया है.........यदि यह कहा भी जाए कि कानून देखने में वैवेकिक नहीं है, तो यह अपने प्रभाव और प्रवर्तन में ऐसा है क्योंकि यह कार्यकारी सरकार में अनियमित शासकीय विवेक निहित करता है और इसलिए, इसे असांविधानिक निर्णीत किया जाना चाहिए।"

263. न्यायमूर्ति मुखर्जी ने अपने पृथक निर्णय में यह कहा :—

"किंतु जब कानून में ही किसी उचित या युक्तियुक्त आधार के बिना विभेद किया गया हो, तो ऐसा कानून समान संरक्षण खंड के विरुद्ध होने के कारण अविधिमान्य होगा और यह प्रश्न कि इसका वस्तुत: किस प्रकार परिकलन किया जाए विचार किए जाने के लिए अवश्यमेव ही तात्विक तथ्य नहीं होगा। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं वर्तमान मामले में विभेद अधिनियम के निबंधनों की बाबत उद्भूत है। यह तथ्य कि यह राज्य सरकार को विशिष्ट मामलों या अपराधों का जो विशेष अधिकरण के समक्ष जाएंगे अपनी पसंद के अनुसार चयन किए जाने की और ऐसे मामलों में संरक्षण वापस लेने जो अभियुक्त को देश की दंड विधि के अधीन साधारणत: प्राप्त है के लिए अनियंत्रित शक्ति देता है प्रथम दृष्ट्या विभेदकारी है।"

264. इस विनिश्चय का विनिश्चयाधार यह है कि धारा 5 में उन मामलों को वर्गीकृत नहीं किया गया और न ही उनके वर्गीकरण के लिए कोई आधार अधिकथित किया गया है जिनकी बाबत उच्चतम न्यायालय द्वारा विचारण किए जाने के लिए निर्देश किया जा सकता है अपितु इन्हें राज्य सरकार के अनियंत्रित विवेकाधिकार पर छोड़ दिया गया है कि वह किसी भी मामले को विशेष न्यायालय द्वारा विचारण किए जाने के लिए निर्दिष्ट कर सकती है।

265. हमारी दृष्टि में उपर्यक्त विनिश्चय का लाभ "टाडा" की धारा 15 को अभिखंडित किए जाने के लिए नहीं लिया जा सकता है क्योंकि "टाडा" के अधीन अभिहित न्यायालय द्वारा या 1984 के अधिनियम के अधीन विशेष न्यायालयों द्वारा विचारण किए जाने वाले "अपराधियों" और "अपराधों" के वर्गीकरण को केंद्रीय सरकार के मनमानेपन और अनियंत्रित विवेकाधिकार पर नहीं छोड़ा गया है अपितु अधिनियम में ही अपराधियों का "टाडा" में आतंकवादियों और विध्वंसकारियों के रूप में स्पष्ट और सुनिश्चित वर्गीकरण किया गया है और विशेष न्यायालय अधिनियम, 1984 के अधीन आतंकवादियों और दोनों अधिनियमों के अधीन अपराधों का वर्गीकरण किया गया है।

266. अत:, अधिनियम में पक्षपातपूर्ण विभेद किए जाने की शिकायत को अस्वीकार किया जाता है। न्यायालय को यह पता लगाना चाहिए कि क्या शक्ति का प्रयोग किसी बाह्य प्रयोजनार्थ अर्थात् ऐसे किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जिसके लिए शक्ति मंजूर नहीं की गई है किया गया है और क्या "टाडा" ऐसे आधारों पर किया गया है जो इस अधिनियम की नीति और प्रयोजन से संबंधित या संगत नहीं हैं और क्या यह अनुच्छेद 14 के अतिक्रमण में विभेद करता है। हमारी विचारित राय में, वर्गीकरण का "टाडा" द्वारा और विशेष न्यायालय अधिनियम द्वारा प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य से युक्तियुक्त संबंध है और परिणामस्वरूप संविधान के अनुच्छेद 14 का किसी प्रकार से अतिक्रमण नहीं हुआ है।

1994(3) eILR(PAT) SC 1

267. अगला प्रश्न यह है कि क्या संस्वीकृति अभिलिखित किए जाने की प्रक्रिया न्यायसंगत और ऋजु है।

268. काउंसेल ने अभियुक्त व्यक्ति से संस्वीकृति प्राप्त किए जाने की रीति और तरीके की कड़ी आलोचना की। उनके अनुसार पुलिस का अभियुक्त के साथ मानव अधिकारों के अतिक्रमण में नग्न पाश्विकता के साथ तृतीय स्तर के उपायों का प्रयोग करके और अकथित पीड़ा द्वारा उसे बोलने के लिए बाध्य करके संस्वीकृति प्राप्त करने के लिए अन्यायपूर्ण व्यवहार और अत्यधिक नग्नता के साथ शक्ति का दुरुपयोग किए जाने के प्रति उपेक्षा नहीं बरती जा सकती है और इसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है और न्यायालय उपर्युक्त सत्यता के प्रति आंख मींचने और इसकी अनदेखी करने में न्यायोचित नहीं होंगे और न ही वे इस बाबत विधिक उपधारणा करने में न्यायसंगत होंगे कि पुलिस द्वारा संस्वीकृति धारा 15(1) के निबंधनों के अनुसार विधिक रूप से अनुज्ञेय प्रक्रिया के अनुसार ही ऐसे पुलिस अधिकारी द्वारा जो कि पुलिस अधीक्षक से निम्न पंक्ति का नहीं है प्राप्त की जानी चाहिए थी। उन्होंने पुलिस अधिकारियों के अभियुक्त को गिरफ्तार करके उठाए जाने या न्यायालय से अभिरक्षा प्राप्त करके उसे अज्ञात स्थान पर ले जाने या ऐसे परिसर में अभिरक्षा में पूछताछ किए जाने के लिए ले जाने ताकि उससे न्यायालय के समक्ष सबूत के स्रोत के रूप में अनिवार्य रूप से उसका स्वयं को फंसाने वाला कथन अभिलिखित किया जा सके से संबंधित आचरण की निंदा की।

269. इस न्यायालय ने अनेक बार उन पुलिस कर्मियों के शिकार व्यक्तियों को विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रतिकर प्रदान किया है जिसे इस न्यायालय के विभिन्न निर्णयों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है।

270. जैसा कि हम ऊपर बार-बार स्पष्ट कर चुके हैं कि यदि न्यायालय को यह दर्शित कर दिया जाता है कि संस्वीकृति साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 के अधीन यथा अनुध्यात उत्प्रेरणा, धमकी या वचन सरीखे अवैध उपायों द्वारा उद्दापित की गई है, तो अभियुक्त व्यक्ति से इस प्रकार संस्वीकृति विसंगत होगी और इसका इसके कर्ता के विरुद्ध दांडिक कार्यवाही में प्रयोग नहीं किया जा सकता है। यहां यह ध्यान दिलाया जा सकता है कि दंड संहिता की धारा 330 और 331 में ऐसे व्यक्ति को दंडित किए जाने के लिए उपबंध है जो संस्वीकृति या ऐसी किसी प्रकार की जानकारी उद्दापित करने के लिए जिसके परिणामस्वरूप किसी अपराध या अवचार का पता चलता हैं स्वेच्छया उपहति या घोर उपहति कारित करता है।

271. इस प्रकार संविधान और प्रक्रिया संबंधी विधि और साक्ष्य विधि में तृतीय स्तर के उपायों का प्रयोग करके संस्वीकृति उद्दापित करने या जानकारी प्राप्त किए जाने के लिए बाध्य किए जाने से संबंधित किसी पदाधिकारी के आचरण की निंदा की गई है।

272. इस संबंध में, हम किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति को साक्ष्य के रूप में ग्रहण किए जाने से संबंधित राष्ट्रीय पुलिस आयोग की चतुर्थ रिपोर्ट (जून, 1980) से कुछ उद्धृत करना चाहेंगे जो कि इस प्रकार है—

"27.33..................किसी पुलिस अधिकारी द्वारा अभिलिखित संस्वीकृति को न्यायिक कार्यवाहियों में ग्रहण किए जाने पर लगाई गई पाबंदी से ऐसे अनेक अन्य प्रवर्तन अभिकरणों की बनिस्बत जो अन्वेषण कार्य भी करते हैं जिसके परिणामस्वरूप न्यायालय में अभियोजन किया जाता है पुलिस के समक्ष बड़ी समस्या खड़ी हो गई है। साक्ष्य अधिनियम का यह उपबंध जिसे 1872 में अधिनियमित किया गया था तत्कालीन स्थिति के संगत था जिस समय सरकार के लिए उपलब्ध व्यावहारिकत: पुलिस ही एकमात्र प्रवर्तन अभिकरण थी और जो किसी अभियुक्त व्यक्ति से संस्वीकृति प्राप्त करने के लिए यातना और विचित्र प्रकार के अन्य दबाव और युक्तियां अपनाकर और अनेक प्रकार के अन्य अनाचारों का सहारा लेने के कारण बदनाम हो चुकी थी। तब से अब तक सौ वर्ष से भी अधिक का समय व्यतीत हो चुका है। हम यह जानते हैं कि अभी तक पुलिस अभियुक्त व्यक्तियों से पूछताछ किए जाने के मामले में घृणित उपायों का आश्रय लेती है, फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि जनता और प्रेस द्वारा अब बड़ी सतर्कता बरती जाती है, नागरिक भी विधि के अधीन प्रदत्त अपने वैयक्तिक अधिकारों के प्रति पहले से अधिक सचेत हो गए हैं और इस बढ़ती जागरूकता तथा पुलिस तंत्र के शीर्ष पर बैठे वरिष्ठ अधिकारियों की इस प्रकार के अनाचार को नियंत्रित किए जाने की प्रतिबद्धता के कारण पुलिस में व्याप्त अनाचार पर पहले के देखने में काफी अंकुश लगा है...........इस विवादित प्रश्न के समस्त पहलुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् हम यह महसूस करते हैं कि अब हमारे लिए पुलिस पर लगे इस कलंक को धोने की दिशा में कुछ सकारात्मक कदम उठाने और पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति को न्यायिक कार्यवाहियों में ग्रहण किए जाने, यदि सारभूत साक्ष्य के रूप में नहीं तो कम-से-कम ऐसे दस्तावेज के रूप में जिस पर न्यायालय उसी प्रकार जैसा कि अब दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 172(2) के अधीन मामला डायरियों से संबंधित और साक्ष्य अधिनियम की धारा 30 के अधीन किसी सह-अभियुक्त की संस्वीकृति की बाबत जांच या विचारण में सहायता किए जाने के लिए विचार कर सकता है को संभव बनाने का समय आ गया है। हमारा यह भी मत है कि किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति को साक्ष्य के रूप में ग्रहण किए जाने और उसके मूल्य के प्रति इस दृष्टिकोण को न केवल किसी पुलिस के प्रति अपितु उन सभी प्राधिकारवान् व्यक्तियों के प्रति भी अपनाया जाना चाहिए जिनके समक्ष संस्वीकृति की जाए। यदि साक्ष्य अधिनियम में संस्वीकृति के प्रति इस प्रकार के दृष्टिकोण को एक वर्ग के रूप में परिलक्षित किया जाता है, तो इससे आज पुलिस में व्याप्त यह भावना दूर हो जाएगी कि विधि में उनके साथ अन्यायसंगत रूप में विभेद किया गया है।"

273. पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति को ग्रहण किए जाने की बाबत पक्ष और विरोध में की गई दलील के संबंध में चाहे कुछ भी कहा जाए, हम यह कहे बिना नहीं रह सकते हैं कि हमारे समक्ष—विधिवेत्ता और न्यायपीठ दोनों के दौरान के अनुभव में—प्राय: ऐसे मामले आए जिनमें कुछ अति उत्साही पुलिस अधिकारियों द्वारा संदिग्ध व्यक्तियों से किसी भी प्रकार से साक्ष्य प्राप्त किए जाने के लिए और अपने पक्ष में विनिश्चय

कराए जाने के उद्देश्य से अमानवीय, पाश्विक, अप्रचलित और कठोर उपायों का आश्रय लेकर अत्याचार और क्रूरता बरती गई। हम यह खेद व्यक्त करते हुए कहना चाहते हैं कि कभी-कभी हमें इस बाबत भी अवगत कराया गया कि अभियुक्त व्यक्तियों से अभिरक्षा में पूछताछ किए जाने के दौरान मृत्यु तक हो जाती है। हमें ऐसे कुछ पुलिस अधिकारियों के अत्याचार-पूर्ण व्यवहार और उनके द्वारा अपनाए जाने वाले घृणित और निंदनीय तरीकों की बाबत बड़ा दुःख है और हम इस बारे में बड़े चिंतित हैं और यह कहना चाहेंगे कि इस प्रकार के अधिकारियों के व्यवहार और तौर-तरीकों की जितने भी कड़े शब्दों में निंदा की जाए उतना ही कम है।

274. इस संबंध में, हम यह कहना चाहते हैं कि राष्ट्रीय पुलिस आयोग की चतुर्थ रिपोर्ट में की गई उन मताभिव्यक्तियों को यहां उद्धृत करना उपयुक्त रहेगा जिनमें पुलिस अधिकारियों द्वारा अपनाए जाने वाले तृतीय स्तर के उपायों और आचरण की इस प्रकार निंदा की गई है—

> "............इससे और भी अमानवीय बात क्या हो सकती है कि पुलिस अभिरक्षा में पुलिस द्वारा व्यक्ति को यातनाएं दी जाती हैं। पुलिस द्वारा वर्षों से किए जा रहे इस अत्याचार के कारण आज उसकी छवि-जनता की दृष्टि में बड़ी खराब हो गई है। हम यह बड़े खेद के साथ कहना चाहेंगे कि यही पद्धति संदिग्ध व्यक्ति से शीघ्र सत्य उगलवाने के लिए पुलिस के बड़े अधिकारियों द्वारा भी अपनाई जाती हैं। कभी-कभी वरिष्ठ अधिकारी भी इन तृतीय स्तर के उपायों को अपनाते हैं जब उन्हें व्यक्तियों के मामलों में ऐसी कुछ शिकायतें प्राप्त होती हैं कि उस संदिग्ध व्यक्ति से जिसका उन्होंने नाम लिया है कड़ाई से पूछताछ की जाए.........।"

275. यद्यपि हम विद्वान काउंसेल के इन विचारों से देखते ही सहमत हैं कि पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति को साक्ष्य के रूप में ग्रहण किया जाना [संयुक्त साम्राज्य (ब्रिटेन), संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया और कनाडा आदि सरीखे कुछ देशों में विधिक स्थिति के होते हुए भी] खतरनाक होगा। विधानमण्डल की विभिन्न प्रकार के सबूत विहित किए जाने की बाबत विधि बनाने की विधिक सक्षमता, आतंकवादियों और विध्वंस-कारियों द्वारा न केवल देश की प्रभुसत्ता और अखण्डता को अपितु नागरिकों के सामान्य जीवन को भी खतरा उत्पन्न किए जाने के आतंक की गंभीरता और अपराध के शिकार व्यक्ति और जनता द्वारा अपने जीवन को खतरा महसूस किए जाने के कारण साक्ष्य देने के लिए सामने आने की हिचकिचाहट को दृष्टिगत करते हुए हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि आक्षेपित धारा के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इसमें किसी प्रकार की असांविधानिकता का दोष है। वास्तव में यदि कतिपय स्थिति की अत्यावश्यकता को देखते हुए ऐसा विधान आवश्यक है तब ऐसा किया जाना इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों के न्यायादेशों के अनुसार अनुज्ञेय होगा परंतु यह तब जबकि संविधान के अध्याय-3 के अधीन वर्णित किसी मूल अधिकार का अतिलंघन नहीं हुआ है।

276. सामान्य प्रक्रिया में अब तक न्यायिक अधिकारी द्वारा संस्वीकृति अभिलिखित किए जाने की शक्ति उच्चतर पुलिस अधिकारी में निहित किए जाने की विधिक स्थिति को

देखते हुए हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि प्रक्रिया और संस्वीकृति जिससे केवल सत्य और स्वेच्छया कथन का पता चलता है अभिलिखित किए जाने के स्वीकृत सिद्धांतों का किसी भी प्रकार से भंग नहीं होना चाहिए और इस विशेष आलोचना के लिए किसी प्रकार की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए कि प्राधिकारी ने सत्य और विश्वसनीयता को ध्यान में रखे बिना सबूत के स्रोत के रूप में मनगढ़न्त संस्वीकृति प्राप्त की। यह बड़ी ही विडंबना की बात है कि जब न्यायाधीश यह कहे कि "क्या उसे सत्य को नहीं सुनना चाहिए" तो अभियोजन को तत्काल यही कहना चाहिए कि "नहीं, न्यायाधीश तो केवल साक्ष्य सुनता है।"

277. धारा 21(1)(ग) के निकाले जाने के उपरांत अधिनियम के अब यथा-विद्यमान संशोधन के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति को ऐसे व्यक्ति के विचारण में न केवल उस व्यक्ति के विरुद्ध अपितु सह-अभियुक्त, दुष्प्रेरक अथवा षड्यंत्रकारी के विरुद्ध भी ग्रहण किया जा सकता है परन्तु यह तब जबकि सह-अभियुक्त, दुष्प्रेरक अथवा षड्यंत्रकारी को उसी मामले में अभियुक्त अर्थात् संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति के साथ आरोपित किया गया है और उसका विचारण किया जा रहा है। वर्तमान स्थिति साक्ष्य अधिनियम की धारा 30 के अनुरूप है।

278. अधिनियम की धारा 21(1)(घ) के अधीन धारा 3 की उपधारा (1) के अधीन अपराध के अभियोजन में यदि यह साबित हो जाता है कि अभियुक्त ने, पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति के समक्ष अपराध की संस्वीकृति की है, तो अभिहित न्यायालय, जब तक कि तत्प्रतिकूल साबित नहीं हो जाता है, यह उपधारणा करेगा कि ऐसा अपराध अभियुक्त ने किया है। 1993 के अधिनियम सं० 43 द्वारा धारा 21(1)(घ) का खण्ड (घ) अब निकाल दिया गया है। इसके परिणामस्वरूप जो स्थिति है वह इस प्रकार है कि अभिहित न्यायालय द्वारा धारा 21 के आधार पर धारा 3 के अधीन अपराध की बाबत अभियुक्त के विरुद्ध किसी प्रकार की उपधारणा नहीं की जा सकती है।

279. धारा 15(1) के अनुसार, संस्वीकृति लिखित में या किसी यांत्रिक युक्ति से जैसे कैसेट, टेप या साउंड ट्रैक जिससे ध्वनियां या आकृतियां पुनः प्रस्तुत की जा सकती हैं अभिलिखित की जा सकती है। जैसा कि विद्वान् काउंसेल द्वारा ठीक ही कहा गया कि क्योंकि यांत्रिक युक्ति पर साक्ष्य अभिलिखित किए जाने में गड़बड़ की जा सकती है, उसे अनुकूल बनाया जा सकता है, फेरबदल की जा सकती है, संपादित किया जा सकता है और मिटाया जा सकता है आदि, हम यह विशेष रूप से महसूस करते हैं कि ऐसे कुछ कठोर रक्षोपाय होने चाहिए जिनका धारा 15(1) के अधीन संस्वीकृति अभिलिखित करते समय सावधानीपूर्वक पालन किया जाना चाहिए ताकि मिथ्या संस्वीकृति उद्‌घापित किए जाने की किसी भी प्रकार की संभावना को कुछ हद तक रोका जा सके।

280. धारा 15 की उपधारा (2) में यह आदिष्ट है कि पुलिस अधिकारी संस्वीकृति अभिलिखित करने से पूर्व, संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति को यह स्पष्ट करेगा कि वह ऐसी संस्वीकृति करने के लिए बाध्य नहीं है और उसे यह कानूनी चेतावनी देगा कि यदि वह ऐसा करता है, तो उसका उपयोग उसके विरुद्ध साक्ष्य के रूप में किया जा सकेगा।

281. "टाडा" नियमों का नियम 15 संस्वीकृति अभिलिखित किए जाने के तरीके की बाबत पुलिस अधिकारी पर कतिपय शर्तें अधिरोपित करता है और पुलिस अधिकारी से

संस्वीकृति के अंत में इस प्रकार का ज्ञापन देने की अपेक्षा करता है कि उसने संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति को यह स्पष्ट कर दिया कि वह संस्वीकृति करने के लिए बाध्य नहीं है और यदि संस्वीकृति उसके द्वारा की जाती है, तो इसका उसके विरुद्ध उपयोग किया जाएगा और यह कि उसने संस्वीकृति इस बाबत समाधान होने पर ही अभिलिखित की कि यह स्वेच्छया से की गई। नियम 15(5) में यह अपेक्षित है कि धारा 15 के अधीन अभिलिखित प्रत्येक संस्वीकृति उस क्षेत्र में जिसमें ऐसी संस्वीकृति अभिलिखित की गई अधिकारिता रखने वाले मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजी जाएगी और मजिस्ट्रेट उस अभिलिखित संस्वीकृति को जो उसे प्राप्त हुई अपराध का संज्ञान करने वाले अभिहित न्यायालय को तत्काल अग्रेषित करेगा।

282. पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि धारा 15 अभिखंडित नहीं की जा सकती है क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 14 अथवा 21 का अतिक्रमण नहीं करती है।

283. धारा 15 के अभिप्राय से संबंधित हमारे अंतिम निष्कर्ष के होते हुए भी, हम यह भी कहना चाहेंगे कि संहिता की धारा 164 के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा संस्वीकृति अभिलिखित किया जाना संहिता के प्रतिकूल "टाडा" में दिए गए किसी अपवर्जनकारी उपबंध द्वारा अपवर्जित नहीं है अपितु इसके प्रतिकूल "टाडा" के अधीन अन्वेषण करने वाला पुलिस-अधिकारी 'टाडा' के किसी उपबंध के अधीन अपराध के आरोपित व्यक्ति की संस्वीकृति या कथन को किसी मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट, न्यायिक मजिस्ट्रेट, कार्यपालक मजिस्ट्रेट अथवा विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा लेखबद्ध करवा सकता है और इनमें से दो पश्चात्कथित मजिस्ट्रेट "टाडा" की धारा 20 की उपधारा (3) द्वारा धारा 164(1) में सम्मिलित किए गए हैं और संस्वीकृति अभिलिखित किए जाने के लिए सशक्त है।

284. विशुद्ध परिणाम यह निकला कि "टाडा" के अधीन किसी व्यक्ति की किसी प्रकार की संस्वीकृति या कथन धारा 15 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए ऐसे पुलिस अधिकारी द्वारा जो पुलिस अधीक्षक से निम्न पंक्ति का नहीं है या न्यायिक मजिस्ट्रेट या कार्यपालक मजिस्ट्रेट या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा जो "टाडा" की धारा 20 की उपधारा (3) को दृष्टिगत करते हुए धारा 164 (1) के अधीन किसी प्रकार की संस्वीकृति अभिलिखित किए जाने के लिए सशक्त हैं लेखबद्ध किया जा सकता है। चूंकि हम इस निर्णय के पश्चात्वर्ती भाग में धारा 20 (3) पर सविस्तार चर्चा करेंगे, हम इस समय इस बाबत और अधिक कुछ नहीं करना चाहते।

285. तथापि, हम यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसे पुलिस अधिकारी द्वारा जो पुलिस अधीक्षक से निम्न पंक्ति का नहीं है अभियोग से पूर्व की पूछताछ में प्राप्त संस्वीकृति को किसी प्रकार दूषित नहीं किया जा सके और इसे विशिष्टतः सुमान्य और स्वीकृत तथा सुविचारित सिद्धान्तों और आधारभूत ऋजुता के अनुरूप अभिलिखित किया जा सके ये दिशानिर्देश अधिकथित करना चाहेंगे—

(1) संस्वीकृति उसी भाषा में जिसमें व्यक्ति की परीक्षा की गई और जिसमें उसने इसे बताया मुक्त वातावरण में अभिलिखित की जानी चाहिए।

(2) उस व्यक्ति को जिससे संस्वीकृति अधिनियम की धारा 15(1) के अधीन अभिलिखित की गई उस मुख्य मैट्रोपोलिटिन मजिस्ट्रेट या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट जिसे नियम 15 (5) के अधीन संस्वीकृति को इसके मूल कथन जिसे लेखबद्ध किया गया था यांत्रिक युक्ति पर अयुक्तियुक्त विलंब बिना अभिलिखित किया गया के साथ भेजा जाना अपेक्षित है के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

(3) मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट सावधानीपूर्वक कथन अभिलिखित करेगा, यदि कोई, इस प्रकार प्रस्तुत किए गए अभियुक्त द्वारा किया जाता है और उसके हस्ताक्षर लेगा तथा यातना की शिकायत के किसी मामले में उस व्यक्ति की ऐसे चिकित्सा अधिकारी द्वारा चिकित्सा परीक्षा किए जाने का निदेश देगा जो सहायक सिविल शल्य चिकित्सक से निम्न पंक्ति का नहीं है।

(4) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में किसी बात के होते हुए भी, ऐसा कोई भी पुलिस अधिकारी जो मैंट्रोपोलिटन नगरों में सहायक पुलिस आयुक्त से निम्न पंक्ति का नहीं है और अन्यत्र पुलिस उप अधीक्षक या समकक्ष पंक्ति का पुलिस अधिकारी 1987 के इस अधिनियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध का अन्वेषण करेगा।

यह इस अधिनियम के कठोर उपबंधों को देखते हुए आवश्यक है। ऐसा इसलिए भी कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 17 और अनैतिक व्यापार (निवारण) अधिनियम, 1956 की धारा 13 केवल विशिष्ट पंक्ति के पुलिस अधिकारी को इन विशिष्ट अधिनियमों के अधीन अपराधों का अन्वेषण करने के लिए प्राधिकृत करती है।

(5) यदि पुलिस अधिकारी किसी व्यक्ति की न्यायिक अभिरक्षा से पूर्व-आरोपण या पूर्व विचारण की पूछताछ के प्रयोजनार्थ अभिरक्षा की ईप्सा कर रहा है, तो वह एक शपथपत्र प्रस्तुत करेगा जिसमें वह शपथ पर न केवल ऐसी अभिरक्षा के कारणों को अपितु विलंब यदि किसी प्रकार का पुलिस अभिरक्षा की ईप्सा करने में किया गया के कारणों को भी स्पष्ट करेगा।

(6) ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति जिसे पूछताछ के लिए लाया गया है इस चेतावनी के बावजूद कि वह संस्वीकृति करने के लिए बाध्य नहीं है और यदि वह ऐसा करता है, तो उक्त कथन का उसके विरुद्ध साक्ष्य के रूप में उपभोग किया जा सकता है मौन बना रहता है, तो पुलिस अधिकारी उसे प्रकटन कथन करने के लिए किसी प्रकार से बाध्य नहीं करेगा।

286. केंद्रीय सरकार इन मार्गदर्शक सिद्धांतों की अवेक्षा करके इन्हें अधिनियम और नियमों में समुचित संशोधन करके सम्मिलित कर सकती है।

287. यद्यपि यह विनिश्चय करना कि क्या संस्वीकृति विधि के यथेष्ट अनुसरण में उसकी न्यायिक बुद्धिमत्ता में ग्रहण किए जाने योग्य है अथवा विश्वसनीय है पूर्णतः अपराध का विचारण करने वाले न्यायालय का कर्तव्य है, उसे इस प्रश्न का विनिश्चय करते समय

1994(3) eILR(PAT) SC 1

अपना यह समाधान करना चाहिए कि अभिरक्षा के दौरान पूछताछ करके किसी प्रकार के झांसे, बहलावे और गलत तरीके से तो साक्ष्य प्राप्त नहीं किया गया ।

288. "टाडा" की उच्चतर स्तर पर संवीक्षा और इसके लागू किए जाने को सुनिश्चित करने के लिए, केंद्रीय सरकार द्वारा गठित छानबीन समिति अथवा पुनर्विलोकन समिति होनी चाहिए जिसमें गृह सचिव, विधि सचिव और अन्य विभागों के अन्य संबंधित सचिव सम्मिलित होंगे जो केंद्रीय सरकार द्वारा संस्थित "टाडा" मामलों का पुनर्विलोकन करेगी और हर तिमाही प्रशासनिक पुनर्विलोकन करेगी तथा विभिन्न राज्यों में "टाडा" के उपबन्धों को लागू किए जाने से संबंधित राज्य की कार्रवाई और इनके संबंध में उद्भूत होने वाले आनुषंगिक प्रश्नों का पुनर्विलोकन करेगी । इसी प्रकार राज्य सरकारों द्वारा भी छानबीन अथवा पुनर्विलोकन समितियां गठित की जाएंगी जिनमें मुख्य सचिव, गृह सचिव, विधि सचिव, पुलिस महानिदेशक (विधि-व्यवस्था) और उस सरकार के अन्य पदाधिकारी जिन्हें वह उपयुक्त समझे सम्मिलित होंगे जो अधिनियम के अधीन प्रवर्तन प्राधिकारियों की कार्रवाई का पुनर्विलोकन करने और अधिनियम के उपबंधों के अधीन रजिस्टर किए गए मामलों की छानबीन करने और प्रत्येक मामले में आगे की कार्रवाई का विनिश्चय करने आदि से संबंधित पुनर्विलोकन करेंगे ।

1987 के अधिनियम की धारा 16

289. इस बाबत पुरजोर दलील दी गई कि धारा 16 (1) इस आधार पर संविधान के अनुच्छेद 14 के उपबंधों का अतिक्रमण करती है कि यह उपबंध खुले विचारण की प्रत्याभूति को विनष्ट करता है और इसका परन्तुक लोक अभियोजक को इस बाबत विवेकाधिकार प्रदान करता है कि वह ऋजु विचारण के अनुसरण में आवेदन करके कार्रवाई या इसका भाग खुले न्यायालय में किए जाने की मांग कर सकता है ।

290. विद्वान अपर महासालिसिटर ने इस उपबन्ध की विधिमान्यता के विरुद्ध किए गए आदेश का विरोध करते हुए सविस्तार दलील दी और उपर्युक्त **ए० के० राय**[1] वाले मामले में की गई इस मताभिव्यक्ति का अवलंब लिया कि "लोक विचारण का अधिकार हमारे संविधान के अन्तर्गत उस प्रकार प्रत्याभूत अधिकार नहीं है जिस प्रकार कि यह अमरीकी संविधान के छठे संशोधन के अधीन है जिसमें अपराधों से आरोपित व्यक्तियों को लोक और शीघ्र विचारण का अधिकार प्राप्त है।"

291. इसी प्रकार के प्रश्न का निपटारा करते हुए पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायापीठ ने उपर्युक्त **विमल कौर**[2] वाले मामले में धारा 16 (1) को संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी होने के कारण यह अभिनिर्धारित करते हुए अभिखंडित कर दिया कि धारा 16 (1) न्यायालय को इस बाबत विनिश्चय करने के लिए किसी प्रकार का विवेकाधिकार प्रदान नहीं करती है कि क्या न्यायालय खुले में या बंद कमरे में लगाई जाए और इसमें लोक अभियोजक को अनुदेश देने का कोई मार्गदर्शन भी उपबंधित नहीं है कि उसे किन मामलों में खुले विचारण की मांग करनी चाहिए ।

[1] [1982] 2 एस० सी० आर० 272-293.

[2] ए० आई० आर० 1988 पंजाब-हरियाणा 95.

292. इसमें कोई सन्देह नहीं कि विचारण पारंपरिक रूप में खुले में होता है जो कि दांडिक न्याय की आवश्यक विशेषता है। यह विशिष्टता दांडिक विचारण के प्रशासन में ऋजुता ओर उचित आचरण बनाए रखने की दृष्टि से न केवल लोकहित में है अपितु इससे भी अधिक यह दंड विधि के प्रवर्तन की दृष्टि से जनता के "कल्याणकारी हित" में है जिससे कि समाज को अनेक प्रकार के अपराध किए जाने की विभीषिका से बचाया जा सके और इससे यह बात संतोषजनक रूप में स्पष्ट है कि यह परम्परा इसी कारण विकसित हुई और आज भी प्रचलित है। अभियुक्त के लोक विचारण को प्रत्याभूत करने वाली यह स्वीकृत पद्धति है जिसकी जड़ें अंग्रेजी "कॉमन ला" (सामान्य विधि) की विरासत में निहित हैं। तथापि, यद्यपि यह दांडिक न्याय की आवश्यक विशिष्टता है, असाधारण (आपवादिक) परिस्थितियों में विचारण बंद कमरे में किए जाने पर कोई विधिक पाबंदी नहीं है। यद्यपि हमारे देश में प्रचलित दांडिक न्याय की पद्धति में केवल खुले विचारण की पद्धति को मान्यता प्रदान की गई है और उसे स्वीकार किया गया है, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 237(2) में यथा अनुध्यात ऐसा विचारण अध्याय 18 के अन्तर्गत है जिसका शीर्षक "सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण" है जिसमें सामान्य पद्धति से छूट उपबंधित है। सुसंगत उपधारा इस प्रकार है—

> "यदि विचारण के दोनों पक्षकारों में से कोई ऐसी वांछा करता है या यदि न्यायालय ऐसा करना ठीक समझता है तो इस धारा के अधीन प्रत्येक विचारण बंद कमरे में किया जाएगा।"

293. अध्याय-24 के अधीन वर्णित "जांच और विचारण से संबंधित सामान्य उपबन्धों" के अधीन एक विनिर्दिष्ट उपबंध अर्थात् धारा 327 है जिसका शीर्षक "न्यायालयों का खुला होना" है जिसके अनुसार किसी अपराध की जांच और विचारण खुले न्यायालय में किया जाएगा जिसमें साधारण जनता प्रवेश कर सकेगी। तथापि, परन्तुक के अधीन पीठासीन न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट को साधारणत: जनता को अथवा विशिष्टत: किसी व्यक्ति को उस कमरे या भवन में जिसका उपयोग न्यायालय द्वारा किया जा रहा है प्रवेश करने अथवा उसमें को विनियमित करने का विवेकाधिकार दिया गया है। धारा 327(2) के अधीन खुले न्यायालय विचारण को छूट प्रदान की गई है जोकि इस प्रकार है—

> "उपधारा (1) में दी गई किसी बात के होते हुए भी बलात्संग या भारतीय दण्ड संहिता, 1860 (1860 का 45) की धारा 376 के अधीन अपराध, धारा 376-क, धारा 376-ख, धारा 376-ग या धारा 376-घ के अधीन किसी अपराध से संबंधित जांच या विचारण बन्द कमरे में किया जाएगा :
>
> परंतु यदि पीठासीन न्यायाधीश ठीक समझता है या किसी पक्षकार द्वारा किए गए आवेदन पर किसी विशिष्ट व्यक्ति को उस कमरे या भवन जिसका उपयोग न्यायालय द्वारा किया जा रहा है में प्रवेश करने या उसमें रहने के लिए अनुज्ञात कर सकता है।"

294. हम यह महसूस करते हैं कि धारा 16 (1) को चुनौती दिए जाने की बाबत किसी प्रकार की विस्तृत चर्चा की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 1993 के संशोधन अधिनियम

1994(3) eILR(PAT) SC 1

सं० 43 द्वारा प्रधान अधिनियम की मूल धारा 16 (1) में एक नवीन उपधारा प्रतिस्थापित की गई है जोकि इस प्रकार है—

> "संहिता में किसी बात के होते हुए भी, इस अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां बन्द कमरे में की जा सकेंगी यदि अभिहित न्यायालय की ऐसी वांछा है।"

295. इस नवीन प्रतिस्थापित उपधारा द्वारा अब अभिहित न्यायालय को कार्यवाही बन्द कमरे में करने या न करने का विवेकाधिकार प्रदान किया गया है।

296. काउंसेल ने आगे यह भी कहा कि धारा 16 की शेष उपधाराओं में इस धारा की उपधारा (1) को छोड़कर न्यायालय को प्रतिरक्षा से साक्षियों के नाम और पते छिपाए रखने के लिए सशक्त किया गया है जिसके बिना अभियुक्त अपनी प्रतिरक्षा तैयार नहीं कर सकता अथवा विचारण के समय अपनी सफलतापूर्वक प्रतिरक्षा नहीं कर सकता है। उनके अनुसार प्रतिपरीक्षा का उद्देश्य ऐसी परिस्थितियों में व्यर्थ और निष्फल बन जाता है। अपनी दलील को जारी रखते हुए उसने यह निवेदन किया कि 1987 के अधिनियम की धारा 16 (2) और (3) अभिहित न्यायालय को साक्षियों की पहचान और पते गुप्त रखने के उपाय करने और यह सुनिश्चित किए जाने के लिए निदेश जारी करने के लिए सशक्त बनाती है कि उनकी पहचान खोली नहीं जाएगी और यह कि ये उपबंध "टाडा" के उपबंधों के अधीन विचारण को तमाशा बनाते हैं।

297. श्री तारकुण्डे ने यह कहा कि यह सत्य है कि कुछ मामलों में साक्षियों की सुरक्षा के लिए उनकी पहचान को प्रकट न किया जाना आवश्यक है, तथापि साथ ही साक्षियों की प्रतिपरीक्षा इससे काफी हद तक प्रभावी नहीं बन पाएगी यदि उनकी पहचान अभियुक्त और उसके काउंसेल को कराई नहीं जाती है। उसने यह कहा कि उचित मार्ग यह होगा कि जब अभिहित न्यायालय को यह लगे कि साक्षियों की पहचान निरापद रूप में प्रकट नहीं की जा सकती, तो विचारण बन्द कर दिया जाएगा और अभियुक्त को, यदि प्राधिकारी ऐसा विनिश्चय करता है, निवारक निरोध विधि के अधीन निरुद्ध किया जा सकेगा।

298. धारा 16 की उपधारा (2) से संबंधित दलीलों के प्रति निर्देश करते हुए विद्वान अपर महासालिसिटर द्वारा यह कहा गया कि विधानमण्डल ने आतंकवादी क्षेत्रों जहां साक्षी आतंकवाद के साये में जीते हैं और बदले या प्रतिशोध के भय के कारण आतंकवादियों के विरुद्ध न्यायालय में अभिसाक्ष्य देने से कतराते हैं में विद्यमान स्थिति की आवश्यकताओं को दृष्टिगत करते हुए मात्र ऋजु विचारण और अभियुक्त द्वारा प्रभावी रूप में अपनी प्रतिरक्षा करने के अधिकार को विनियमित किया है। यह कहते हुए कि प्रतिपरीक्षा का अधिकार न तो आत्यंतिक है और न ही यह सांविधानिक अधिकार है, विद्वान अपर महासालिसिटर के **गुरुबचन सिंह** बनाम **बाम्बे राज्य**[1], **हीरानाथ मिश्र** बनाम **राजेन्द्र मेडीकल कालिज**[2], उपर्युक्त **ए० के० राय**[3], **रसैल** बनाम **ड्यूक ऑफ नारफॉल्क**[4] और **बायरन** बनाम

---

[1] [1952] एस० सी० आर० 737-743.

[2] (1973) 1 एस० सी० सी० 805.

[3] [1982] 2 एस० सी० आर० 272-293.

[4] 1949 (1) ऑल इ० आर० 109.

किनेमाटोग्राफ रेन्टर्स सोसाइटी लिमिटेड[1] वाले मामलों का अवलम्ब लिया। उसके अनुसार, अभियुक्त व्यक्ति को पहले लगाए गए अभियोग की प्रकृति जाननी चाहिए और दूसरे उसे अपना पक्षकथन प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाना चाहिए और तीसरे यह कि अधिकरण को यह समझते हुए कि इससे अधिक कुछ नहीं है सद्भाविक रूप से कार्य करना चाहिए।

299. धारा 16(2) और (3) के अभिप्राय पर चर्चा करने से पूर्व हम उपर्युक्त **विमल कौर**[2] वाले मामले के विनिश्चय के प्रति निर्देश करना चाहते हैं जिसमें साक्षियों की पहचान से संबंधित समरूप प्रश्न की पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ द्वारा परीक्षा की गई और जिसे यह अभिनिर्धारित करते हुए नामंजूर कर दिया गया कि धारा 16 (2) के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें ऐसी प्रक्रिया दी गई है जिसे अयुक्तियुक्त, अन्यायसंगत अथवा ऋजु माना जाए। तथापि, इस निष्कर्ष के होते हुए भी, उच्च न्यायालय ने यह मताभिव्यक्ति की कि विचारण प्रारंभ होने से काफी पहले साक्षियों की पहचान प्रकट कर दी जानी चाहिए।

300. दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन चाहे सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण हो या मजिस्ट्रेट द्वारा वारण्ट मामलों से संबंधित ऐसे विनिर्दिष्ट उपबंध हैं जिनमें संहिता की धारा 244 और धारा 273, 275 और 276 के अधीन यथा अनुध्यात अभियुक्त द्वारा किसी साक्षी की प्रतिपरीक्षा के अधिकार के साथ साक्ष्य अभिलिखित किए जाने की रीति विहित की गई है। सेशन विचारण और वारण्ट मामलों के विचारण दोनों के अधीन अभियुक्त को धारा 231(2) और धारा 242 की उपधारा (3) के परंतुक के अधीन आगे प्रतिपरीक्षा के लिए किसी साक्षी की प्रतिपरीक्षा आस्थगित करने या किसी साक्षी को पुनः बुलाने का विवेकाधिकार प्रदान किया गया है।

301. साक्ष्य अधिनियम की धारा 137 में प्रतिपरीक्षा परिभाषित है और धारा 145 में दस्तावेजों और मौखिक साक्ष्य से संबंधित प्रतिपरीक्षा की रीति उपबंधित है। विधिशास्त्र के अनुसार किसी साक्षी द्वारा मुख्य परीक्षा में शपथ पर किए गए कथन की सचाई की वास्तविक परख करना प्रतिपरीक्षा है जिसके उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(1) उसके विरोधी के साक्षी के साक्षियक मूल्य को विनष्ट करना या उसे कमजोर करना;

(2) विरोधी पक्षकार के साक्षी के मुख से प्रतिपरीक्षा करने वाले वकील के मुवक्किल के पक्ष में तथ्य निकालना;

(3) उक्त साक्षी के विश्वास को चुनौती देकर यह दर्शित करना कि साक्षी पर विश्वास नहीं किया जा सकता है।

और प्रतिपरीक्षा के दौरान पूछे जाने वाले प्रश्नों से उसकी सत्यनिष्ठा की परीक्षा करना, यह पता लगाना कि वह कौन है और जीवन में उसकी स्थिति क्या है और उसके चरित्र को क्षतिग्रस्त करके उसके विश्वास को हिलाना है।

---

[1] 1958 (2) ऑल इ० आर० 579.

[2] ए० आई० आर० 1988 पंजाब-हरियाणा 95.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

302. उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साक्षी की पहचान मामलों के साधारण विचारण में आवश्यक है और सामने पूछताछ करने का अधिकार एक मूल प्रत्याभूति है ताकि वह किसी मिथ्या और गढ़े गए साक्ष्य जो कि विरोधी पक्षकार द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है का शिकार होने से अपनी रक्षा कर सके।

303. इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन प्रतिपरीक्षा के अधिकार का हरण नहीं किया जाता है अपितु साक्षियों की पहचान और पते प्रकट नहीं किए जाते हैं। धारा 16 की उपधारा (2) और (3) को चुनौती देते हुए काउंसेल ने यह दलील दी कि साक्षियों की पहचान, नाम और पते छिपाए रखना या उन्हें प्रकट न किए जाने की बाबत किसी प्रकार का निदेश जारी किए जाने से अभियुक्त का ऋजु विचारण नहीं होगा जिसके लिए वह अन्यथा विधिसम्मत रूप से हकदार है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि सामान्य अनुक्रम में, यह कठिनाई उद्भूत नहीं होती है। वास्तव में जब उन दस्तावेजों की प्रतियां जिनका अभियोजन पक्ष अवलंब लेना चाहता है संहिता की धारा 173 के अधीन साक्ष्य के ज्ञापन के साथ प्रदान की जाती हैं, तो उसे साक्षियों के नाम और पते बताए जाते हैं।

304. साक्ष्य अधिनियम के उपबंधों और संहिता के अधीन विहित प्रक्रिया के होते हुए भी, यदि असाधारण परिस्थितियों या आवश्यक स्थितियों को दृष्टिगत करते हुए कुछ साक्षियों की पहचान और पते इस प्रकार प्रकट न किया जाना आवश्यक है तो साक्षी की पहचान और पते को गुप्त रखने के विरुद्ध किसी प्रकार के सांविधानिक अथवा कानूनी अवरोधों का अधिरोपण नहीं किया जाएगा।

305. कुछ स्थानीय विधियों में भी ऐसे कुछ उपबंध हैं अर्थात् मुम्बई पुलिस अधिनियम, 1951 की धारा 56 जिसकी विधिमान्यता का इस न्यायालय द्वारा अनुमोदन किया गया और विचाराधीन प्रश्न से संबंधित विभिन्न विनिश्चयों में मताभिव्यक्तियां की गई।

306. इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ ने मुम्बई पुलिस अधिनियम, 1902 की धारा 27(1) की सांविधानिक विधिमान्यता की परीक्षा करते हुए (यह उपबंध मुम्बई पुलिस अधिनियम, 1951 की धारा 56 के अनुरूप है) उपर्युक्त **गुरुवचन सिंह बनाम बॉम्बे राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में उन साक्षियों की जिन्होंने उसके विरुद्ध साक्ष्य दिया और जिसके साक्ष्य पर निर्वासन की कार्यवाही प्रारंभ की गई की पहचान और पते प्रकट न किए जाने की बाबत अपना यह निष्कर्ष निकाला :

> "......हमारी राय में विधानमण्डल की अधिनियमिति बनाने के प्रकट आशय को देखते हुए इससे प्रक्रिया अयुक्तियुक्त नहीं बन जाएगी। यह विधि निश्चित ही असाधारण विधि है और इसे उन आपवादिक मामलों को मात्र पूरा करने के लिए बनाया गया है जहां कोई साक्षी अपने जीवन या संपत्ति के खतरे के भय से उन कतिपय गलत चरित्र वाले व्यक्तियों जिनकी उपस्थिति कतिपय क्षेत्रों में उनमें निवास करने वालों की सुरक्षा के लिए खतरा है, के विरुद्ध सार्वजनिक रूप से अभिसाक्ष्य देने को तैयार नहीं है। यदि उन साक्षियों से पूछताछ करने या उनकी प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार संदिग्ध व्यक्ति को दिया जाता है तो यह उद्देश्य विफल हो जाएगा...।"

[1] 1952 एस० सी० आर० 737.

307. उपर्युक्त **हीरानाथ मिश्र और अन्य बनाम प्रधानाचार्य, राजेन्द्र मेडिकल कालेज, रांची और एक अन्य**[1] वाले मामले में महाविद्यालय के बालिका छात्रावास में निवास करने वाली कुछ छात्राओं ने यह अभिकथन करते हुए शिकायत की कि अपीलार्थी कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ काफी रात गए बालिका छात्रावास के परिसर में घुसे थे और वे नंगे थे। इस अभिकथन से संबंधित एक जांच समिति गठित की गई और इस समिति ने कुछ छात्राओं के कथन तो अभिलिखित किए किंतु अपीलार्थियों के सामने नहीं और अंत में इसकी यह राय थी कि छात्रों को भयोपरापी दंड दिया जाए और उसने छात्रों के छात्रावास से निष्कासन की सिफारिश की। अपीलार्थी-छात्रों ने बहुत से आधारों पर आदेश को चुनौती दी जिनमें मुख्य दलील यह थी कि आदेश पारित किए जाने से पूर्व नैसर्गिक न्याय के नियमों का अनुसरण नहीं किया गया था क्योंकि जांच पीठ पीछे की गई थी, साक्षियों जिन्होंने उनके विरुद्ध साक्ष्य दिया कि उनके सामने परीक्षा नहीं की गई थी और साक्षियों की सत्यनिष्ठा की जांच करने की दृष्टि से भी उनकी प्रतिपरीक्षा करने का अवसर प्रदान नहीं किया गया था। इस दलील को नामंजूर करते हुए इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :—

> "इस कारण से कि छात्राओं की परीक्षा अपीलार्थियों के सामने न की जाए प्राधिकारियों ने उन्हें रिपोर्ट की प्रति प्रदान नहीं की। ऐसा किया जाना गलत था ········नैसर्गिक न्याय के नियम सभी दशाओं में लागू किए जाने के लिए समरूप नहीं रहते। हमें मालूम है कि भारत में गुण्डा अधिनियम सरीखे कानून हैं जिनमें गुण्डों के पीठ पीछे साक्ष्य लिया जा सकता है और गुण्डों से इस लिए गए साक्ष्य से उद्भूत मुख्य आरोपों के विरुद्ध मात्र अभ्यावेदन करने के लिए कहा जा सकता है। यह ध्यान रखने की बाबत सावधानी बरती जाती है कि जिन साक्षियों के कथन लिए जाते हैं उनकी पहचान खोली नहीं जाएगी। ऐसे मामलों में साक्षियों को बुलाने और गुण्डा को उसके द्वारा साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करने का अवसर दिए जाने का कोई प्रश्न ही नहीं है। कारण स्पष्ट है। कोई भी साक्षी गुण्डा के सामने साक्ष्य देने के लिए तैयार नहीं होगा। तथापि, हो सकता है कि यह प्रक्रिया न्यायिक विवेक के विरुद्ध प्रतीत हो, यह जीवन की सच्चाई है जिससे मुंह नहीं मोड़ा जा सकता है।"

308. इस संबंध में मुख्य न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने उपर्युक्त **ए० के० राय**[2] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह मताभिव्यक्ति की :—

> "············चाहे कुछ भी सही, संसद् ने राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम में ऐसा कोई उपबंध नहीं किया है जिसके अधीन निरुद्ध व्यक्ति प्रतिपरीक्षा के अधिकार का दावा कर सके। बात यहीं समाप्त हो जाती है।
>
> अतः हमारी यह राय है कि सलाहकार बोर्ड के समक्ष कार्यवाहियों में निरुद्ध व्यक्ति को उन व्यक्तियों की प्रतिपरीक्षा करने का कोई अधिकार नहीं है जिनके कथन के आधार पर निरोध किया गया अथवा निरोध प्राधिकारी की।"

---

[1] 1973 (1) एस० सी० सी० 805.

[2] 1982 (2) एस० सी० आर० 272-293.

309. 1987 के अधिनियम की धारा 16(2) के अधीन अभिहित न्यायालय को इन तीन आकस्मिकताओं के आधार पर किसी साक्षी की पहचान और पते गोपनीय रखने का केवल विवेकाधिकार प्रदान किया गया है :—

1. अपने समक्ष किसी कार्यवाही में किसी साक्षी द्वारा किए गए आवेदन पर ; या

2. ऐसे साक्षी के संबंध में लोक अभियोजक द्वारा आवेदन किए जाने पर ; या

3. या स्वप्रेरणा से

310. उपधारा (3) में अभिहित न्यायालय द्वारा उपधारा (2) के अधीन अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए अपनाए जाने वाले उपायों का वर्गीकरण है। यदि साक्षी या लोक अभियोजक इस बाबत आवेदन नहीं करते हैं और न ही न्यायालय अपने आप कोई विनिश्चय करता है, तब साक्षियों की पहचान और पते अभियुक्त को बताए जाएंगे। ये उपाय अभिहित न्यायालय द्वारा उपर्युक्त किसी भी आकस्मिकता के अधीन किए जाने चाहिए ताकि किसी साक्षी या साक्षीगण को अभियुक्त के विरुद्ध बोलने के कारण तंग किया जा सके।

311. साधारणतः जब अभियुक्त व्यक्ति बदमाश होते हैं, तो साक्षी इन अभियुक्तों द्वारा तंग किए जाने के भय से ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध अभिसाक्ष्य देने को तैयार नहीं होते हैं। इस अधिनियम के अधीन विचारण किए जाने वाले व्यक्ति आतंकवादी और विध्वंसकारी होते हैं। अतः साक्षी अपने जीवन को खतरे के कारण अभिसाक्ष्य देने को तैयार नहीं होते हैं। संसद् ने इन असाधारण परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह उपयुक्त समझा कि उपर्युक्त किसी भी आकस्मिकता में साक्षियों की पहचान और पते प्रकट न किए जाएं।

312. इस संदर्भ में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 228-क के प्रति निर्देश किया जा सकता है जिसके अनुसार इस धारा की उपधारा (1) के अधीन यथाअनुध्यात कतिपय मामलों के शिकार व्यक्तियों की पहचान प्रकट किया जाना दंडनीय तो है परंतु यह उपधारा (2) के अधीन। तथापि, जब साक्षियों की अभियुक्त के सामने परीक्षा की जाती है, तब अभियुक्त को साक्षियों की पहचान की बाबत जानकारी का अवसर प्राप्त हो सकता है यदि प्रतिरक्षा पक्ष को उनकी पहले से जानकारी है। किंतु, यदि प्रतिरक्षा पक्ष को साक्षियों की जानकारी नहीं है, तब साक्षियों की पहचान की जानकारी होना संभव नहीं होगा भले ही वे कठघरे में क्यों न खड़े हों। साक्षियों की मुख्य परीक्षा के पश्चात् विचारण के दौरान अभियुक्त को प्रतिपरीक्षा अस्थगित करने और साक्षियों को प्रतिपरीक्षा के लिए किसी अन्य दिन बुलाने का अधिकार है। यदि साक्षी अभियुक्त को जानते हैं, तो वे ऐसी परिस्थितियों में प्रतिपरीक्षा के समय प्रतिपरीक्षा करने के लिए सामग्री एकत्रित कर सकते हैं। साक्षियों को प्रकट न किए जाने के चाहे जो भी कारण हों, तथ्य यह है कि अभियुक्त व्यक्ति इस अधिनियम जिसमें कड़े दण्ड का उपबंध है के अधीन विचारण किए जाने से साक्षियों की प्रभावीरूप से प्रतिपरीक्षा करने और उनके पूर्व आचरण और चरित्र को अनावृत करने की सुविधा से वंचित रहेंगे।

313. अतः, प्रतिपरीक्षा के प्रयोजन और उद्देश्य को सुनिश्चित करने के लिए हम

यह महसूस करते हैं कि जैसा कि उपर्युक्त **विमल कौर**[1] वाले मामले में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने कहा कि साक्षियों की पहचान, नाम और पते विचारण प्रारंभ किए जाने से पूर्व प्रकट किए जा सकते हैं तथापि हम यह मताभिव्यक्ति करते हुए यह और जोड़ देना चाहते हैं कि यह इस अपवाद के अध्यधीन किया जाना चाहिए कि न्यायालय विशेष कारणों से अपनी बुद्धिमता में इस बाबत विनिश्चय कर सकता है कि साक्षियों विशेषकर उन वास्तविक साक्षियों की पहचान और पते जिनके जीवन को खतरा है प्रकट न किए जाएं।

1987 के अधिनियम की धारा 19

314. इस धारा में यह उपबंधित है कि संहिता में किसी बात के होते हुए भी, अभिहित न्यायालय के ऐसे निर्णय, दंडादेश या आदेश से, जो अंतर्वर्ती आदेश नहीं है, अपील उच्चतम न्यायालय में, तथ्यों और विधि, दोनों के बारे में साधिकार होगी। इस धारा की उपधारा (2) से यह स्पष्ट है कि इस धारा की उपधारा (1) में यथाअनुध्यात के सिवाय, कोई अपील या पुनरीक्षण किसी न्यायालय में नहीं होगा।

315. उपर्युक्त उपबंध को इस एकमात्र आधार पर आक्षेपित किया गया है कि अपील के अधिकार के प्रदत्त किए जाने और संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इजाजत मंजूर किए जाने पर आगे उच्चतम न्यायालय में अपील का अधिकार उपचार और प्रक्रिया दोनों ही स्तर पर साधारण दण्ड विधि के उपबंधों के अधीन दोषसिद्धि की बाबत शीघ्र विचारण के रूप में कानूनी बाध्यता द्वारा छीन लिया गया है चाहे "टाडा" के अधीन अपराध के आरोप से दोषमुक्ति हुई है और पारंपरिक अपील या पुनरीक्षण के अधिकार के छीने जाने से बड़ी कठिनाई होगी और इससे व्यक्ति को भारी व्यय भी उपगत करना पड़ेगा विशेषकर उन लोगों को जो उच्चतम न्यायालय के अवस्थान से बाहर हैं।

316. उपर्युक्त दलील का अपर महासालिसिटर द्वारा पुरजोर विरोध किया गया। उसने तथ्य और विधि दोनों के आधार पर पारंपरिक अपील और पुनरीक्षण न्यायालयों में समावेदन किए बिना सीधे उच्चतम न्यायालय में साधिकार अपील किए जाने की विशिष्ट प्रक्रिया की प्रशंसा की और यह दलील दी कि अपील की यह प्रक्रिया अभिहित न्यायालय द्वारा विचारण किए जाने वाले व्यक्ति के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण और लाभप्रद है और इसका घोषित उद्देश्य "शीघ्र विचारण" के सिद्धांत के अनुरूप है। उसने आगे कहा कि अपीलों के न्यायनिर्णयन की यह प्रक्रिया बहुत ही सस्ती, शीघ्र, प्रक्रिया की दृष्टि से सरलतर और अन्य पारंपरिक प्रक्रिया की अपेक्षा कम औपचारिक है। अपर महासालिटर ने **सैयद कासिम रिजवी बनाम हैदराबाद राज्य**[2] और **राज्य (दिल्ली प्रशासन) बनाम बी० सी० शुक्ल**[3] वाले मामलों में के विनिश्चयों में अधिकथित सिद्धांत का अवलंब लेते हुए यह दलील दी कि "टाडा" अधिनियम द्वारा विहित अपील की प्रक्रिया की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि मात्र इस आधार पर कि दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन उपबंधित अपील के

---

[1] ए० आई० आर० 1988 पंजाब-हरियाणा 95.

[2] 1953 एस० सी० आर० 589.

[3] [1981] 2 उम० नि० प० 1=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1382.

अधिकार का हरण नहीं किया जा सकता है अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा या यह उसके लिए कम लाभप्रद है।

317. इस प्रश्न के सिवाय कि क्या इस उपबंध में अत्यधिक विलंब अपरिहार्य है या इसे अपवर्जित किया गया है निर्विवाद सत्य यह है कि अपीलों के निपटारे का सामान्य तरीका यह है कि उच्चतम न्यायालय दूरी, व्यय आदि के तथ्य पर विचार करते हुए साधारण व्यक्ति की पहुंच से बाहर है। अभिहित न्यायालय द्वारा प्रमुखतया "टाडा" के उपबंधों या "टाडा" और साधारण दण्ड विधि दोनों के उपबंधों के अधीन सुनाए गए निर्णय, पारित दंडादेश या किए गए किसी निर्णय के विरुद्ध इस अधिनियम की धारा 19 के अधीन सीधे उच्चतम न्यायालय में अपील का अधिकार है। किंतु ऐसे किसी मामले में जहां विचारण "टाडा', और साधारण या सामान्य विधि दोनों के उपबंधों के अधीन आरोपों से संबंधित है किसी व्यक्ति को केवल उच्चतम न्यायालय में अपील किए जाने के लिए बाध्य करना बिल्कुल अयुक्तियुक्त होगा जिसमें विचारण 'टाडा' और साधारण या सामान्य दण्ड विधि दोनों के उपबंधों के अधीन आरोपों के लिए की गई और "टाडा" के अधीन दंडनीय अपराधों के विचारण में तो दोष-मुक्ति हुई किंतु सामान्य विधि के शास्तिक उपबंधों के अधीन अपराधों में दोषसिद्धि हुई।

318. हमें अभिहित न्यायालय द्वारा पारित निर्णय, दण्डादेश या आदेश द्वारा व्यथित किसी व्यक्ति को साधारण दंड विधि के अधीन सीधे उच्चतम न्यायालय में अपील करने के लिए बाध्य किए जाने के सिवाय उसके लिए किसी प्रकार का विकल्प उपबंधित करने में किसी प्रकार की तर्कसंगति या संतोषजनक सोच दिखाई नहीं देती है क्योंकि ऐसे मामले में व्यथित व्यक्ति प्रथमतः उच्च न्यायालय में अपील के अधिकार और द्वितीयतः संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने की सुविधा से वंचित रहेगा। यदि "टाडा" से भिन्न किसी दण्ड विधि के अधीन पारित निर्णय और आदेश से व्यथित ऐसे किसी भी व्यक्ति को जो देश के दूरस्थ क्षेत्रों में निवास करते हैं उच्चतम न्यायालय में समा-वेदन करना पड़ेगा जिनमें से ऐसे बहुत से व्यक्ति जो वित्तीय अभावों से ग्रस्त हैं अपील पसंद न करके इस कारण अनिश्चितकाल तक जेल में सड़ते रहेंगे। ऐसी स्थिति में जैसा कि काउंसेल ने कहा कानूनी बाध्यता वश ऐसा व्यक्ति न केवल ऋजु व्यवहार और न्याय से वंचित रहेगा अपितु इससे असामान्य प्रक्रिया के किसी अन्य विधिमान्य कारण के न होने पर दण्ड विधि प्रणाली का घोषित उद्देश्य भी विफल हो जाएगा।

319. इस असुविधा और व्यावहारिक कठिनाई जिसका व्यथित व्यक्ति को सामना करना पड़ता है से बचा जा सकता है यदि ऐसे व्यक्ति को जिसका विचारण अभिहित न्यायालय द्वारा "टाडा" के अधीन आरोपों के लिए किया गया और जिसे अन्य शास्तिक उपबंधों के अधीन सिद्धदोष घोषित किया गया और जिसे "टाडा" के उपबंधों के अधीन अपराधों से तो दोषमुक्त कर दिया गया दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन यथाउपबंधित अगले अपील न्यायालय में अपील करने का अधिकार दिया जाता है और यदि राज्य "टाडा" के उपबंधों के अधीन अपराध से दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील करता है, तब वह ऐसे व्यक्ति द्वारा उच्चतम न्यायालय में की गई यथास्थिति अपील या पुनरीक्षण को वापस लेने के लिए उच्चतम न्यायालय में समावेदन कर सकता है ताकि दोनों मामलों की एक साथ सुनवाई हो सके।

320. हमने अपील उपबंधों के अधीन व्यथित व्यक्तियों द्वारा सामना की जानें वाली व्यावहारिक कठिनाई और इसे किस प्रकार दूर किया जा सकता है का उल्लेख किया ताकि संसद् इनकी अवेक्षा कर सके और अपील उपबंधों में आवश्यक संशोधन करके प्रतितोष के उपयुक्त तरीके खोजे जा सकें। तथापि, इससे यह अभिप्रेत नहीं कि विद्यमान अपील उपबंध सांविधानिकतः अविधिमान्य हैं।

1987 के अधिनियम की धारा 20

321. दोनों पक्षकारों द्वारा अधिनियम की धारा 20 की उपधारा 3, 4, 7 और विशिष्टतः उपधारा (8) की व्याप्ति से संबंधित बड़ी गंभीर और तीखी दलीलें जो कभी-कभी भावनाओं से ओतप्रोत थीं दी गईं जिनकी बाबत गहन, सुस्पष्ट और निष्पक्ष विवेचन और चर्चा की आवश्यकता है। चूंकि प्रत्येक उपधारा में अंतर्वलित प्रत्येक विवाद्यक इतना महत्त्वपूर्ण है कि पक्षकार लगभग असमंजस की स्थिति में फंस गए हैं और इसलिए ज्वलंत विवाद्यकों विशेषकर जमानत मंजूर किए जाने से संबंधित की वस्तुनिष्ठ रूप में और निष्पक्षतापूर्वक परीक्षा करना अपरिहार्य हो गया है।

322. अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (3) इस प्रकार है :—

> "संहिता की धारा 164, ऐसे किसी मामले के संबंध में जिसमें इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय अपराध अंतर्वलित है, इस उपांतरण के अधीन रहते हुए लागू होगी कि उसकी उपधारा (1) में "महानगर मजिस्ट्रेट या न्यायिक मजिस्ट्रेट" के प्रति निर्देश का यह अर्थ लगाया जाएगा कि वह "महानगर मजिस्ट्रेट, न्यायिक मजिस्ट्रेट, कार्यपालक मजिस्ट्रेट या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट" के प्रति निर्देश है।"

323. उपर्युक्त उपधारा को बेहतर ढंग से समझने के लिए, हम धारा 164 की उपधारा (1) को पुनः उद्धृत करेंगे जोकि इस प्रकार है :—

> "164. संस्वीकृतियों और कथनों को अभिलिखित करना—(1) कोई महानगर मजिस्ट्रेट या न्यायिक मजिस्ट्रेट, चाहे उसे मामले में अधिकारिता हो या न हो, इस अध्याय के अधीन या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन किसी अन्वेषण के दौरान या तत्पश्चात् जांच या विचारण प्रारंभ होने के पूर्व किसी समय अपने से की गई किसी संस्वीकृति या कथन को अभिलिखित कर सकता है।"

324. इन दोनों उपधाराओं के साथ-साथ वाचन से यह दर्शित है कि संहिता की धारा 164 (1) को ऐसे मामले के संबंध में जिसमें "टाडा" या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दण्डनीय कोई अपराध अंतर्वलित है सारभूत रूप से लागू किया गया है। किंतु उपांतरण केवल उन न्यायिक मजिस्ट्रेटों से संबंधित है जो अध्याय-12 या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन अन्वेषण के दौरान उसके समक्ष की गई किसी संस्वीकृति या कथन को अभिलिखित करने के लिए सशक्त हैं अर्थात् "मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट" और "न्यायिक मजिस्ट्रेट" अभिव्यक्तियों का अर्थान्वयन मेट्रोपौलिटन मजिस्ट्रेट, न्यायिक मजिस्ट्रेट, कार्यपालक मजिस्ट्रेट या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट के प्रति निर्देश के रूप में किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, कार्यपालक मजिस्ट्रेट और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट को मैट्रोपो-

लिटन मजिस्ट्रेट और न्यायिक मजिस्ट्रेट के साथ सम्मिलित किया गया है और वे सब संस्वीकृति या कथन अभिलिखित करने के लिए सशक्त हैं।

325. संहिता की धारा 3 में "मजिस्ट्रेट", "द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट" "प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट" और "मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट" शब्दों के प्रति निर्देश के अर्थान्वियन की चर्चा है। संहिता की धारा 6 के अधीन अनुध्यात दण्ड न्यायालयों के वर्ग इस प्रकार हैं :—

> "6. दण्ड न्यायालयों के वर्ग—उच्च न्यायालयों और इस संहिता से भिन्न किसी विधि के अधीन गठित न्यायालय के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में निम्नलिखित वर्गों के दण्ड न्यायालय होंगे, अर्थात्—
>
> (i) ....
>
> (ii) ....
>
> (iii) ....
>
> (iv) कार्यपालक मजिस्ट्रेट"

326. संहिता की धारा 20 (1) राज्य सरकार को प्रत्येक जिले और प्रत्येक महानगर क्षेत्र में उतने व्यक्तियों को जितने वह उचित समझे, कार्यपालक मजिस्ट्रेट नियुक्त करने और उनमें से एक को जिला मजिस्ट्रेट नियुक्त करने के लिए सशक्त बनाती है। संहिता की धारा 20 (4) में राज्य सरकार को किसी कार्यपालक मजिस्ट्रेट को किसी उपखंड का भारसाधक बनाने के लिए सशक्त बनाया गया है और उपखण्ड का भारसाधक बनाया गया मजिस्ट्रेट उपखण्ड मजिस्ट्रेट कहलाएगा। धारा 21 में विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति और उनके द्वारा किए जाने वाले कृत्यों का वर्णन है। यह धारा राज्य सरकार को इतनी अवधि के लिए जो वह उपयुक्त समझे कार्यपालक मजिस्ट्रेट नियुक्त करने के लिए जो किसी विशिष्ट क्षेत्र के लिए या विशिष्ट कृत्य का पालन करने के लिए कार्यपालक मजिस्ट्रेट कहलाएगा सशक्त बनाती है और वह ऐसे विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट को इस संहिता के अधीन कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को प्रदत्त की जा सकने वाली शक्तियों में से ऐसी शक्तियां जिसे वह उचित समझे प्रदत्त कर सकती है।

327. विद्वान् काउन्सेल की दलील यह है कि कार्यपालक मजिस्ट्रेट या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट का कोई संस्वीकृति या कथन अभिलिखित करने के लिए सम्मिलित किया जाना इस गलत हेतु से किया गया है ताकि संस्वीकृति या कथन को अभिलिखित करके साक्ष्य में ग्रहण किया जा सके चाहे ऐसी संस्वीकृति या कथन स्वेच्छया न किया जाकर प्रपीड़न या प्रलोभन से उद्दापित किया गया है। उनके अनुसार इन दोनों मजिस्ट्रेटों को सशक्त बनाया जाना संविधान के अनुच्छेद 50 में प्रतिपादित कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण के सिद्धांत के विरुद्ध है और इसलिए, यह उपबंध संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 के अधीन दोषपूर्ण है। आगे यह भी कहा गया कि नए-नए जोड़े गए गैर-न्यायिक प्राधिकारियों को जिनसे न्यायिक निष्पक्षता और स्वतंत्रता की आशा नहीं की जा सकती है न्यायिक कृत्यों का प्रदत्त किया जाना संविधान के अनुच्छेद 50 में दिए गए अभिशासन के मूल सिद्धांत के पूर्णतया विरुद्ध है।

328. अब हम उपर्युक्त दलील की परीक्षा करेंगे।

329. जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को भी प्रत्येक राज्य में दण्ड न्यायालयों के एक वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। पुनरीक्षित ढांचा और मजिस्ट्रेटों के दो प्रवर्गों, उच्च न्यायालय के नियंत्रणाधीन न्यायिक और राज्य सरकार के नियंत्रण के अधीन कार्यपालिक, के मध्य मजिस्ट्रेट के कृत्यों का आबंटन जो कि नवीन संहिता में उपबंधित है अखिल भारतीय स्तर पर कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण की सामान्य स्कीम के अनुसार किया गया है। कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को आगे स्पष्टतया इस कारण वर्गीकृत नहीं किया गया है कि नवीन संहिता के अधीन कार्यपालक मजिस्ट्रेटों द्वारा पालन किए जाने वाले न्यायिक कृत्य बहुत कम हैं। सामान्यतः न्यायिक प्रकृति के कृत्यों का पालन न्यायिक मजिस्ट्रेटों द्वारा किया जाता है और पुलिस तथा प्रशासकीय प्रकृति के कृत्यों का पालन कार्यपालक मजिस्ट्रेटों द्वारा जैसा कि धारा 3 की उपधारा (4) में दिए गए अर्थान्वयन के नियमों से स्पष्ट है। चूंकि धारा 6 के अनुसार कार्यपालक मजिस्ट्रेटों के न्यायालयों को दण्ड न्यायालयों का एक वर्ग माना गया है यह माना जाना चाहिए कि यह दण्ड न्यायालय के रूप में कार्य करते हैं। कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को सम्मिलित करते हुए दण्ड न्यायालयों द्वारा पारित आदेशों का "न्यायिक कार्यवाहियों में पारित किए गए आदेशों की भांति पुनरीक्षण किया जा सकता है। (**सुब्रह्मण्यम बनाम पुलिस आयुक्त**[1] वाला मामला दृष्टव्य है)। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया कार्यपालक मजिस्ट्रेटों के न्यायालयों का कोई वर्गीकरण या उन्हें ग्रेड नहीं दिया गया है तथापि विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट वह व्यक्ति है जिसे राज्य सरकार द्वारा किसी विशिष्ट क्षेत्र के लिए या विशिष्ट कृत्यों के प्रयोजनार्थ नियुक्त किया जाता है।

330. संहिता के अधीन, कार्यपालक मजिस्ट्रेटों और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को कतिपय कृत्यों के पालन के लिए सशक्त किया गया है जिनमें से कुछ "न्यायिक या अर्द्ध न्यायिक" प्रकृति के हैं। इसके अतिरिक्त वे अपनी कार्यपालिक हैसियत में कानूनी कृत्य भी करते हैं। धारा 22, 23, 40, 44, 78, 79, 80, 81 और 93 आदि के प्रति भी निर्देश किया जा सकता है। उपर्युक्त के अलावा, कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को दांडिक अपराधों के निवारण और उनसे संबंधित अन्वेषण और विचारण किए जाने के महत्वपूर्ण कृत्य भी सौंपे गए हैं। धारा 107, 108, 109, 110, 133, 144, 145, 146, 174, 176 आदि के अधीन कार्यपालक मजिस्ट्रेटों और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को विभिन्न प्रकार के अर्द्ध न्यायिक और न्यायिक कृत्य भी सौंपे गए हैं। इसके अतिरिक्त, संहिता की धारा 167 की उपधारा (2क) के अधीन जिसे तारीख 18 दिसम्बर, 1878 से 1978 के अधिनियम संख्या 45 द्वारा अंतःस्थापित किया गया कार्यपालक मजिस्ट्रेट को अभियुक्त को ऐसी अभिरक्षा में जो वह उपयुक्त समझे ऐसी अवधि के लिए जो कुल मिलाकर 7 दिन से अधिक नहीं होगी अभिलिखित कारणों से निरोध के लिए प्राधिकृत करते हुए और जब अन्वेषण करने वाला पुलिस अधिकारी गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को समीपवर्ती कार्यपालक मजिस्ट्रेट के समक्ष जिसे न्यायिक मजिस्ट्रेट के उपलब्ध न होने पर न्यायिक मजिस्ट्रेट की शक्तियां प्रदान की गई हैं, प्रस्तुत करे उसके द्वारा इस प्रकार

[1] ए० आई० आर० 1964 मद्रास 185.

प्राधिकृत निरोध की कालावधि के समाप्त हो जाने पर जमानत पर छोड़े जाने के लिए भी प्राधिकृत करते हुए कतिपय न्यायिक कृत्यों के पालन के लिए भी प्राधिकृत किया गया है। पुलिस डायरी में प्रविष्टि की एक प्रति सहित अभियुक्त को ऐसे कार्यपालक मजिस्ट्रेट अग्रेषित किया जाएगा। निरोध और गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को जमानत पर छोड़े जाने के लिए प्राधिकृत करने वाले उपर्युक्त कृत्य सामान्यतः न्यायिक मजिस्ट्रेटों द्वारा अपने न्यायिक कृत्यों के निर्वहन में किए जाते हैं।

331. दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय-8 जिसमें परिशान्ति और सदाचार बनाए रखने के लिए प्रतिभूति का वर्णन है धारा 106 सेशन न्यायालय या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट के न्यायालय को धारा 106 की उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट किसी अपराध के दोषसिद्ध व्यक्ति से या ऐसे किसी अपराध को दुष्प्रेरित करने वाले व्यक्ति से प्रतिभूति लेने के लिए सशक्त बनाया गया है। संहिता की धारा 107, 108, 109 और 110 कार्यपालक मजिस्ट्रेट को प्रतिभूति कार्यवाहियों के अधीन के मामलों पर विचार करने के लिए सशक्त बनाती है। अध्याय-8 के अधीन कार्यवाहियों को धारा 273 के अधीन यथाअनुध्यात साक्ष्य लेने के ढंग के लिए संहिता की धारा 273 में एक स्पष्टीकरण जोड़ा गया—

> "इस धारा में "अभियुक्त" के अन्तर्गत ऐसा व्यक्ति भी है जिसकी बाबत अध्याय 8 के अधीन कोई कार्यवाही इस संहिता के अधीन प्रारंभ की जा चुकी है।"

332. इस संबंध में यह उल्लेख किया जा सकता है कि पुरानी संहिता की धारा 436 जोकि नवीन संहिता की धारा 398 की समनुषंगी है में 1923 के अधिनियम सं०18 द्वारा "किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति" अभिव्यक्ति प्रतिस्थापित करके कतिपय विधायी परिवर्तन किए गए ताकि संहिता की धारा 436 को प्रतिभूति कार्यवाहियों और संहिता की धारा 133, 134 और 135 के अधीन कार्यवाहियों को भी लागू न किया जा सके (उपर्युक्त **प्रवर्तन निदेशालय बनाम दीपक महाजन और एक अन्य**[1] वाला मामला दृष्टव्य है)।

333. अतः, मात्र इस कारण कि कार्यपालक मजिस्ट्रेटों और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को संहिता की धारा 164 (1) में अन्य न्यायिक मजिस्ट्रेटों के साथ सम्मिलित किया गया है और "टाडा" के अधीन मामले के संबंध में संस्वीकृति अभिलिखित करने के प्राधिकार से सशक्त बनाया गया है, यह नहीं कहा जा सकता कि यह आपराधिक विधिशास्त्र के स्वीकृत सिद्धांतों के प्रतिकूल है और यह कि कार्यपालक मजिस्ट्रेट और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट दांडिक मामलों के न्यायनिर्णयन के तंत्र के क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति हैं।

334. अगला विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा संस्वीकृति या कथन अभिलिखित किए जाने का न्यायिक कृत्य प्रदान किया जाना अनुच्छेद 50 में दिए गए अभिशासन के मूल सिद्धांत के विरुद्ध है।

335. भारतीय संविधान में राज्यों में स्वतंत्र न्यायपालिका के लिए उपबंध है और अधीनस्थ न्यायपालिका की स्वतंत्रता स्थापित करने के लिए कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण के नीतिनिदेशक सिद्धांतों के अनुच्छेद 50 में उपबंध है।

---
[1] जे० टी० 1994 (1) एस० सी० 290.

336. हम, अनुच्छेद 50 में निहित व्याप्ति और मूल्य की बाबत व्यापक रूप में विचार किए बिना इस विवाद्यक तक ही सीमित रहना चाहते हैं कि क्या कार्यपालक मजिस्ट्रेट न्यायिक अधिकारी हैं।

337. हम इस न्यायालय को **स्टेट्समैन** (प्रा०) लि० बनाम **एच०आर० देव और अन्य**[1] वाले मामले में इस प्रश्न की परीक्षा करने का अवसर प्राप्त हुआ कि "न्यायिक अधिकारी" कौन है और मुख्य न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला ने संविधान न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए इसका उत्तर इस प्रकार दिया :—

> "......सभी विद्वान न्यायाधीश इस बाबत सहमत हैं कि मजिस्ट्रेट न्यायिक कृत्यों का प्रयोग करते हैं। इस बाबत किसी प्रकार का संदेह नहीं है और न ही किसी प्रकार के कारण अपेक्षित हैं। यह कि उसके कर्तव्य भागत: न्यायिक और भागत: अन्य होते हैं किसी भी प्रकार से इस बाबत इनकार नहीं किया जा सकता कि वह मजिस्ट्रेट के रूप में कार्य करते हुए न्यायिक अधिकारी है।"

338. तथापि, न्यायपीठ ने न्यायमूर्ति बनर्जी द्वारा की गई इस मताभिव्यक्ति से कि मजिस्ट्रेट के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह न्यायिक पद धारण करता है विसम्मति व्यक्त करते हुए न्यायमूर्ति बचावत द्वारा की गई इस मताभिव्यक्ति से सहमति व्यक्त की कि मजिस्ट्रेट "न्यायिक पद" धारण करता है। (**श्री हनुमान फाउण्ड्रीज** बनाम **एच० आर० देव और अन्य**[2] वाला मामला द्रष्टव्य है)।

339. अभी हाल ही में, इस न्यायालय ने **श्री कुमार पद्म प्रसाद** बनाम **भारत संघ और अन्य**[3] वाले मामले में यह मताभिव्यक्ति की :

> "न्यायिक कार्यालय" अभिव्यक्ति में सामान्यत: ऐसे अनेक प्रकार के पद सम्मिलित हो सकते हैं जो किसी न किसी रूप में न्याय के प्रशासन से सम्बद्ध हैं। दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधीन न्यायिक मजिस्ट्रेट की शक्तियां ऐसे किसी भी व्यक्ति को प्रदत्त की जा सकती हैं जो सरकार के अधीन कोई पद धारण करता हैं या धारण किए हुए है। कार्यपालिका के अधीन विभिन्न पद धारण करने वाले अधिकारियों में प्राय: किसी विशिष्ट स्थिति से निपटने के लिए मजिस्ट्रेट की शक्तियां निहित होती हैं।"

340. इस प्रकार मताभिव्यक्ति करने के पश्चात् विद्वान न्यायाधीशों ने आगे अनुच्छेद 217 (2) (क) और 236 (ख) के निर्वचन से संबंधित प्रश्न पर विचार किया आदि जोकि इस प्रश्न के अवधारण के लिए सुसंगत नहीं है जोकि हमारे समक्ष है।

341. इस बाबत **चन्द्रमोहन** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[4] वाले मामले का अवलोकन किया जा सकता है।

---

[1] [1968] 2 उम० नि० प० 330=1968 (3) एस० सी० आर० 614.

[2] मामला सं० 120/61 जिसका विनिश्चय 28 जुलाई, 1965 को किया गया।

[3] 1992 (2) एस० सी० सी० 428.

[4] 1967 (1) एस० सी० आर० 77.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

342. इस संदर्भ में हम यह महसूस करते हैं कि राम जवाया बनाम पंजाब राज्य[1] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ द्वारा व्यक्त की गई राय को पुनः अभिव्यक्त करना महत्वपूर्ण है। इस मामले में मुख्य न्यायमूर्ति मुखर्जी ने शक्तियों की व्याप्ति पर विचार करते हुए यह मताभिव्यक्ति की :

> "वास्तव में हम भारतीय संविधान में शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत को पूर्ण कड़ाई के साथ मान्यता प्रदान की गई है तथापि सरकार के विभन्न भागों या शाखाओं के कृत्यों में पर्याप्त रूप से अंतर किया गया है और परिणामस्वरूप यह कहना ठीक ही है कि हमारे संविधान में एक अंग या राज्य के उन कृत्यों जो अवश्यमेव ही किसी दूसरे से संबंधित हैं के भाग द्वारा छूट अनुध्यात नहीं है। वास्तव में कार्यपालिका विभागीय शक्तियों या अधीनस्थ विधान का प्रयोग नहीं कर सकती है जब ऐसी शक्तियां उसे विधानमण्डल द्वारा प्रत्यायोजित की गई हों।
>
> ऐसा इसलिए भी जब इस प्रकार सशक्त किए गए भाग या अंग सीमित रूप में न्यायिक कृत्यों का प्रयोग करते हैं। तथापि, कार्यपालक सरकार संविधान या किसी विधि के उपबंधों के विरुद्ध नहीं जा सकती है। यह संविधान के अनुच्छेद 154 के उपबंधों से स्पष्ट है किंतु जैसा कि पहले कहा गया इससे यह-स्पष्ट नहीं है कि कार्यपालिका को कार्य करने में समर्थ बनाने के लिए पहले से विधि विद्यमान होनी चाहिए और यह कि कार्यपालिका की शक्तियां मात्र इन विधियों को कार्यान्वित किए जाने तक ही सीमित हैं।
>
> उस सीमा को जिसके अंतर्गत कार्यपालक सरकार भारतीय संविधान के अधीन कृत्य कर सकती है सरलतापूर्वक बिना किसी कठिनाई के उस कार्यपालिका के प्रति निर्देश करके अभिनिश्चित किया जा सकता है जो हमारे संविधान ने स्थापित की है। यद्यपि हमारा संविधान संरचना में परिसंघीय है यथापि यह अंग्रेजी संसदीय प्रणाली पर आधारित है जिसमें कार्यपालिका के पास सरकारी नीति बनाने और इसे विधि में कार्यान्वित करने का प्राथमिक उत्तरदायित्व प्राप्त है यद्यपि इस उत्तरदायित्व के प्रयोग की पूर्व शर्त राज्य की विधायी शाखा के विश्वास को बनाए रखना है।"

343. उपर्युक्त विवेचन को दृष्टिगत करते हुए और उपर्युक्त विभिन्न विनिश्चयों में अधिकथित सिद्धांतों के प्रकाश में हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि कार्यपालक मजिस्ट्रेट अपने ऐसे न्यायिक या अर्द्ध न्यायिक कृत्यों का प्रयोग करते हुए यद्यपि वह इनका प्रयोग दंड प्रक्रिया संहिता के ढांचे के अंतर्गत सीमित रूप में करता है ऐसे न्यायिक कृत्य करते हैं जिन्हें साधारणतः न्यायिक मजिस्ट्रेटों द्वारा किया जाता है और इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वे न्यायिक पद धारण करते हैं। अतः विद्वान् काउंसेल की इस दलील को कि कार्यपालक मजिस्ट्रेटों और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेटों को न्यायिक शक्तियां प्रदान किया जाना संविधान के अनुच्छेद 50 में दिए गए अभिशासन के मूल सिद्धांत के विरुद्ध है माना नहीं जा सकता है। परिणामतः, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि "टाडा" की धारा 20 की

[1] ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 549-556.

उपधारा (3) अनुच्छेद 14 या 21 का अतिक्रमण नहीं करती है और इसलिए, इस उपधारा में किसी प्रकार की सांविधानिक अविधिमान्यता का दोष नहीं है ।

344 यद्यपि हम यह अभिनिर्धारित कर रहे हैं कि यह धारा सांविधानिकतः विधिमान्य है, हमारा विद्वान काउंसेल द्वारा व्यक्त की गई इस आशंका को दूर करने के लिए कि कार्यपालक मजिस्ट्रेट और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट जो राज्य के नियंत्रण के अधीन हैं उस प्रकार की न्यायिक निष्पक्षता और स्वतंत्रता नहीं रख सकते जिस प्रकार कि न्यायिक मजिस्ट्रेट और इन कार्यपालक मजिस्ट्रेटों द्वारा संस्वीकृति और कथन अभिलिखित किया जाना किसी अधिसंभाव्य गलत हेतु से मुक्त नहीं होगा यह मत है कि यह सदैव वांछनीय और महत्वपूर्ण है कि किसी व्यक्ति की संस्वीकृति या कथन न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा उस समय अभिलिखित किए जाते हैं जब कभी भी मजिस्ट्रेट कार्यपालक मजिस्ट्रेटों के अधिमान में उपलब्ध हो जब तक कि कार्यपालक या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेटों द्वारा संस्वीकृति या कथन अभिलिखित किए जाने के बाध्यकारी और न्यायोचित कारण न हों ।

1987 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (4)

345. धारा 20 की उपधारा (4) (1993 के अधिनियम सं० 43 द्वारा यथा-संशोधित) इस प्रकार है :—

"4. संहिता की धारा 167, ऐसे मामले के संबंध में जिसमें इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय अपराध अंतर्वलित है, निम्नलिखित उपांतरणों के अधीन रहते हुए, लागू होगी :—

(क) उसकी उपधारा (1) में, "न्यायिक मजिस्ट्रेट के प्रति निर्देश का यह अर्थ लगाया जाएगा कि वह "न्यायिक मजिस्ट्रेट या कार्यपालक मजिस्ट्रेट या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट" के प्रति निर्देश है ;

(ख) उसकी उपधारा (2) में "पन्द्रह दिन", "नब्बे दिन" और "साठ दिन" के प्रति निर्देशों का, जहां-जहां वे आते हैं, यह अर्थ लगाया जाएगा कि वे क्रमशः "साठ दिन", "एक सौ अस्सी दिन" और "एक सौ अस्सी दिन" के प्रति निर्देश है, और (ख) उपधारा (2) में परंतुक के पश्चात् निम्नलिखित परंतुक अंतःस्थापित किया जाएगा, अर्थात् :—

परंतु यह और कि यदि एक सौ अस्सी दिन की उक्त अवधि के भीतर अन्वेषण पूरा करना संभव नहीं है तो अभिहित न्यायालय लोक अभियोजक की रिपोर्ट पर, जिसमें अन्वेषण की प्रगति और एक सौ अस्सी दिन की उक्त अवधि से अधिक अभियुक्त के निरोध के विनिर्दिष्ट कारण उपदर्शित किए गए हों, उक्त अवधि से एक वर्ष तक बढ़ा सकेगा ।

(ग) इसकी उपधारा (2-क) का लोप किया हुआ माना जाएगा ।"

346. धारा 20 की उपधारा 4(क) में उपांतरण उपधारा (3) की भांति है; यह कि कार्यपालक मजिस्ट्रेट और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट को न्यायिक मजिस्ट्रेट के साथ सम्मिलित किया गया है । अतः, जब कभी भी किसी व्यक्ति को "टाडा" अधिनियम के

उपबंधों के अधीन गिरफ्तार किया जाता है, गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को न्यायिक मजिस्ट्रेट या कार्यपालक मजिस्ट्रेट या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट को प्रेषित किया जा सकता है यद्यपि धारा 167(1) के अधीन अन्य अपराधों के लिए अभियुक्त को अभी केवल न्यायिक मजिस्ट्रेट को प्रेषित किया जाना है। यह उल्लेख किया जा सकता है कि धारा 167 की उपधारा 2-क के अधीन पुलिस अधिकारी मामले से संबंधित डायरी में प्रविष्टि की प्रति और अभियुक्त को साधारणत: न्यायिक मजिस्ट्रेट को प्रेषित कर सकता है और जब वह उपलब्ध न हो, तो उस समीपवर्ती कार्यपालक मजिस्ट्रेट को जिसे केवल विनिर्दिष्ट अवधि के लिए निरोध प्राधिकृत करने के लिए सशक्त बनाया गया है जो कुल मिलाकर सात दिन से अधिक नहीं होगी। तथापि, "टाडा" की धारा 20 की उपधारा 4(क) से संबंधित धारा 167 के उपांतरण द्वारा कार्यपालक मजिस्ट्रेट या विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट न्यायिक मजिस्ट्रेट की सभी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है।

347. धारा 20 की उपधारा 4(ख) के अधीन जो उपांतरण किया गया है वह अभियुक्त के अभिरक्षा में निरोध की अवधि के संदर्भ में है। धारा 167(2) के अनुसार मजिस्ट्रेट को अभियुक्त का ऐसी अभिरक्षा में, जैसी वह ठीक समझे, इतनी अवधि के लिए, जो कुल मिलाकर पन्द्रह दिन से अधिक न होगी, समय-समय पर निरुद्ध किए जाने के लिए प्राधिकृत किया गया है किंतु अब पन्द्रह दिन की अवधि को बढ़ाकर साठ दिन कर दिया गया है और पुलिस अभिरक्षा से अन्यथा किसी अभियुक्त व्यक्ति को ऐसी दशा में नब्बे दिन तक निरुद्ध किए जाने के लिए प्राधिकृत किया गया है जब अन्वेषण ऐसे किसी अपराध से संबंधित हो जो मृत्यु, आजीवन कारावास या ऐसे कारावास से दंडनीय है जो दस वर्ष से कम न हो और साठ दिन जहां अन्वेषण किसी अन्य अपराध से संबंधित है। उपधारा (4) के खंड (ख) के अधीन "नब्बे दिन" और "साठ दिन" का अर्थान्वयन क्रमश: "एक वर्ष" और "एक वर्ष" है। तथापि, 1993 के संशोधन अधिनियम सं० 43 द्वारा एक वर्ष की अवधि को घटाकर एक सौ अस्सी दिन कर दिया गया है किंतु यह नए जोड़े गए इस परंतुक के अध्यधीन है जिसमें "एक सौ अस्सी दिन" को लोक अभियोजक की अन्वेषण की प्रगति से संबंधित रिपोर्ट पर "एक वर्ष" तक और विनिर्दिष्ट कारणों से उक्त अवधि से अधिक के निरोध को "एक सौ अस्सी दिन" तक बढ़ाया जा सकता है। एक वर्ष की प्रतिषेध की बढ़ाई गई अवधि को अब घटाकर एक सौ अस्सी दिन कर दिया गया है जो कि परंतुक के अध्यधीन है और इसे इस आधार पर चुनौती दी गई है कि अभियुक्त के निरोध की बढ़ाई गई यह अवधि "शीघ्र विचारण" के सिद्धांत के अनुरूप नहीं है। इस आलोचना का विद्वान अपर महासालिसिटर द्वारा यह कहते हुए विरोध किया गया कि घरेलू और अन्तरराष्ट्रीय दोनों स्तर पर आतंकवादियों और विध्वंसकारियों के बढ़ते क्रियाकलापों को दृष्टिगत करते हुए निरोध की अवधि का बढ़ाया जाना न्यायोचित रूप से अपेक्षित है क्योंकि संक्षिप्त अवधि के भीतर अन्वेषण पूरा करना संभव नहीं है।

348. तथापि, यह और गंभीर चुनौती दी गई कि निरोध की बढ़ाई गई अवधि का लाभ उठाकर अभियोजन पक्ष ने अभियुक्त को न केवल कारावास में डाला हुआ है अपितु उसे उस कालावधि के अंतर्गत जमानत प्राप्त करने के अधिकार से भी वंचित किया हुआ है। हम धारा 20 की उपधारा (8) से संबंधित दलील का निपटारा करते हुए इस द्वितीय चुनौती पर विचार करेंगे।

349. धारा 20 की उपधारा (3) के संदर्भ में दी गई दलील का निपटारा करते हुए निर्णय के पूर्व भाग में दिए गए कारणों से हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि इस आलोचना को कि धारा 167 की उपधारा(1) में कार्यपालक मजिस्ट्रेट और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट का सम्मिलित किया जाना गलत हेतु से है माना नहीं जा सकता है और इस उपबंध को असांविधानिक नहीं कहा जा सकता है।

350. इस निष्कर्ष को दृष्टिगत करते हुए **विमल कौर**[1] वाले मामले का यह निष्कर्ष कि "धारा 20 की उपधारा (4) का खंड (क) अधिकारातीत घोषित किया जाता है" बातिल किए जाने योग्य है और तद्नुसार इसे अपास्त किया जाता है।

1987 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (7)

351. उपधारा (7) इस प्रकार है :—

> "संहिता की धारा 438 की कोई बात ऐसे किसी मामले के संबंध में लागू नहीं होगी जिसमें किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी इस अभियोग पर अंतर्वलित है कि उसने इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय अपराध किया है।"

352. श्री जेठमलानी के अनुसार यह परंतुक अभियुक्त के अग्रिम जमानत से लाभान्वित होने के अधिकार का हरण करता है जिसके लिए गिरफ्तार किया गया व्यक्ति अन्यथा हकदार होता। उसके अनुसार, संहिता की धारा 438 व्यक्ति की स्वतंत्रता का अति आवश्यक रक्षोपाय है और यह पुलिस शक्ति के दुरुपयोग के स्पष्ट मामलों से निपटने के लिए आवश्यक है।

353. श्री तारकुण्डे ने भी यही दलील दी और तत्पश्चात् **गुरुबख्श सिंह सिब्बिया और अन्य बनाम पंजाब राज्य**[2] वाले मामले में के निर्णय से बल प्राप्त करते हुए इस दलील को पूरा किया कि अग्रिम जमानत के अधिकार का उत्सादन संविधान के अनुच्छेद 21 में दी गई वैयक्तिक स्वतंत्रता से अपवंचित किया जाना है।

354. पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय ने उपर्युक्त **विमल कौर**[1] वाले मामले में "टाडा" की धारा 20(7) की शक्तिमता की बाबत इसी प्रकार की चुनौती की परीक्षा करते हुए यह अभिनिर्धारित किया :—

> "मेरी राय में धारा 20(7) इस प्रकार संविधान के अनुच्छेद 14 के उपबंधों की शक्तिमता के अंतर्गत है कि आतंकवादी कार्य किए जाने से आरोपित व्यक्ति ऐसे प्रवर्ग में आते हैं जो कि दंड संहिता और अन्य कानूनों द्वारा सर्जित अपराधों के किए जाने से आरोपित व्यक्तियों के वर्ग से भिन्न है। आतंकवादी कार्य करने वाले व्यक्ति एक सुसंगठित गुप्त संगठन के सदस्य होते हैं। प्रवर्तनकारी अभिकरणों के लिए उन पर हाथ डालना कठिन होता है। जब तक कि पुलिस यह सुराग न निकाल ले कि

[1] ए० आई०आर० 1988 पंजाब-हरियाणा 95.

[2] [1981] 1 उम० नि० प० 1231=1980 (3) एस० सी० आर० 383.

इस संगठन के पीछे कौन व्यक्ति हैं, यह कैसे पनपा, कौन इसके सक्रिय सदस्य हैं और वे कैसे कार्य करते हैं, इस संगठन को समाप्त करना और लोक व्यवस्था बनाए रखना आसान नहीं है। पुलिस इस प्रकार की जानकारी गिरफ्तार किए गए आतंकवादियों से प्रभावी रूप में पूछताछ के पश्चात् ही प्राप्त कर सकती है। यदि वास्तविक अपराधी गिरफ्तारी की आशंका से अग्रिम जमानत प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं, तो पुलिस को वास्तव में उक्त अवसर प्राप्त नहीं हो सकेगा।"

355. इस बाबत जोर देने की कोई आवश्यकता नहीं कि संसद् और राज्य विधान-मण्डल दोनों को दंड प्रक्रिया संहिता से संबंधित किसी भी प्रकार की विधि अधिनियमित करने की विधायी सक्षमता प्राप्त है। पुरानी संहिता में अग्रिम जमानत से संबंधित कोई उपबंध नहीं था और इसे विधि आयोग और संयुक्त समिति की इकतालीसवीं रिपोर्ट में दिए गए 1973 की वर्तमान संहिता में सर्वप्रथम जोड़ा गया। यह उल्लेखनीय है कि इस धारा को उत्तर प्रदेश राज्य में तारीख 28 नवंबर, 1975 से दंड प्रक्रिया संहिता (उत्तर प्रदेश संशोधन) अधिनियम, 1976 (1976 का उ० प्र० अधिनियम सं० 16) की धारा 9 द्वारा पूर्णत: निकाल दिया गया। पश्चिमी बंगाल राज्य में, संहिता की धारा 438(1) में तारीख 24 दिसंबर, 1988 से यह परंतुक अंत:स्थापित किया गया कि कोई भी अंतिम आदेश अभियुक्त द्वारा ऐसे किसी अपराध से संबंधित जो मृत्यु, आजीवन कारावास या ऐसी अवधि के कारावास से दंडनीय है जो कम से कम सात वर्ष की है अग्रिम जमानत की प्रार्थना करते हुए फाइल किए गए आवेदन पर राज्य को अपना पक्षकथन प्रस्तुत करने का कम से कम सात दिन का नोटिस दिए बिना किया नहीं जाएगा। उड़ीसा राज्य में उड़ीसा अधिनियम, 1988 (1988 का 11) की धारा 2 द्वारा तारीख 28 जून, 1988 से धारा 438 में यह परंतुक जोड़ा गया है कि मृत्यु, आजीवन कारावास या ऐसी अवधि के कारावास जो कम से कम सात वर्ष की है से दंडनीय अपराध से संबंधित अग्रिम जमानत के आवेदन पर राज्य को अपना पक्षकथन प्रस्तुत करने का नोटिस दिए बिना किसी प्रकार का अंतिम आदेश नहीं किया गया।

356. अग्रिम जमानत के उपबंध को जोड़े जाने के अपने सुझावों से संबंधित विधि आयोग द्वारा दिया गया एक कारण यह है कि "..........जहां यह अभिनिर्धारित करने के युक्तियुक्त आधार हों कि किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति के फरार होने या जमानत पर अपनी स्वतंत्रता का अन्यथा दुरुपयोग करने की संभावना न हो, वहां उसे पहले अभिरक्षा के लिए उपस्थित होने, कुछ दिनों तक कारागार में रहने और तत्पश्चात् जमानत के लिए आवेदन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि विधि आयोग की रिपोर्ट में के इस तर्क से कि जहां किसी अजमानतीय अपराध के अभियुक्त व्यक्ति के जमानत पर रहते हुए फरार होने या अपनी जमानत का अन्यथा दुरुपयोग करने की संभावना है, वहां उसके अग्रिम जमानत की प्रसुविधा के दावे को स्वीकार करना न्यायोचित नहीं होगा। क्या यह निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि आतंकवादी और विध्वंसकारी जो आतंक और विध्वंस फैलाते हैं और असुरक्षा की भावना उत्पन्न करते हैं यदि जमानत पर छोड़ दिए जाएं तो फरार नहीं होंगे या अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं करेंगे। प्रकटत:, संसद् ने ऐसे अपराधियों को धारा 438 की प्रसुविधा प्रदान करना उपयुक्त नहीं समझा।

357. तथापि, इस बात को दोहराते हुए हम यह कहना चाहते हैं कि धारा 438 एक नया उपबंध है जो नवीन अधिकार सर्जित करते हुए वर्तमान संहिता में समाविष्ट किया गया है। यदि इस नवीन अधिकार का हरण कर लिया जाता है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि धारा 438 का निकाला जाना अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण होगा। उपर्युक्त **गुरुबख्श सिंह**[1] वाले मामले में ऐसा कोई विनिर्दिष्ट कथन नहीं है कि धारा 438 के निकाले जाने से संविधान के अनुच्छेद 21 का किसी प्रकार से अतिक्रमण होगा।

358. अत: पूर्वोक्त कारणों से धारा 20 की उपधारा (7) की विधिमान्यता को दी गई चुनौती असफल रहती है।

दंड प्रक्रिया संहिता (उत्तर प्रदेश संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 9

359. चूंकि 1976 के उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 16 की धारा 9 की सांविधानिक विधिमान्यता को अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (7) के समरूप आधार पर चुनौती दी गई है, हम 1976 के उत्तर प्रदेश संशोधन अधिनियम सं० 16 की धारा 9 जिसके द्वारा उत्तर प्रदेश विधानमण्डल ने तारीख 28 नवंबर, 1975 से संहिता की धारा 438 के प्रवर्तन को निकाल दिया की सांविधानिक विधिमान्यता से संबंधित प्रश्न की बाबत अनेक याचियों द्वारा फाइल की गई रिट याचिकाओं के समूह का निपटारा करना चाहते हैं। मामले के तथ्य केवल इस बात को छोड़कर सुसंगत नहीं हैं कि ऐसे सभी मामलों में प्रथम इत्तिला रिपोर्टें मुख्यतया भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन विभिन्न अपराधों की बाबत फाइल की गई हैं। हमारे विचारार्थ उद्भूत प्रश्न यह है कि (1) क्या राज्य विधानमण्डल को संहिता की धारा 438 निकालने की विधायी सक्षमता प्राप्त है और (ख) क्या 1976 का उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 16 संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 21 का अतिक्रमणकारी है।

360. उत्तर प्रदेश राज्य के विद्वान काउंसेल ने यह दलील दी कि यह अधिनियम विधिमान्य विधान है क्योंकि यह विधायी सक्षमता से ग्रस्त नहीं है और राज्य विधानमण्डल राज्य की अपराधग्रस्त स्थिति को देखते हुए इस अधिनियम को पारित करने के लिए सशक्त है और यह संशोधन राज्य में बढ़ते अपराधों की प्रवृति और विद्यमान स्थिति को दृष्टिगत करते हुए आवश्यक था। उसके अनुसार, राज्य विधानमण्डल को बिगड़ती स्थिति से निपटने के लिए संहिता की धारा 438 को निकालने के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश डकैत क्षेत्र अधिनियम, 1983 और समरूप अन्य अधिनियमितियां प्रख्यापित करने के लिए विवश होना पड़ा।

361. केन्द्रीय अधिनियम को संशोधित करने की राज्य विधानमण्डल की सक्षमता को **उत्तर प्रदेश राज्य विद्युत प्रदाय कंपनी** बनाम **आर० के० शुक्ल**[2] वाले मामले में मान्यता प्रदान की गई। विधानमण्डल ने सातवीं अनुसूची की सूची-3 (समवर्ती सूची) के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए 1976 का अधिनियम संख्या 16 पारित किया और संविधान की धारा 438 निकाल दी। तथापि, संशोधन अधिनियम जिसे संविधान के अनुच्छेद 254(2) द्वारा तारीख 30 अप्रैल, 1976 को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई संसद् द्वारा बनाई गई

---

[1] [1981] 1 उम० नि० प० 1231=[1980] 3 एस० सी० आर० 383.

[2] (1969) 2 एस० सी० सी० 400

किसी पूर्व विधि के होते हुए भी उत्तर प्रदेश राज्य में विद्यमान है। चूंकि यह अधिनियम संपूर्ण राज्य में लागू किया जाता है, उत्तर प्रदेश राज्य में इस उपबंध के लागू किए जाने की बाबत विभेद का कोई प्रश्न ही नहीं है।

362. अतः, "टाडा" की धारा 20(7) और राज्य की विधायी सक्षमता से संबंधित की गई चर्चा को देखते हुए इस दलील में कि यह संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 21 की अतिक्रमणकारी है कोई बल नहीं है और इस प्रकार इसे नामंजूर किया जाता है।

1987 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (8)

363. दोनों पक्षों द्वारा उपर्युक्त उपधारा जो संहिता की धारा 437(3) में दी गई परिसीमाओं के अरिरिक्त जमानत मंजूर किए जाने पर कड़ी परिसीमाएं अधिरोपित करती है के अर्थान्वयन से संबंधित गर्मागर्म बहस की गई। वास्तव में यह एक ऐसा महत्वपूर्ण विवाद्यक है जिस पर बहस किए बिना नहीं रहा जा सकता है और जो इस प्रश्न के अलावा कि क्या उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अधीन असाधारण विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए आवेदन ग्रहण कर सकता है और जमानत मंजूर करने या नामंजूर करने का आदेश पारित कर सकता है इस न्यायालय में निर्वचन के लिए बारबार आया। चूंकि उपधारा (9) जिसमें यह उपबंधित है कि उपधारा (8) में यथाविनिर्दिष्ट जमानत मंजूर किए जाने पर निर्बन्धन संहिता या जमानत मंजूर किए जाने से संबंधित तत्समय प्रवृत्त अन्य विधि के अधीन निर्बंधन के अलावा हैं, यह आवश्यक हो गया है कि उपधारा (8) का निर्वचन करते हुए इसके साथ उपधारा (9) का भी अर्थान्वयन किया जाए। अतः, हम धारा 20 की उपधारा (8) और (9) दोनों को उद्धृत करना चाहते हैं और ये इस प्रकार हैं—

> "(8). संहिता में किसी बात के होते हुए भी, इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय अपराध के अभियुक्त किसी व्यक्ति को, यदि वह अभिरक्षा में है, जमानत पर या उसके अपने बंधपत्र पर तब तक निर्मुक्त नहीं किया जाएगा जब तक—
>
> (क) लोक अभियोजक को किसी निर्मुक्ति के आवेदन का विरोध करने का अवसर नहीं दे दिया जाता है; और
>
> (ख) जहां लोक अभियोजक आवेदन का विरोध करता है वहां न्यायालय का यह समाधान नहीं हो जाता है कि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार है कि वह ऐसे अपराध का दोषी नहीं है और यह कि जमानत पर रहते समय उसके द्वारा किसी अपराध के किए जाने की संभावना नहीं है।
>
> (9). उपधारा (8) में विनिर्दिष्ट जमानत मंजूर करने के बारे में निर्बन्धन, संहिता या जमानत मंजूर करने के बारे में तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन निर्बन्धनों के अतिरिक्त हैं।"

364. 1984, 1985 और 1987 के अधिनियमों की अधिनियमिति से काफी पहले भारत के रक्षा और आंतरिक सुरक्षा नियम, 1971 (जिसे संक्षेप में "1971 के नियम" कहा

गया है) (जिससे हमारा अन्यथा संबंध नहीं है) के नियम 184 सरीखा समरूप उपबंध था। यह इस प्रकार है—

* "दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 (1898 का 5) में दी गई किसी बात के होते हुए भी, इन नियमों या इनके अधीन बनाए गए आदेशों के उल्लंघन के अभियुक्त या सिद्धदोष किसी व्यक्ति को, यदि अभिरक्षा में है जमानत पर या उसके अपने बन्धपत्र पंर तब तक निर्मुक्त नहीं किया जाएगा जब तक—

(क) अभियोजन पक्ष को ऐसी निर्मुक्ति के आवेदन का विरोध करने का अवसर नहीं दे दिया जाता है, और

(ख) जहां अभियोजन पक्ष आवेदन का विरोध करता है और उल्लंघन इन नियमों या इनके अधीन बनाए गए आदेशों के ऐसी किसी उपबंध का है जो केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार अधिसूचित आदेश द्वारा इस बाबत विनिर्दिष्ट करे, वहां न्यायालय का यह समाधान नहीं हो जाता है कि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार है कि वह ऐसे उल्लंघन का दोषी नहीं है।"

365. धारा 20 की उपधारा (8) उपर्युक्त 1971 के नियमों के नियम 184 की भांति सर्वोपरि खंड से आरम्भ होती है और अपने प्रवर्तन में "टाडा" के अधीन या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दण्डनीय किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति की जमानत पर निर्मुक्ति पर पाबंदी अधिरोपित करती है जब तक कि इस उपधारा के खंड(क) और (ख) में विनिर्दिष्ट दोनों शर्तें पूरी नहीं कर दी जाती हैं।

366. अन्तर्वलित प्रश्न से संबंधित न्यायालय में बड़ी दलीलें दी गईं और बड़े-बड़े विनिश्चयों का अवलंब लिया गया। सभी काउंसेलों ने इस उपबंध को आक्षेपित करते हुए एक ही दलील दी कि जबकि धारा 20(7) संहिता की धारा 438 को अप्रवृत बनाती है, धारा 20 (8) जमानत मंजूर किए जाने को असंभव बनाती है। उनके अनुसार, निर्दयतापूर्वक अधिरोपित अवरोधों और निर्बन्धनों तथा युक्तियुक्त निर्बन्धनों ने जो संहिता के किसी

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"Notwithstanding anything contained in the Code of Criminal Procedure, 1898 (V of 1898), no person accused or convicted of a contravention of these Rules or orders made thereunder shall, if in custody, be released on bail or his own bond unless—

(a) the prosecution has been given an opportunity to oppose the application for such release, and

(b) where the prosecution oppose the application and the contravention is of any such provision of these Rules or orders made thereunder as the Central Government or the State Government may be notified order specify in this behalf, the Court is satisfied that there are reasonable grounds for believing that he is not guilty of such contravention."

भी जमानत उपबंध में देखने को नहीं मिलते हैं इसे ऐसा उपबंध बना दिया है जिसमें ऐसी प्रक्रिया विहित है जो अन्यायसंगत और अऋजु है ।

367. श्री वी० एम० तारकुण्डे ने यह दलील देते हुए इस उपबंध को आक्षेपित किया कि यह उपधारा संविधान के अनुच्छेद 21 और 14 में निहित सिद्धांत का अतिल्लंघन करती है क्योंकि इस उपबंध के प्रकट आशय से निर्दोष व्यक्ति के लिए भी उस समय जमानत प्राप्त करना संभव नहीं है जब उसे "टाडा" के अधीन किसी अपराध से मिथ्या आरोपित किया गया है । चूंकि दाण्डिक न्याय का यह कल्याणकारी सिद्धांत है कि प्रत्येक व्यक्ति को उस समय तक निर्दोष माना जाएगा, जब तक कि उसे दोषी सिद्ध न कर दिया जाए, यह उपबन्ध जिसे चुनौती दी गई हैं पूर्णत: इस सिद्धांत के विपरीत है । **गुडिकान्ति बनाम लोकअभियोजक**[1] वाले मामले में के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए जिसमें न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने अपने निर्णय को इस प्रारंभिक टिप्पण से प्रारंभ किया "जमानत या जेल"? पूर्व विचारण या दोषसिद्धि के पश्चात् प्रक्रम पर क्रमश: जमानत या जेल दांडिक न्याय प्रणाली के विकृत क्षेत्र से संबंधित हैं और यह मुख्यत: न्यायपीठ की इच्छा पर आधारित है जिसे अन्यथा "न्यायिक विवेकाधिकार" कहा जाता है । उन्होंने यह मताभिव्यक्ति की कि "अनुच्छेद 21 के महत्व और उसकी व्याप्ति को देखते हुए स्वतंत्रता से अपवंचित किया जाना बड़ी चिंता का विषय है और ऐसा केवल तभी किया जा सकता है जब इसे प्राधिकृत बनाने वाली विधि युक्तियुक्त और निष्पक्ष है तथा अनुच्छेद 19 में दिए गए रूप में समाज कल्याण के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राज्य द्वारा ऐसा करना आवश्यक है।" श्री तारकुण्डे ने यह प्राख्यान किया कि यह उपबंध अनुच्छेद 21 के पूर्णत: अतिक्रमण में है ।

368. श्री जेठमलानी ने यह दलील देते हुए इस उपबंध को चुनौती दी कि यह बहुत ही आपत्तिजनक और अऋजु उपबंध है जिसमें न्यायालय से यह प्रमाणित करने की अपेक्षा की गई है कि "अभियुक्त द्वारा जमानत पर रहते हुए किसी प्रकार का अपराध करने की सम्भावना नहीं है ।" उन्होंने उपर्युक्त **विमल कौर**[2] वाले मामले में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ की मताभिव्यक्ति के आधार पर इस खण्ड को असांविधानिक घोषित किए जाने का अभिवाक् किया ।

369. विद्वान अपर महासालिसिटर ने यह कहते हुए उपर्युक्त तर्कों को काटने का प्रयास किया कि इस उपबन्ध के असांविधानिक होने का कोई प्रश्न ही नहीं है और वास्तव में उपधारा (8) के खंड (ख) के अधीन अधिरोपित शर्तें धारा 437 की उपधारा (1) के खंड (i) और (ii) और इस धारा की उपधारा (3) के खंड (ख) के अधीन विहित अपेक्षाओं के अनुरूप हैं । उनके अनुसार प्रत्येक स्थिति में जमानत की ईप्सा करने वाले अभियुक्त के आचरण का उसकी पृष्ठभूमि के संदर्भ में और किए गए अपराध की प्रकृति को ध्यान में रखकर जमानत मंजूर किए जाने से पूर्व मूल्यांकन किया जाना चाहिए और यह मूल्यांकन मूलभूत रूप में इस बात को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए कि उस समय जब उसे जमानत मंजूर कर दी जाए तो क्या उसके द्वारा साक्ष्य में गड़बड़ किए जाने की

[1] [1978] 4 उम० नि० प० 1001=1878 (2) एस० सी० आर० 371.

[2] ए० आई० आर० 1988 पंजाब-हरियाणा 95.

अधिसम्भावना है या वह उक्त अवधि के दौरान समाज के लिए सिरदर्द तो बन नहीं जाएगा। उन्होंने उपर्युक्त गुडिकान्ति[1] वाले मामले के पृष्ठ 376 से अपनी इस दलील के समर्थन में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर की एक और मताभिव्यक्ति उद्धृत की, "···स्वतंत्रता से वंचित किया जाना सामाजिक सुरक्षा और व्यक्ति को अपराध की प्रकृति से बचाने तथा उसे सुधारने के दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। लोक न्याय और सम्पूर्ण जमानत विधि की स्कीम की धुरी है। न्याय से पलायन नहीं होना चाहिए तथापि दांडिक कठोरता कम-से-कम होनी चाहिए···न्याय की ईप्सा करने वाला कोई भी व्यक्ति न्याय या समाज के विश्वास से धोखे-बाजी नहीं करेगा।"

370. उपधारा (8) जो इस अधिनियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध के अभियुक्त को जमानत पर छोड़े जाने पर पूर्णत: पाबंदी लगाती है इन दो शर्तों के अधीन इस पाबन्दी से छूट प्रदान करती है कि (1) लोक अभियोजक को ऐसी निर्मुक्ति के जमानत आवेदन का विरोध करने का अवसर दिया जाना चाहिए; और (2) जहां लोक अभियोजक जमानत आवेदन का विरोध करे और वहां न्यायालय का यह समाधान होना चाहिए कि दो शर्तें अर्थात् (क) यह कि यह विश्वास करने के युक्तियुक्त आधार हैं कि अभियुक्त व्यक्ति ऐसे अपराध का दोषी नहीं है और (ख) उसके द्वारा जमानत पर रहते हुए कोई अपराध किए जाने की सम्भावना नहीं है। उपधारा (9) उपधारा (8) की इस रूप में पूरक है कि उपधारा (8) में विनिर्दिष्ट जमानत मंजूर किए जाने पर अधिरोपित उपर्युक्त दोनों निबंधन संहिता या जमानत मंजूर किए जाने से संबंधित तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन निर्बन्धनों के अतिरिक्त हैं। संहिता की धारा 436 में किसी जमानतीय अपराध के अभियुक्त व्यक्ति को जमानत मंजूर किए जाने का उपबंध है जबकि धारा 437 में किसी अजमानतीय अपराध किए जाने के किसी अभियुक्त या संदिग्ध व्यक्ति को जमानत मंजूर किया जाना उपबंधित है। तथापि, धारा 437 की उपधारा (1) में दोनों शर्तें अर्थात् (1) यदि यह विश्वास करने का युक्तियुक्त आधार प्रतीत होता है कि वह ऐसे अपराध का दोषी है जो मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय है; और (2) यदि अपराध जिसकी बाबत परिवाद किया गया संज्ञेय अपराध है और यह कि अभियुक्त को पहले मृत्यु, आजीवन कारावास या सात वर्ष या इससे अधिक के कारावास के दण्डनीय अपराध से सिद्धदोष घोषित किया गया था या उसे पहले अजमानतीय और संज्ञेय अपराध से दो या अधिक बार सिद्धदोष घोषित किया जा चुका है पूरी किए जाने पर जमानत मंजूर किए जाने की शक्ति के प्रयोग पर कतिपय निर्बंधन अधिरोपित किए गए हैं। वास्तव में, ये दोनों शर्तें धारा 437 की उपधारा (1) से संबद्ध तीन परंतुकों के अध्यधीन है। तथापि, हमारा इन परंतुकों से बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं है। तथापि, धारा 437 की उपधारा (3) न्यायालय को कुछ शर्तों के साथ जमानत मंजूर किए जाने का विवेकाधिकार प्रदान करती है यदि वह आवश्यक समझे या ऐसा करना न्याय के हित में है। इन शर्तों या निर्बन्धनों जिनमें "टाडा" की धारा 20 की उपधारा (8) के खण्ड (क) और (ख) के अधीन दो अन्य शर्तें संलग्न हैं को उचित प्रकार समझने के लिए, हम धारा 437 (3) की इन शर्तों को इस प्रकार पुन: उद्धृत करना चाहते हैं :—

[1] [1978] 4 उम० नि० प० 1001=1978 (2) एस० सी० आर० 371.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

"437 (3)—

(क) यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसा व्यक्ति इस अध्याय के अधीन निष्पादित बंधपत्र की शर्तों के अनुसार हाजिर होगा, अथवा

(ख) यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसा व्यक्ति उस अपराध जैसा जिसको करने का उस पर अभियोग या संदेह है, कोई अपराध नहीं करेगा, अथवा

(ग) न्याय के हित में,"

371. संहिता की धारा 438 में जमानत का उपबंध है और धारा 439 में जमानत से संबंधित उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय की विशेष शक्तियों की चर्चा है। इस सम्बन्ध में धारा 439 (1) (क) को भी उद्धृत करना सुसंगत रहेगा और यह इस प्रकार है :

"439. जमानत के बारे में उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय की विशेष शक्तियां—(1) उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय यह निदेश दे सकता है कि—

(क) किसी ऐसे व्यक्ति को, जिस पर किसी अपराध का अभियोग है और जो अभिरक्षा में है, जमानत पर छोड़ दिया जाए और यदि अपराध धारा 437 की उपधारा (3) में विनिर्दिष्ट प्रकार का है, तो वह ऐसी कोई शर्त, जिसे वह उस उपधारा में वर्णित प्रयोजनों के लिए आवश्यक समझे, अधिरोपित कर सकता है

(ख) ...."

372. इस सम्बन्ध में, हम **उस्मान भाई दाउदभाई मेमोन बनाम गुजरात राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की इस मताभिव्यक्ति को उद्धृत करना चाहते हैं जिससे हम सहमत हैं :—

"यद्यपि अधिनियम की धारा 20 (7) में इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दण्डनीय अपराध किए जाने के अभियोग पर किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी अन्तर्वलित होने के किसी मामले के सम्बन्ध में दिए गए रूप में संहिता की धारा 439 लागू किए जाने को अपवर्जित करने से संबंधित कोई अभिव्यक्त उपबंध नहीं है, तथापि ऐसा आवश्यक विवक्षा द्वारा समझा जाना चाहिए। यह सत्य है कि किसी अभिहित न्यायालय की जमानत मंजूर करने की शक्ति का स्रोत अधिनियम की धारा 20 (8) नहीं है क्योंकि इसमें ऐसी शक्ति पर निर्बन्धन अधिरोपित किए गए हैं। यह धारा 20 (9) जिसमें यह अधिनियमित है कि धारा 20 (8) में विनिर्दिष्ट जमानत मंजूर किए जाने पर निर्बन्धन "संहिता या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन निर्बन्धनों के अतिरिक्त हैं" द्वारा अभिव्यक्त है। तथापि इससे अवश्यमेव ही यह स्पष्ट नहीं है कि जमानत मंजूर करने की किसी अभिहित न्यायालय की शक्ति संहिता की धारा 439 से संबंधित है। इस बाबत संदेह नहीं किया जा सकता है कि अभिहित न्यायालय संहिता की धारा 437 के अर्थान्तर्गत "उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय से भिन्न न्यायालय"

1 [1988] 4 उम० नि० प० 467=1988 (2) एस० सी० सी० 271.

है। अभिहित न्यायालय द्वारा जमानत मंजूर करने की शक्ति का प्रयोग न केवल इसमें दिए गए निर्बन्धनों के अध्यधीन है, अपितु इस अधिनियम की धारा 20 (8) द्वारा अधिरोपित निर्बन्धनों के भी अध्यधीन हैं।

373. धारा 20 (8) का पुनः उल्लेख करते हुए, यदि इसमें दी गई दोनों शर्तों में से कोई भी पूरी नहीं की जाती है, तो पाबंदी लागू होगी और अभियुक्त व्यक्ति को जमानत पर छोड़ा नहीं जा सकता है किंतु वास्तव में यह "टाडा" के उपबंधों के अधीन किसी मामले के संबंध में "टाडा" की धारा 20 (4) द्वारा यथा उपांतरित धारा 167 (2) के अध्यधीन है।

374. यद्यपि 1971 के नियमों के नियम 184 की शर्तें न्यूनाधिक रूप से अधिनियम की धारा 20(8) में अधिरोपित निर्बंधनों के अनुरूप है, इस न्यायालय ने **बालचन्द जैन बनाम मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस आधार पर कि धारा 438 द्वारा प्रदत्त शक्ति का नियम 184 द्वारा हरण नहीं किया जा सकता जमानत आवेदन को नामंजूर करते हुए गिरफ्तारी के आदेश को अपास्त कर दिया क्योंकि इस नियम में धारा 438 को अध्यारोही करने से संबंधित कोई उपबंध नहीं है। [किंतु "टाडा" के अधीन धारा 20(7) संहिता की धारा 438 के लागू किए जाने को पूर्णत: अपवर्जित करती है।] तथापि, उपर्युक्त **बालचन्द जैन** वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती (जो कि उस समय मुख्य न्यायमूर्ति थे) ने न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह मताभिव्यक्ति की :—

> "इस नियम के साधारण निबंधनों में न्यायालय को किसी नियम या नियमों के अधीन बनाए गए आदेश के उल्लंघन के अभियुक्त या सिद्धदोष व्यक्ति को जमानत पर निर्मुक्त करने की कोई शक्ति प्रदान नहीं की गई है। इसमें दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन न्यायालय में शक्ति के विद्यमान होने की बात मुख्य है और यह उपबंध करके कि किसी नियम या नियमों के अधीन बनाए गए आदेश के उल्लंघन के अभियुक्त या सिद्धदोष किसी व्यक्ति को यदि वह अभिरक्षा में है उस समय तक निर्मुक्त नहीं किया जाएगा जब तक कि दोनों शर्तें पूरी नहीं कर दी जातीं उसकी शक्ति के प्रयोग को नियंत्रित करने की ईप्सा की गई है। यह कतिपय प्रकार के मामलों में जमानत मंजूर करने की शक्ति के प्रयोग पर नियंत्रण अधिरोपित करता है और पूर्वोक्त दोनों शर्तों के पूरा होने पर ऐसे नियंत्रण दूर हो सकते हैं। जब ये दोनों शर्तें पूरी कर दी जाती हैं, तो नियंत्रण नहीं रह जाते हैं; और दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन न्यायालय को प्राप्त जमानत मंजूर करने की शक्ति पुनरुज्जीवित हो जाती है और इसका प्रयोग किया जा सकता है। नियम के प्रारंभ में सर्वोपरि खंड में भी इस बाबत जोर दिया गया है कि नियम के उपबंध से दंड प्रक्रिया के अधीन जमानत मंजूर करने की शक्ति को न कि मात्र कतिपय शर्तों पर प्रयोग की जाने वाली नवीन शक्ति प्रदान किए जाने को निर्बंधित करना आशयित है। नियम 184 की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें उस दशा में यदि किसी नियम या नियमों के अधीन बनाए गए आदेश के उल्लंघन के अभियुक्त या सिद्धदोष व्यक्ति की जमानत मंजूर किए जाने के लिए पूर्ण संहिता अधिकथित की गई है और ऐसे मामले में जमानत मंजूर करने

[1] [1977] 4 उम० नि० प० 752=1977 (2) एस० सी० सी० 52.

की शक्ति दंड प्रक्रिया संहिता की वनिस्बत मात्र नियम 184 में उपलब्ध है। नियम 184 का अर्थान्वयन इस प्रकार नहीं किया जा सकता कि यह किसी नियम या नियमों के अधीन बनाए गए आदेश के अभियुक्त या सिद्धदोष व्यक्ति को जमानत मंजूर किए जाने के संबंध में दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों को पूर्णत: अस्वीकार करता है। दंड प्रक्रिया संहिता के ये उपबंध नियम 184 के साथ पढ़े जाने चाहिएं और इसके सिवाय जहां तक वे सर्वोपरि खंड के द्वारा नियम 184 को अध्यारोही करते हैं उन्हें पूर्ण प्रभावी बनाया जाना चाहिए।"

375. उपर्युक्त **उस्मानभाई**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने उपर्युक्त **बालचन्द जैन**[2] वाले मामले में व्यक्त किए गए उपर्युक्त मत और **ईश्वरचन्द** बनाम **हिमाचल प्रदेश राज्य**[3] वाले मामले में हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त की गई राय पर विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि दोनों विनिश्चय स्पष्टत: प्रभेदनीय हैं और यह राय व्यक्त की कि संहिता की धारा 439 और 482 का उपर्युक्त **बालचन्द जैन**[2] वाले मामले जिसमें 1971 के नियमों के नियम 184 पर विचार किया गया है के सिद्धांत के आधार पर "टाडा" के अधीन मामले में जमानत मंजूर करने के लिए आश्रय नहीं लिया जा सकता है। इस न्यायालय का सुसंगत निष्कर्ष इस प्रकार है :—

> "............तथापि, यह सत्य है कि संहिता के अध्याय-33 को अभी तक परिरक्षित रखा गया है अन्यथा तो अभिहित न्यायालयों को जमानत मंजूर करने की किसी प्रकार की शक्ति न होती, अभी भी शक्ति का स्रोत संहिता की धारा 439 नहीं है अपितु धारा 437 है और इसके अधीन उच्च न्यायालय अथवा सेशन न्यायालय से अन्यथा न्यायालय है। किसी अन्य मत से विलक्षण स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। यदि यह अभिनिर्धारित किया जाए कि जमानत मंजूर करने की अभिहित न्यायालय की शक्ति धारा 439 के संबंध में है, तो इससे यह विवक्षित होगा कि न केवल उच्च न्यायालय अपितु सेशन न्यायालय भी ऐसे निर्बंधनों पर जो वे उपयुक्त समझें जमानत मंजूर करने के हकदार होंगे। धारा 439 के अधीन जमानत मंजूर करने की शक्ति पर धारा 437 के की भांति किसी प्रकार की शर्त और निबंधन नहीं हैं। यह अधिनियम की धारा 20(8) में दिए गए स्पष्ट प्रतिषेध के विरुद्ध है जो यह आदिष्ट करता है कि संहिता में दी गई किसी बात के होते हुए भी, अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय अपराध के किसी व्यक्ति को उस समय तक जमानत पर छोड़ा नहीं जाएगा जब तक कि खंड (क) और (ख) में दी गई शर्तें पूरी नहीं कर दी जातीं। अंततः, उपर्युक्त बालचन्द जैन और ईश्वरचन्द वाले मामलों के दोनों विनिश्चयों में रक्षा और भारत की आंतरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 की स्कीम की चर्चा है। उनमें इस सुमान्य सिद्धांत की चर्चा है कि साधारण न्यायालयों से अधिकारिता के हरण का अनुमान तत्काल नहीं लगाया जाना चाहिए और ऐसा केवल अभिव्यक्त उपबंध या आवश्यक विवक्षा द्वारा

---

[1] [1988] 4 उम० नि० प० 467=1988 (2) एस० सी० सी० 271.

[2] [1977] 4 उम० नि० प० 752=1977 (2) एस० सी० सी० 52.

[3] आई० एल० आर० 1975 एच० पी० 569.

ही किया जाना चाहिए। यह विशिष्ट अधिनियम की इस स्कीम पर आधारित है कि क्या उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय द्वारा जमानत मंजूर करने की शक्ति धारा 438 और 439 के अधीन विद्यमान है। हम तद्नुसार उच्च न्यायालय द्वारा की गई इस मताभिव्यक्ति की अभिपुष्टि करते हैं कि उसे संहिता की धारा 439 या धारा 482 के अधीन जमानत के आवेदन को ग्रहण करने की कोई अधिकारिता नहीं थी।

इससे हमें यह बात स्पष्ट हो जाती है जो अभिहित न्यायालय धारा 20(8) के अधीन ऐसी शक्ति पर रोपित निबंधनों को दृष्टिगत करते हुए जमानत मंजूर करते समय अपनाता है। उपधारा के निबंधन अभिहित न्यायालय की जमानत मंजूर करने की शक्ति पर निर्बंधन अधिरोपित करते हैं और इसमें के विनिर्दिष्ट निर्बंधन संहिता के अधीन निर्बंधनों के अतिरिक्त हैं।"

376. हम उपर्युक्त **उस्मानभाई**[1] वाले मामले में विद्वान न्यायाधीशों द्वारा की गई उपर्युक्त मताभिव्यक्ति से पूर्णतः सहमत हैं। इस मामले में इस न्यायालय ने अंततः विभिन्न अभिहित न्यायालयों द्वारा पारित आदेशों को अपास्त कर दिया और मामलों को इस निदेश के साथ प्रतिप्रेषित कर दिया कि अभिहित न्यायालयों को प्रत्येक विशिष्ट मामले पर इस गुणागुण के आधार पर विचार करना चाहिए कि क्या यह 1987 के "टाडा" की धारा 3 और/अथवा 4 की परिधि के अंतर्गत आता है और यदि ऐसा है, तो क्या अभियुक्त मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में जमानत के हकदार थे और साथ ही वह (अभिहित न्यायालय) धारा 20(8) के अधीन न्यायालय की शक्तियों पर निर्बंधनों का भी ध्यान रखेगा और "टाडा" के क्षेत्र के अंतर्गत न आने वाले अन्य प्रवर्ग के मामलों को साधारण दंड न्यायालयों के विचारण के लिए अंतरित करेगा।

377. जैसा कि विद्वान अपर महासालिसिटर ने ठीक ही कहा कि धारा 20(3)(ख) के अधीन अधिरोपित शर्तें धारा 437 की उपधारा (1) खण्ड (i) और (ii) तथा इसकी उपधारा (3) के खण्ड (ख) के अधीन विहित शर्तों के अनुरूप हैं। उपधारा (8) के खण्ड (ख) में की शर्तों की भांति, अन्य अधिनियमितियों यथा विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम की धारा 35(1) और सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 104(1) सरीखे इस प्रकार के उपबंध हैं कि यदि विभिन्न अधिनियमों के अधीन प्राधिकृत या सशक्त कोई अधिकारी यह विश्वास रखने का कारण रखता है कि कोई व्यक्ति भारत में या भारतीय सीमा-शुल्क जल के भीतर विभिन्न अधिनियमों के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी है, तो वह ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता है। अतः, इस शर्त को कि "यह विश्वास करने के आधार हैं कि वह अपराध का दोषी नहीं है," जोकि अन्य अधिनियमों यथा संहिता की धारा 437(1) के खंड (i) और "फेरा" की धारा 35(1) और सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 104(1) में समाविष्ट है संविधान के अनुच्छेद 21 के सिद्धांत का अतिलंघन करते हुए अयुक्तियुक्त शर्त नहीं माना जा सकता है।

378. उपर्युक्त विस्तृत विवेचन को दृष्टिगत करते हुए हम यह अभिनिर्धारित करते हुए "अतः अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (8) का खण्ड (ख) का अंतिम भाग जो

[1] [1988] 4 उम० नि० प० 467=1988 (2) एस० सी० सी० 271.

इस प्रकार है : "और यह कि जमानत पर रहते समय उसके द्वारा किसी अपराध के किए जाने की संभावना नहीं है" को ही केवल अधिकारातीत घोषित किया जाता है उपर्युक्त **विमल कौर** वाले मामले में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के निष्कर्ष को अपास्त करते हैं।

379. इसमें कोई सन्देह नहीं कि नागरिकों की स्वतन्त्रता की न्यायालयों द्वारा विशेष सतर्कता के साथ रक्षा की जानी चाहिए तथापि न्यायालय को "टाडा" सरीखे मामलों में न्याय प्रदान करते समय अभियुक्त की न केवल स्वतन्त्रता का ध्यान रखना चाहिए अपितु घटना के शिकार व्यक्ति और उसके सगे-संबंधियों के हित और सबसे अधिक समाज के सामूहिक हित तथा राष्ट्र की सुरक्षा को भी ध्यान में रखना चाहिए ताकि जनता का न्यायिक प्रशासन में विश्वास बना रहे और निजी प्रतिशोध की भावना को बल न मिले।

380. यह सत्य है कि बहुत बार हमारे समक्ष ऐसे मामले भी आए हैं जिनमें अभियोजन पक्ष ने गलत हेतु से "टाडा" के उपबंधों का अन्यायोचित आश्रय किया और अभियुक्त व्यक्तियों को जमानत प्राप्त करने से अपवंचित किया गया और कुछ अवसरों पर जब न्यायालयों ने साधारण दण्ड विधि के अधीन रजिस्टर किए गए मामलों में जमानत मंजूर करनी चाही, तो अन्वेषक अधिकारियों ने न्यायालयों के प्राधिकार को मात देने के लिए "टाडा" के उपबंधों का आश्रय लिया। ऐसे मामलों में जिनके तथ्यों के अनुसार यह आवश्यक नहीं है "टाडा" के उपबंधों का इस प्रकार आश्रय लिया जाना और कुछ नहीं अपितु पुलिस द्वारा अधिनियम का पूर्णतः दुरुपयोग और गलत रूप में प्रयोग है। जब तक लोक अभियोजक समय की पुकार के प्रति जागरूक होकर और इस बात को ध्यान में रखकर कि वे जनता की ओर से अभियोजक हैं न कि पुलिस के, अपने विशेष दायित्व का निर्वहन नहीं करते और जब तक कि अभिहित न्यायालयों के पीठासीन अधिकारी मूल अधिकारों विशिष्टतः संविधान में दिए गए प्रत्येक नागरिक के वैयक्तिक अधिकार और स्वतन्त्रता जिनके उल्लंघन किए जाने पर उसके प्रहरी की उन्हें भूमिका सौंपी गई है को दृष्टिगत करते हुए अपने न्यायिक कृत्यों का निर्वहन नहीं करते, यह नहीं कहा जा सकता कि "टाडा" के उपबंधों को विधायी आश्रय के अनुरूप प्रभावी रूप से लागू किया गया है।

381. **महाराष्ट्र राज्य बनाम आनंद चिंतामणि दीघे**[2] वाले मामले के प्रति निर्देश किया जा सकता है।

382. अगला महत्वपूर्ण प्रश्न जो बार-बार हमारे समक्ष विचारार्थ आया वह "टाडा" के अधीन किसी अपराध के आरोपित व्यक्ति के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन जमानत के लिए उच्च न्यायालय में आवेदन करने से संबंधित है। कुछ उच्च न्यायालयों का यह मत है कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन जमानत आवेदनों को ग्रहण करने और "टाडा" के उपबन्धों के अधीन रजिस्ट्रीकृत मामलों में आदेश पारित करने की उच्च न्यायालयों की अधिकारिता का किसी भी रूप में हरण नहीं किया जा सकता है या इससे अपवंचित नहीं किया जा सकता है। वास्तव में, जमानत आवेदनों को कुछ उच्च न्यायालयों द्वारा निर्बाधितः ग्रहण किया गया है। इस प्रश्न से संबंधित, हम **रफीक आबिद**

[1] ए० आई० आर० 1982 पंजाब-हरियाणा-95

[2] 1990 (1) एस० सी० सी० 397.

पटेल बनाम **पुलिस निरीक्षक, थाणे**[1] वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय के प्रति निर्देश कर सकते हैं। इस मामले में, विद्वान न्यायाधीशों ने 1991 की दांडिक रिट याचिका सं० 458 में तारीख 25 अप्रैल, 1991 के आदेश में अपनाए गए मत से असहमति व्यक्त करते हुए संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने से मना कर दिया और यह मताभिव्यक्ति की :

> "वे मुद्दे जिनकी बाबत हमारे समक्ष निवेदन किया गया खण्ड न्यायपीठ के समक्ष उठाए गए नहीं लगते अथवा ऐसा प्रतीत नही होता कि उन पर विचार किया गया और वह बात यह है कि आरोपपत्र फाइल किए जाने के पश्चात् अपराध का संज्ञान किए जाने के प्रक्रम पर ही अभिहित न्यायालय "टाडा" की धारा 18 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकती है और उस समय तक यदि अन्वेषण में काफी समय व्यतीत हो चुका है, जैसा कि वर्तमान मामले में है, और यदि "टाडा" के उपबन्धों को लागू करने के लिए कोई प्रथम दृष्टया मामला प्रकट नहीं किया जाता है, तो न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन याचिका ग्रहण करने की अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है······"

383. उपर्युक्त **उस्मान भाई**[2] वाले मामले में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उच्च न्यायालय की संहिता की धारा 439 के अधीन या इसकी धारा 482 के अधीन अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए 1987 के "टाडा" की धारा 3 और 4 के अधीन किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति को जो अभिरक्षा में है जमानत मंजूर करने की अधिकारिता और शक्ति की बाबत है। चर्चा के दौरान एक महत्वपूर्ण प्रश्न जो विचारार्थ उद्भूत हुआ वह यह था कि क्या संविधान के अनुच्छेद 226 या 227 के अधीन उच्च न्यायालय में जमानत आवेदन फाइल किया जा सकता है। न्यायालय ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया :

> "आरम्भ में राज्य सरकार के विद्वान काउंसेल ने ऋजुतापूर्वक और निस्संकोच यह स्वीकार किया कि अधिनियम के उपबंध उन सांविधानिक उपचारों का हरण नहीं करते हैं जो नागरिक को संविधान के अनुच्छेद 226 या अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालय में अथवा अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय में समुचित रिट, निदेश या आदेश मंजूर करने से संबंधित उपलब्ध हैं। यह बात निश्चित रूप से स्पष्ट है कि कोई भी नागरिक अनुच्छेद 226 या अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालय में या अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय में अधिनियम या इसके उपबन्धों की विधिमान्यता को इस आधार पर कि वे अनुच्छेद 14, 21 और 22 का अतिक्रमण करते हैं अथवा इस आधार पर कि अधिनियम की धारा 9(1) के अधीन केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा किसी क्षेत्र या क्षेत्रों के लिए या ऐसे मामले या मामलों के वर्ग या ग्रुप के लिए जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट हैं अभिहित न्यायालय गठित किए जाने के लिए जारी की गई अधिसूचना शक्तियों के साथ कपट है और इस प्रकार सांविधानिकतः अविधिमान्य है चुनौती देते हुए किसी भी समय समावेदन कर सकता है।"

---

1 1992 क्रि० एल० जे० 394.

2 [1988] 4 उम० नि० प० 467=1988 (2) एस० सी० सी० 271.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

384. उपर्युक्त मताभिव्यक्ति का सावधानीपूर्वक वाचन करने पर यह बात स्पष्ट है कि यह इस न्यायालय द्वारा विधिक उपबन्धों के व्यापक विवेचन के आधार पर अधिकथित न्यायादेश नहीं है, अपितु इसके प्रतिकूल यह उस काउंसेल की राय को परिलक्षित करता है जो इस मामले में पेश हुआ जैसा कि इस वाक्य के आरम्भ से स्पष्ट है, "यह बात निश्चित रूप से स्पष्ट है······"। मात्र इस मताभिव्यक्ति को छोड़कर सम्पूर्ण निर्णय में कुछ भी चर्चा नहीं की गई है ।

385. **महाराष्ट्र राज्य बनाम अब्दुल हामिद हाजी मोहम्मद**[1] वाले अभी हाल ही के निर्णय में इस न्यायालय द्वारा उच्च न्यायालय की अनुच्छेद 226 के अधीन "टाडा" के अधीन दण्डनीय अपराध के अभियोजन को अभिखंडित करने के लिए अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने के न्यायौचित्य से संबंधित प्रश्न की परीक्षा करने के पश्चात् यह मताभिव्यक्ति की गई :

> "·········यह निस्संदेह सत्य है कि ऐसे विरल मामले में यदि अभिहित न्यायालय में "टाडा" के उपबंधों के अनुसार अभियोजित प्रत्यर्थी के विरुद्ध एकमात्र अभियोग यह है कि देखते ही इससे "टाडा" के अधीन दण्डनीय अपराध गठित नहीं किया जा सकता, तो उच्च न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस आधार पर कि अभियुक्त का विरोध "टाडा" के उपबन्धों के अधीन नहीं है शक्ति का आश्रय लेने में न्यायोचित होगा। हम यह भी कहना चाहेंगे कि ऐसा केवल विरल मामलों में ही हो सकता है जो बिरलतम हैं और उच्च न्यायालय की इस शक्ति का प्रयोग वर्तमान मामले सरीखे मामलों में नहीं किया जा सकता है जहां यह बात विवाद का विषय है कि क्या सहवर्ती परिस्थितियों के साथ किए गए प्रत्यक्ष अभियोग से, यदि सत्य साबित हो जाए, "टाड" के अधीन किसी अपराध के लिए दोषसिद्धि होने की सम्भावना है भी······"

386. इस मताभिव्यक्ति के पश्चात् न्यायालय ने अन्ततः यह निष्कर्ष निकाला :

> "·········इस बाबत उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया मत संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उसकी अधिकारिता के प्रयोग में अन्यायोचित और अननुज्ञेय होने के अलावा विधि विरुद्ध भी है।"

387. दांडिक अपील सं० 172/92 में हाजिर होते हुए विद्वान अपर महासालिसिटर श्री वी० आर० रेड्डी ने यह गंभीर आक्षेप किया कि उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन उसकी अधीक्षण की शक्ति के अंतर्गत संसद् के ऐसे मामलों में उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को अपवर्जित करने से संबंधित प्रकट आशय की उपेक्षा करके "टाडा" उपबंधों से संबंधित मामलों में किसी प्रकार की अधिकारिता नहीं है। अपनी दलील के समर्थन में उन्होंने ऐसे अनेक विनिश्चय उद्धृत किए जिनमें संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालय की अधीक्षण की शक्ति से संबंधित चर्चा है। **वरयाम सिंह और एक अन्य बनाम अमरनाथ और एक अन्य**[2], **गुजरात राज्य और एक अन्य बनाम वक्तसिंह जी**

[1] जे० टी० 1994 (2) एस० सी० 1.

[2] 1954 एस० सी० आर० 565.

वघेला और अन्य[1], अहमदाबाद मैन्युफैक्चरिंग एण्ड केलिको प्रिंटिंग कंपनी लिमिटेड बनाम रामटहल रामानंद[2], मोहम्मद युनुस बनाम मोहम्मद मुस्तकिम और अन्य[3], मणि नारीमन दारूवाला बनाम फिरोज एन० भटेना और अन्य[4] वाले मामलों का उल्लेख किया जा सकता है। उसने स्वापक नियंत्रण ब्यूरो बनाम किशन लाल[5] वाले मामले में के विनिश्चय को भी उद्धृत किया जिसमें उपर्युक्त उस्मानभाई[6] वाले मामले में के विनिश्चय का अवलंब लिया गया।

388. यद्यपि उच्च न्यायालयों को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन व्यापक शक्तियां प्राप्त हैं और इन व्यापक शक्तियों के कारण उनका यह उत्तरदायित्व बन जाता है कि वे इन शक्तियों का प्रयोग सावधानीपूर्वक और न्यायिक विचारणाओं तथा सुस्थापित सिद्धांतों के अनुसार करें। "टाडा" के विधायी इतिहास और उद्देश्य से यह उपदर्शित है कि यह विशेष अधिनियम आतंकवाद और विध्वंस से उद्भूत चुनौतियों का सामना करने के लिए अधिनियमित किया गया है। अधिनियम में जमानत मंजूर करने और अभिहित न्यायालय के किसी निर्णय, दंडादेश अथवा आदेश (जो कि अंतर्वर्ती आदेश नहीं है) से उद्भूत अपीलों से संबंधित विशेष उपबंध अधिनियमित किए गए हैं। अधिनियम (टाडा की धारा 25) और इसके अधीन बनाए गए नियमों के उपबंधों का अध्यारोही प्रभाव और धारा 20(7) में सर्वोपरि खंड इस प्रकार है "संहिता में दी गई किसी बात के होते हुए भी.........." से यह बात स्पष्ट है कि जमानत मंजूर किए जाने के समय केवल विशेष उपबंधों को ही लागू किया जाना चाहिए। यदि कोई पक्षकार आदेश से व्यथित है, तो उसके लिए अधिनियम के अधीन जो एकमात्र उपचार उपलब्ध है वह उच्चतम न्यायालय में अपील के रूप में समावेदन है। यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग करते हुए जमानत आवेदन ग्रहण करते हैं, तो अधिनियम की स्कीम और उद्देश्य तथा संसद् का आशय पूर्णतः विफल हो जाएगा। किंतु साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि उच्च न्यायालयों को अधिकारिता प्राप्त नहीं है। अतः हम उपर्युक्त अब्दुल हमीद हाजी मोहम्मद[7] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा अपनाए गए इस मत से पूर्णतः सहमत हैं कि यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अधीन किसी आवेदन को ग्रहण करना चाहता है, तो इस शक्ति का प्रयोग विरलतम मामलों में और कम से कम किया जाना चाहिए तथा समुचित मामलों में असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए। वे विरल मामले कौन-से हैं और वे परिस्थितियां कौन-सी हैं जिनमें अनुच्छेद 226 के अधीन आवेदन ग्रहण किया जाना न्यायोचित होगा निश्चित नहीं हैं। तथापि, हम यह कहना चाहते हैं और पुनः जोर देना चाहते हैं कि न्यायिक अनुशासन और न्यायालयों के शिष्टाचार की यह अपेक्षा है कि उच्च न्यायालयों को विशेष अधिनियम के अधीन आरोपित किसी अभियुक्त से संबंधित जमानत

---

[1] 1968 (3) एस० सी० आर० 592.

[2] [1972] 2 उम० नि० प० 86=1972 (1) एस० सी० आर० 898.

[3] [1984] 1 उम० नि० प० 406=1983 (4) एस० सी० सी० 566.

[4] 1991 (3) एस० सी० सी० 141.

[5] 1991 (1) एस० सी० सी० 705.

[6] [1988] 4 उम० नि० प० 467=1988 (2) एस० सी० सी० 271.

[7] जे० टी० 1994 (2) एस० सी० 1.

आवेदनों को ग्रहण करने की अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने से बचना चाहिए क्योंकि इस न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उच्च न्यायालयों के आदेशों में हस्तक्षेप करने और इन्हें ठीक करने की अधिकारिता प्राप्त है।

1987 के अधिनियम की धारा 22

389. यद्यपि विद्वान काउंसेल द्वारा इस उपबंध को चुनौती देते हुए कोई मौखिक तर्क नहीं दिया गया, चूंकि हम संपूर्ण अधिनियम की संवीक्षा कर रहे हैं, हम यह महसूस करते हैं कि यह बेहतर होगा यदि इस उपबंध से संबंधित हमारे मत को भी अभिलिखित किया जाए। तथापि, श्री जेठमलानी ने अपनी लिखित दलीलों में यह कहा कि यह धारा बोधगम्य नहीं है और यह कि आज के ट्रिक फोटोग्राफी के युग में किसी व्यक्ति की विशेष रूप से उसके फोटो के आधार पर पहचान करना बिल्कुल भी संभव नहीं है। इस दलील में मुझे काफी बल दिखाई देता है।

390. यदि फोटोग्राफ के आधार पर पहचान से संबंधित साक्ष्य को पहचान परेड की परीक्षा के साक्ष्य की भांति उतना ही मूल्यवान माना जाता है, तो हमारे विचार में इससे संदिग्ध व्यक्तियों को अहित तो होगा ही घोर अन्याय भी होगा। अतः, हम इस उपबंध को अभिखंडित करते हैं और तद्नुसार अधिनियम की धारा 22 अभिखंडित की जाती है।

1984 के अधिनियम की धारा 2(1)(i) और 1987 के अधिनियम की धारा 2(1)(च)

391. 1984 के अधिनियम की धारा 2 (1)(i) में परिभाषित "आतंकवादी क्षेत्र" अभिव्यक्ति से ऐसा क्षेत्र अभिप्रेत है जिसे धारा 3 के अधीन आतंकवादी क्षेत्र घोषित किया गया है और 1987 के "टाडा" की धारा 2(1)(च) में "अधिसूचित क्षेत्र" को ऐसे क्षेत्र के रूप में परिभाषित किया गया है जो राज्य सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, विनिर्दिष्ट करे। हमें यह बताया गया कि कुछ राज्यों में राज्य सरकारों ने राज्य के समस्त क्षेत्रों को "अधिसूचित क्षेत्र" घोषित किया हुआ है। तथापि, अधिसूचना के पश्चात् किसी भी अधिसूचित क्षेत्र को अनधिसूचित नहीं किया प्रतीत होता है। अतः, हम यह सुझाव देते हैं कि राज्य सरकारों को समय-समय पर पुनर्विलोकन करके किसी क्षेत्र को अनधिसूचित करने या इसे "अधिसूचित क्षेत्र" बनाए रखने की बाबत विनिश्चय करना चाहिए और तद्नुसार कार्य करना चाहिए। अन्तरवीक्षा या पुनर्विलोकन समिति जिसकी बाबत हमने 1987 के अधिनियम की धारा 15 की चर्चा करते समय सुझाव दिया को भी अलग-अलग सरकारों द्वारा विद्यमान स्थिति की संवीक्षा करने और राज्य सरकारों से अधिसूचित क्षेत्र को जारी रखने या न जारी रखने की सिफारिश करने के लिए सशक्त बनाया जा सकता है। इस संबंध में हमारी राय का भी किसी क्षेत्र को "आतंकवादी क्षेत्र" के रूप में घोषित करने की बाबत अनुसरण किया जा सकता है।

392. अपने निष्कर्ष देने से पूर्व, हम इन अधिनियमों को लागू करने में पुलिस की भूमिका से संबंधित अपनी राय व्यक्त करना चाहते हैं।

393. "हमारी स्वतंत्रता की रक्षा करने में पुलिस विशेष भूमिका अदा करती है। समाज की सुरक्षा के लिए एक सुगठित, भली-भांति प्रशिक्षित और सुअनुशासित पुलिस बल

की आवश्यकता है जिस पर विश्वास किया जा सके और जो अपराध किए जाने से पूर्व इसे रोकने अथवा यदि अपराध हो भी जाए, तो इसका पता लगाने और अभियुक्त के साथ न्याय करने में पर्याप्त रूप से समर्थ हो। यह बात सत्य है कि पुलिस को उचित प्रकार कार्य करना चाहिए। उसे सदाचार के नियमों का पालन करना चाहिए" (लार्ड डैनिंग के लेख "द ड्यू प्रोसैस आफ ला" दृष्टव्य है)।

394. यह कहते हुए दुःख होता है कि दिन प्रति दिन पुलिस पाशविकता की लोमहर्षक घटनाओं और उसके द्वारा अत्याचार किए जाने के समाचार सुनने को मिल रहे हैं। आज पुलिस लोकोपकारी विधि और सार्वभौम मानव अधिकारों की घोर उपेक्षा करते हुए और इनके घोर भंग में तथा सांविधानिक प्रत्याभूतियों और मानव शिष्टाचार की पूर्णतः अनदेखी करके अत्याचार कर रही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हम मानव अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए प्रतिबद्ध हैं जो हमें प्राचीन कालीन विरासत से प्राप्त हैं और हमारी सांविधानिक विधि में दिए गए हैं। हम यह महसूस करते हैं कि प्रत्येक प्रवर्तनकारी अभिकरण को इस बात को ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि अंतर्निहित गरिमा और नागरिकों के समान और अहरणीय अधिकारों की मान्यता विश्व में स्वतंत्रता, न्याय और शांति की आधार है। यदि मानव अधिकारों का अतिक्रमण किया जाता है, तो न्यायालय अपने महत्वपूर्ण न्यायिक प्राधिकार का प्रयोग करके मानव अधिकारों के इस अतिक्रमण में हस्तक्षेप करेगा।

395. वह संरक्षण जो नागरिकों को विधि-शासन के अधीन प्राप्त है आदम के समय से दो हजार वर्ष के मानव संघर्ष की गाथा है। यह बात सदैव ध्यान में रखी जानी चाहिए कि यह सहजता से लुप्त न हो जाए। इसे बनाए रखने और सुरक्षित रखने का जो एकमात्र उपाय उपलब्ध है वह सतत सतर्कता है और न्यायपालिका के सिवाय ऐसी कोई संस्था नहीं है जिसे इस कर्तव्य को सौंपा जा सके। यदि विधि प्रवर्तनकारी प्राधिकारी ही विधि भंजक हो जाएं, तो इससे विधि की अवमानना होगी और प्रत्येक व्यक्ति विधि का मनमाने रूप में प्रयोग करेगा और अंततः इससे अराजकता फैल जाएगी।

396. मानव इतिहास में अनेक बार महान समाज इसलिए विलुप्त हो गए क्योंकि वे अपने भीतर की संकट स्थितियों के महत्व की पहचान न कर सके। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारा देश सभी संकटों का सामना करते हुए आज सिर ऊंचा किए हुए खड़ा है और यह वह देश है जो मानव अधिकारों के मूल सिद्धांतों के लिए प्रतिबद्ध है, यह वह देश है जो सांविधानिक विरासत को अक्षुण्ण रखे हुए है और उन सहज समाधानों को अस्वीकार करता है जो उन मूल्यों के साथ समझौते पर आधारित हैं जो हमारी लोकतांत्रिक प्रणाली के मूल में हैं। प्रत्येक मानव पीढ़ी की समस्याएं और कठिनाइयां विचित्र रही हैं और परिणामस्वरूप उसका ये मूल अपेक्षाएं विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं :—

न्याय के लिए गुहार

शांति के लिए उत्कंठा

तथा

सुरक्षा की आवश्यकता महसूस किया जाना

397. उपर्युक्त अपेक्षाएं सांविधानिक संरचना के अंतर्गत वास्तविक लोकतांत्रिक प्राणाली को उसके उच्चतर मानकों के अनुरूप बनाए रखने के लिए हैं।

398. उपसंहार

(1) आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1984 (1984 का अधिनियम सं० 61); आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1985 (1985 का अधिनियम सं० 31); तथा आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का अधिनियम सं० 28) संविधान के अनुच्छेद 248 के साथ पठित प्रथम सूची की प्रविष्टि 97 को दृष्टिगत करते हुए प्रथम सूची की प्रविष्टि 1 अर्थात् "भारत की रक्षा" के अंतर्गत आते हैं।

(2) चूंकि 1987 के अधिनियम की धारा 2(1)(i)(क) के अधीन यथापरिभाषित "दुष्प्रेरित" शब्द का अर्थ अस्पष्ट है और सही नहीं है, परिभाषा के अंतर्गत लाए गए किसी व्यक्ति के "वास्तविक ज्ञान या विश्वास करने के कारण" को इस उपबंध में ही पढ़ा जाना चाहिए न कि इस उपबंध के संकुचित अर्थ में।

(3) केन्द्रीय सरकार में 1984 के अधिनियम की धारा 3(1) के निबंधनों के अंतर्गत किसी क्षेत्र को "आतंकवादी क्षेत्र" घोषित करने की शक्ति निहित किया जाना किसी भी रूप में अविधिमान्य नहीं है।

(4) यह दलील कि 1987 के अधिनियम की धारा 3 और 4 इस आधार पर अभिखंडित किए जाने योग्य हैं कि दोनों धाराओं के अंतर्गत वे कार्य आते हैं जो साधारण विधि के अधीन अपराध गठित करते हैं और यह कि ऐसा कोई मार्गदर्शक सिद्धांत नहीं है कि किसी व्यक्ति को इन धाराओं के अधीन कब अभियोजित किया जाए नामंजूर की जाती है।

(5) "टाडा" अधिनियम की धारा 8 संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 को अतिक्रमण नहीं करती है।

(6) विधायी सक्षमता न होने के आधार पर धारा 9 की विधिमान्यता की बाबत आक्षेप निराधार है।

(7) हम "टाडा" की धारा 9 की उपधारा (7) की इस सुझाव के साथ अभिपुष्टि करते हैं कि केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारों को किसी न्यायाधीश को अभिहित न्यायालय का न्यायाधीश या अपर न्यायाधीश नियुक्त करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि न्यायाधीश के रूप में नामनिर्दिष्ट व्यक्ति के पास नियुक्ति के प्रारंभिक प्रक्रम पर भी पर्याप्त सेवा अवधि शेष है ताकि किसी व्यक्ति को यह शिकायत न हो कि अधिवर्षिता की प्राप्ति के पश्चात् अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश की सेवा जारी रखी गई है।

(8) महान्यायवादी द्वारा इस बाबत प्रस्तुत संकल्प पर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा "सहमति" प्रदान किए जाने का आदेश कि किसी राज्य में किसी अभिहित न्यायालय के समक्ष लंबित किसी मामले को उसी राज्य के भीतर या अन्य राज्य में किसी अन्य अभिहित न्यायालय को अंतरित कर दिया जाए मात्र कानूनी आदेश है, न कि न्यायिक आदेश क्योंकि किसी "वाद" का न्यायनिर्णयन और किसी विवाद्यक

का अवधारण नहीं होता है । अतः, धारा 11 की उपधारा (2) और (3) संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी नहीं हैं ।

(9) "टाडा" की धारा 15 न तो अनुच्छेद 14 और न ही अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करती है । तथापि केन्द्रीय सरकार ऐसे कतिपय दिशानिर्देश अधिकथित कर सकती है जो हमने सुझाए हैं और उन्हें अधिनियम और इसके अधीन बनाए गए नियमों में समुचित संशोधन करके सम्मिलित कर सकती है ।

(10) धारा 16(1) को दी गई चुनौती पर 1994 के संशोधन अधिनियम 43 द्वारा अभिहित न्यायालय को गुप्त रूप में कार्यवाहियां आयोजित करने या न आयोजित करने की बाबत विवेकाधिकार देते हुए नवीन जोड़ी गई उपधारा प्रतिस्थापित किए जाने को दृष्टिगत करते हुए किसी भी रूप में विचार करना आवश्यक नहीं है ।

(11) धारा 16 की उपधारा (2) और (3) अभिखंडित किए जाने योग्य नहीं हैं । तथापि, प्रतिपरीक्षा के प्रयोजन और उद्देश्य को सुनिश्चित करने के लिए हम उपर्युक्त **विमल कौर**[1] वाले मामले में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के इस मत की अभिपुष्टि करते हैं, कि "विचारण के प्रारंभ होने से पूर्व साक्षियों की पहचान, नाम और पते प्रकट किए जा सकते हैं" किंतु ऐसा इस अपवाद के अध्यधीन किया जाएगा कि न्यायालय विशेष कारणवश अपनी बुद्धिमत्ता में साक्षियों विशेषकर उन संभावी साक्षियों जिनके जीवन को खतरा हो सकता है की पहचान और पते प्रकट न करने का विनिश्चय कर सकता है ।

(12) धारा 19 के अधीन उपबंधित विद्यमान अपील उपबंध सांविधानिकतः अविधिमान्य नहीं हैं । तथापि व्यथित व्यक्ति द्वारा अपील उपबंधों के अधीन सामना की जाने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए संसद् अपील उपबंधों में आवश्यक संशोधन करके प्रतितोष का उपयुक्त उपाय अभिकल्पित कर सकती है, जैसा कि धारा 19 की विधिमान्यता की चर्चा के दौरान सुझाया गया ।

(13) धारा 20 की उपधारा (3) और (4)(क) में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 और 167 के क्षेत्र के अंतर्गत कार्यपालक मजिस्ट्रेट और विशेष कार्यपालक मजिस्ट्रेट को इन्हें ऐसे किसी मामले के संबंध में जिसमें "टाडा" या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय अपराध अंतर्वलित है लागू करने की बाबत सम्मिलित करने के कारण किसी प्रकार का दोष नहीं है । इसी प्रकार, विशेष न्यायालय अधिनियम, 1984 की धारा 15 के खंड (क) में किसी प्रकार की खामी नहीं है ।

(14) अधिनियम और इसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन किसी मामले के संबंध में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 को लागू किए जाने को अपवर्जित करने वाली "टाडा" की धारा 20(7) के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि यह

---

[1] ए० आई० आर० 1988 पंजाब-हरियाणा 95.

संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए रूप में किसी व्यक्ति को दैहिक स्वतंत्रता से अपवंचित करती है।

(15) उत्तर प्रदेश राज्य में दंड प्रक्रिया संहिता (उ०प्र०) संशोधन, 1976 की धारा 9 द्वारा धारा 438 के लागू किए जाने को समाप्त किया जाना संविधान के अनुच्छेद 14 या 19 या 21 का अतिक्रमण नहीं करता है और राज्य विधान-मण्डल इस धारा को निकालने के लिए सक्षम है और यह समवर्ती सूची (सातवीं अनुसूची की सूची 3) में दी गई बातों में से एक है और यह निकाला जाना संविधान के अनुच्छेद 254(2) के अधीन विधिमान्य है।

(16) "टाडा" की धारा 20 की उपधारा 8 जो इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति को जमानत पर छोड़े जाने पर पाबंदी अधिरोपित करती, तथापि यह पाबंदी इस उपधारा के खण्ड (क) और (ख) में दी गई मात्र दो शर्तें पूरी किए जाने तक ही सीमित है यह नहीं कहा जा सकता कि यह संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए सिद्धांत का अतिलंघन करती है।

(17) यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन जमानत का आवेदन ग्रहण करने और 1987 के अधिनियम के अधीन मामलों से संबंधित किसी प्रकार के आदेश पारित करने की कोई अधिकारिता नहीं है, इस शक्ति का प्रयोग विरलतम मामलों में और वह भी मात्र विरल और समुचित मामलों में असाधारण परिस्थितियों में किया जाना चाहिए। तथापि न्यायिक अनुशासन और न्यायालयों के शिष्टाचार की यह अपेक्षा है कि उच्च न्यायालयों को ऐसे मामलों में असाधारण अधिकारिता के प्रयोग किए जाने से बचना चाहिए।

(18) "टाडा" की धारा 22 संविधान के अनुच्छेद 21 में दी गई ऋजु और युक्तियुक्त प्रक्रिया के विरुद्ध होने के कारण अभिखंडित की जाती है।

399. अनुच्छेद 21 में दिए गए "शीघ्र विचारण" के सिद्धांत को देखते हुए जो कि हमारे संविधान में प्रत्याभूत और परिरक्षित जीवन और स्वतंत्रता का मूल अधिकार है और जो कि विशेष न्यायालय अधिनियम, 1984 और "टाडा", 1987 में अभिव्यक्त संकल्पना है, अभिहित न्यायालयों को उनके समक्ष लंबित मामलों को अयुक्तियुक्त विलंब की किसी प्रकार की शिकायत का अवसर दिए बिना निपटाना चाहिए। संबंधित सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि अभिहित न्यायालय के पीठासीन अधिकारी की कोई रिक्ति खाली न पड़ी रहे और उसे ज्यूं ही कोई रिक्ति उद्भूत हो उसको शीघ्रातिशीघ्र भरने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिएं और यदि आवश्यक हो, तो और भी अभिहित न्यायालय गठित करने चाहिएं ताकि "टाडा" के उपबंधों से आरोपित विचारणाधीन व्यक्ति अनिश्चित काल तक जेल में न पड़े रहें और मामलों का निपटारा शीघ्रातिशीघ्र हो सके।

400. परिणामतः, उठाए गए विधिक प्रश्नों जिन पर चर्चा की गई का उत्तर तद्नुसार दिया जाता है। रिट याचिकाओं, दांडिक अपीलों और विशेष इजाजत याचिका का

निपटारा बिना खर्चे के तद्नुसार किया जाता है। प्रत्येक मामले के तथ्यों पर आधारित दलीलों का विनिश्चय समुचित न्यायपीठ द्वारा अलग से किया जाएगा।

401. इस निर्णय को सुनाए जाने से पूर्व, हम विद्वान अपर महासालिसिटर, विद्वान ज्येष्ठ काउंसेल और उन अधिवक्ताओं द्वारा प्रदान की गई बहुमूल्य और श्रमसाध्य सहायता तथा सहयोग के लिए आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने अंतर्वलित जटिल विधिक प्रश्नों का गहन अध्ययन करके और सांविधानिक तथा दंड विधि की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अपने व्यापक ज्ञान के आधार पर विश्लेषण और अनुसंधान करके हमारे समक्ष सूचीबद्ध इन समस्त याचिकाओं और अपीलों में उठाए गए मुद्दों पर विरोधी विचार व्यक्त किए।

402. **न्या० के० रामस्वामी**—मुझे अपने विद्वान बंधु न्या० रत्नवेल पांडियन का विद्वतापूर्ण निर्णय पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ है जो मेरे लिए अत्यंत श्रद्धा के पात्र हैं। किंतु विधि में व्यष्टियों का सम्मान करने और उनके समादेश का पालन करने के लिए कोई स्थान नहीं है फिर भी उनकी उस विद्वता के प्रति अत्यधिक सम्मान की भावना रखते हुए, जिसकी अनुभूति किसी नैमित्तिक पाठक को भी होती है, मैं इन तीन प्रविषयों के संबंध में अलग मार्ग अपनाना चाहूंगा : धारा 9(7) की सांविधानिकता, धारा 15 और आंशिक रूप से अधिनियम के अंतर्गत आने वाले प्रविषयों के संबंध में उच्च न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 226 के अधीन शक्ति के प्रयोग का औचित्य। मामले के अन्य पहलुओं के संबंध में मैं उनसे पूर्ण रूप से सहमत हूं।

403. पंथ निरपेक्ष और समाजवादी गणतंत्र के संविधान की उद्देशिका में भारत के जिस राजनीतिक और सामाजिक प्रजातंत्र की परिकल्पना की गई है वह न्याय, समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व पर आधारित है, यह वह गणतंत्र है, जिसमें समतावादी अखंड भारत के हर व्यष्टि के पास अपने व्यक्तित्व की गरिमा और प्रतिष्ठा बनाए रखने का प्रयत्न करने का समान अवसर है। न्याय, समता और कथित स्वतंत्रताओं का, जिनमें अभिव्यक्ति, विश्वास और संचरण की स्वतंत्रताएं सम्मिलित हैं, अधिकार व्यष्टि की उक्त गरिमा का साधन है। व्यक्ति की मानवीय प्रतिष्ठा सहित प्राण का अधिकार एक ऐसा मूल अधिकार है जो हर नागरिक को अपनी गरिमा बनाए रखने के लिए प्राप्त है। मानव के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता एक आधारभूत शर्त है। संविधान का अनुच्छेद 21 प्राण के अधिकार को संरक्षण प्रदान करता है जो किसी सभ्य समाज में सर्वाधिक मूल्यवान अधिकार है। उक्त त्रिपुटी अर्थात् स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व, मानव की प्रतिष्ठा के पुष्प को मुकुलित और सजीव बनाती है। वैयक्तिक स्वतंत्रता का अधिकार एक ऐसा उपहार है जिसे लोकतंत्र ने मानव शक्ति को प्रदान किया है। अनुच्छेद 19 के अधीन प्राण और दैहिक स्वतंत्रता ऐसे मूल्यवान रत्न हैं जिनका आश्वासन संविधान के अनुच्छेद 20 (3), 21 और 22 ने दिया है तथा अनुच्छेद 19 संचरण की स्वतंत्रता की गारंटी देता है। स्वतंत्रता का लक्ष्य न केवल मनमाने अवरोध से स्वतंत्रता प्राप्त करना है बल्कि ऐसी दशाएं भी सुप्राप्त करना है जो मानव के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अनिवार्य हैं। स्वतंत्रता अन्य अधिकारों से अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई एक ऐसी वस्तु है जिसके बिना मनुष्य अपनी अत्युच्च स्थिति में नहीं आ सकता। सभी नागर स्वतंत्रताओं का सार यही है कि व्यष्टि की स्वतंत्रता संबिधान के भाग 4 में वर्णित राज्य की नीति के नीति निदेशक तत्वों में प्रकल्पित सामाजिक कल्याण के

साथ सामंजस्य रखने वाले भाग 3 में वर्णित मूल अधिकारों वाले अध्याय के विभिन्न अनुच्छेदों में प्रकल्पित सामाजिक नियंत्रण की परिसीमाओं के अधीन रहते हुए व्यष्टि की स्वतंत्रता जीवंत बनाई रखी जाए। स्वतंत्रता तब तक चिरस्थायी नहीं हो सकती जब तक उसे व्यवस्था का साथ न मिले। व्यवस्था के बिना स्वतंत्रता का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। स्वतन्त्रता और व्यवस्था सहअस्तित्वशील हो सकती हैं। यह अनिवार्य है कि स्वतन्त्रता का प्रयोग प्राधिकार के अधीन किया जाए और व्यवस्था उस प्राधिकार से लागू की जाए जो पूर्ण रूप से कार्यपालिका में निहित हो। किसी कल्याणकारी राज्य में मूल अधिकार, साधन और निदेशक तत्व साध्य होते हैं। व्यष्टि का पुलिस राज से निकलकर कल्याणकारी राज्य में पहुंचना उस लोकतांत्रिक समाज का स्वीकृत मानदंड है जो कि संविधान का घोषित आदेश है। यद्यपि लोकतांत्रिक शासन का एक मुख्य कार्य व्यष्टि की स्वतंत्रता का संरक्षण करना है फिर भी यदि स्वतंत्रता पर सामाजिक नियंत्रण नहीं है तो यह या तो समाज विरोधी बन जाती है या राज्य की सुरक्षा को क्षति पहुंचाती है। विधि के शासन से संबंधित भारतीय लोकतंत्र का लक्ष्य न केवल अपने नागरिकों के मूल अधिकारों का संरक्षण करना है अपितु समतावादी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना भी है। व्यष्टि को अपना विकास उसके असामाजिक अथवा बेलगाम (अनियंत्रित) विकास को रोकने वाली सामाजिक मर्यादाओं के भीतर रहकर ही करना है जो व्यष्टि की स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण में तालमेल बिठाकर ही किया जा सकता है। समाज के हित में स्वतंत्रता पर नियंत्रण लगाया जाना चाहिए किंतु सामाजिक हित को कभी उतना हावी नहीं होने देना चाहिए कि उसके आधार पर व्यष्टिक स्वतंत्रता का पूर्ण वंचन न्यायोचित ठहराया जा सके। अकेली स्वतंत्रता का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता वह किसी अन्य धारणा से युग्मित होनी चाहिए जैसे स्वतंत्रता ओर नैतिकता, स्वतंत्रता और विधि, स्वतंत्रता और न्याय, स्वतंत्रता और सर्वकल्याण, स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व, जो कि व्यवस्थित प्रगति और सामाजिक स्थायित्व की सहगामी धारणाएं हैं। मनुष्य को समझदार व्यष्टि होने के नाते अन्य व्यक्तियों के समान अधिकारों से सामंजस्य रखते हुए और प्रतिकूल इच्छाओं की प्राप्ति से अलग रहते हुए रहना है। अंतर्ग्रंथित जाल को आचरण के उन स्पष्ट दायरों के भीतर चित्रित करना कठिन है जिनके भीतर कार्रवाई करने की स्वतंत्रता परिरुद्ध की जा सकती है। अतः स्वतंत्रता हर समय किसी परमाधिकार वाली अनुज्ञप्ति के रूप में कार्य नहीं करेगी बल्कि इसे विधि की मर्यादाओं के भीतर रहते हुए स्वयं को अस्त्रसज्जित करना चाहिए। दूसरे शब्दों में सामाजिक अवरोध के बिना स्वतंत्रता का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः किसी सामाजिक संकल्पना के रूप में, स्वतंत्रता एक ऐसा अधिकार है जो किसी समाज के सभी सदस्यों के लिए सुनिश्चित किया जाना है। जब तक समाज के सभी सदस्यों पर अवरोध न लगाया जाए और वे सभी उसे स्वीकार न कर लें तब तक यह माना जाना चाहिए कि कुछ व्यक्तियों की स्वतंत्रता में अन्य व्यक्तियों का दमन अंतर्वलित है। यदि स्वतंत्रता कोई सामाजिक व्यवस्था मान ली जाए तो स्वतंत्रता स्थापित करने की समस्या उस अवरोध की व्यवस्था करने की समस्या होगी समाज जिसका प्रयोग व्यष्टि पर करता है। अतः प्रत्येक नागरिक की स्वतन्त्रता बहुसंख्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के अनुकूल और उसकी अधीनस्थ होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उसका लक्ष्य सभी की प्रसन्नता होनी चाहिए, कहीं ऐसा न हो कि अव्यवस्था और अराजकता समाज की समृद्धि और सामंजस्य को भ्रष्ट कर दें और

शक्तिशाली विघटनकारी ताकतें समाजकल्याण और व्यवस्था को क्षीण करने में लग जाएं। इस प्रकार नागर स्वतन्त्रता का सारतत्व यही है कि सामाजिक नियंत्रण की परिसीमा के अधीन रहते हुए जिसे गतिमान सामाजिक विकास की आवश्यकताओं के अनुसार ढाला जा सकता है, व्यष्टि की स्वतंत्रता जीवंत बनाई रखी जाए।

404. समाज के प्रति दायित्व का निर्वाह करते हुए व्यष्टि को यथासंभव स्वतंत्र बनाए रखना आधुनिक सामाजिक विकास की बढ़ती हुई आवश्यकता है। डा० अम्बेडकर ने संविधानसभा में समापन भाषण देते समय यह कहा था कि स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के सिद्धांत अलग-अलग न माने जाकर एक त्रिपुटी (ट्रिनिटी) माने जाने चाहिए। वे इस अर्थ में एकता अथवा त्रिपुटी का गठन करते हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना लोकतंत्र के मूल उद्देश्य को ही विफल करना है। स्वतंत्रता को समता से अलग नहीं किया जा सकता और न ही समता और स्वतंत्रता को बन्धुत्व से अलग किया जा सकता है। समता के बिना स्वतन्त्रता विधि के वर्चस्व को जन्म देगी। स्वतंत्रता के बिना समता व्यष्टि की प्रेरक शक्ति की हत्या कर देगी। बन्धुत्व के बिना, स्वतंत्रता और समता कार्य-व्यापार का सहज मार्ग नहीं बन जाएगी अत: न्यायालयों को सहज प्रहरी के रूप में, आदेशों के अनुसार शांतिमय रूपांतरण के लिए समाज की परिवर्तनशील आवश्यकताओं तथा नागरिकों के अधिकारों के बीच संतुलन स्थापित करना चाहिए।

405. जैसा कि देखने में आया है, समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना राज्य का एक कर्तव्य है। अपनी इस भूमिका को अदा करते समय, राज्य अपराधी का न केवल अभियोजक होता है बल्कि वह अपराध का अन्वेषक भी होता है। ऐसे अन्वेषण को सुकर बनाने के उद्देश्य से पुलिस को संदिग्ध व्यक्ति को बिना वारंट गिरफ्तार करने, उससे अभि-रक्षा में पूछताछ करने, उसकी तलाशी लेने और उससे अपराध में फंसाने वाली सामग्री अभि-गृहीत करने की व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं जिससे कि साक्ष्य एकत्रित किया जा सके और अपराधी को अभियोजित किया जा सके। किसी व्यक्ति को उसकी प्रतिष्ठा, आत्मसम्मान और उसके प्राण के अनतिक्रमणीय अधिकार से विधि द्वारा नियत उन्हीं विहित परिसीमाओं के भीतर रहकर, जिनका न्यायालयों ने मनोयोग से पर्यवेक्षण किया हो, ही वंचित किया जा सकेगा तथा कार्यपालिका की ज्यादतियों पर कठोर रूप से रोक लगाई जाएगी। स्वतंत्रता के बिना अत्यधिक प्राधिकार असहनीय होता है। इसी प्रकार प्राधिकार और उत्तरदायित्व के बिना अत्यधिक स्वतंत्रता भी शीघ्र ही असहनीय बन जाती है ऐसा न हो कि स्वतंत्रताएं और अधिकार कार्यसाधकता की बलि वेदी पर चढ़ाई जाने वाली वस्तुएं बनकर न रह जाएं। अनिर्बंधित स्वतंत्र अपराधियों के जीवन को अत्यंत सुगम और विधि का पालन करने वाले व्यक्तियों के जीवन को अत्यंत कठिन बना सकता है। किसी मुक्त समाज में बहुत से धूर्त व्यक्ति विधि को खुलेआम तोड़ते है, युवा शक्ति के जीवन को कुप्रभावित करते हैं, मादक औषधियों का दुर्व्यापार करते हैं और मुक्त रूप से तस्करी में लिप्त रहते हैं तथा विधि की दुर्बल कड़ियों का फायदा उठाने के लिए मूल अधिकारों का दावा करते हैं और हिंसा तथा वाणिज्यिक छल करने में लगे रहते हैं। हमारे जीवन-मूल्यों में इसलिए घोर क्षरण हो रहा है क्योंकि बहुत से नैतिक आधारहीन व्यक्तियों का स्वतन्त्रता का और मुक्त होकर कार्य करने का दावा इक्लेयर चाकलेट का दावा करने से अधिक नहीं होता जिसके कारण हिंसक अप-राधियों की संख्या में वृद्धि होना अवश्यंभावी है।

1994(3) eILR(PAT) SC 1

406. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 संक्षेप में संहिता, और उसकी पूर्ववर्ती दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 इस क्षेत्र में डटी रहीं। किसी संज्ञेय अपराध की दशा में जहां तक व्यवहार्य और युक्तियुक्त हुआ है, पुलिस को आद्योपांत अन्वेषण करने की शक्ति प्रदान की गई है जिससे कि अपराध के अभिकथनों के बारे में विधि द्वारा अधिकथित सीमाओं के भीतर रहकर सभी सुसंगत इत्तिला और तथ्य एकत्रित करके अभियुक्त को विचारण के लिए पेश किया जा सके। यदि कोई संदिग्ध व्यक्ति गिरफ्तार है तो न्यायालय तक की यात्रा का समय निकालकर उसे यथासंभव शीघ्र 24 घंटों के भीतर मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया जाए। यद्यपि पुलिस की सहायता करना हर व्यक्ति का सामाजिक और कानूनी कर्तव्य है फिर भी इस नियम के अपवाद बनाए गए हैं और स्वतः दोषारोपण के विरुद्ध मूल अधिकार के रूप में संविधान के अनुच्छेद 20(3) और 21 के अधीन सांविधानिक परमादेश दिया गया है। डिक्लेरेशन आफ ह्यूमन राइट्स के अनुच्छेद 3 में इस बात का आश्वासन दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्राण-स्वातंत्र्य और शरीर की सुरक्षा का अधिकार मिले। अतः संविधान और डिक्लेरेशन आफ ह्यूमन राइट्स दोनों का यह संकल्प है कि किसी भी व्यक्ति को अपने विरुद्ध बयान देने के लिए विवश नहीं किया जाएगा। दूसरे शब्दों में, प्रक्रियात्मक नियंत्रण कार्यपालक अधिकारियों की ज्यादतियों का निवारण करने और उनके कार्यों को सभ्यता का जामा पहनाने के मूल्यवान साधन हैं। अतः अनुच्छेद 20 (3) और 21 प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्राण के अधिकार के एक अंग के रूप में स्वतः दोषारोपण के विरुद्ध विशेषाधिकार प्रदान करते हैं जो विशेषाधिकार बहुत से आधारभूत मूल्यों को द्योतित करता है जिनमें से प्रमुख हैं—अपराध करने के संदिग्ध व्यक्तियों के साथ स्वतः दोषारोपण का क्रूर या अमानवीय व्यवहार करने और उन्हें शारीरिक रूप से प्रताड़ित करने की अनिच्छा। यह निर्दोष के लिए संरक्षण अथवा दोषी के लिए आश्रय अथवा ढाल का काम कर सकता है किंतु जहां तक संविधान में उपलभ्य संरक्षण का संबंध है उससे किसी व्यक्ति को संविधान के अनुच्छेद 20 से 22 के परमादेश के अनुरूप विधि के अनुसार ही वंचित किया जा सकता है।

407. संदिग्ध व्यक्ति से अभिरक्षा में जो पूछताछ की जाती है उसके कारण उसके शरीर और प्रतिष्ठा के साथ दुर्व्यवहार होने तथा तथ्यों की विकृति अथवा छलसाधन के कारण उसके अपराध में फंसने का खतरा बना रहता है। किसी भी व्यक्ति को शारीरिक प्रताड़ना अथवा यातना नहीं दी जानी चाहिए। इस सिद्धांत का अतिलंघन किए जाने पर लोग दण्ड न्याय व्यवस्था की कारगरता में अपना विश्वास खो देते हैं। पुलिस की हवालात में दबाव और तनाव की दशाओं में पूछताछ की जाती है और संदिग्ध व्यक्ति को निर्दोष होने पर भी अत्यधिक तनाव की स्थिति से गुजरना पड़ सकता है जबकि अपेक्षित सूचना को छिपाने वाला अभिरक्षाधीन अपराधी भ्रम और छलसाधन दोनों का शिकार बन सकता है। अतः निर्दोष व्यक्ति को दोषसिद्धि से बचाने तथा समाज की इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए कि अपराधी को निश्चित रूप से दण्ड मिले, नाजुक संतुलन बनाए रखना आवश्यक है। साथ ही, हर व्यक्ति को संविधान के अनुच्छेद 20 (3) के अधीन स्वतः दोषारोपण के विरुद्ध अधिकार तथा मौन रहने का अधिकार प्राप्त है जिससे यह विवक्षित होता है कि वह पुलिस से अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति से स्वतंत्र है। किंतु जब पुलिस किसी संदिग्ध व्यक्ति से पूछताछ करती है तो वह अपने प्राधिकार का इसलिए दुरुपयोग करती है क्योंकि उसके पास उसकी नैतिक स्थिति का शोषण करने का निरंकुश अवसर होता है और वह

अपने यहां बन्द व्यक्ति को अपने बेहतर निर्णय के विरुद्ध इकबाल करने के लिए प्रेरित करती है। यही कारण है कि प्राधिकार रखने वाला व्यक्ति अपने यहां बन्द व्यक्ति से प्रश्न पूछता है और उस पर उत्तर देने के लिए दबाव डालता है। उसे भयभीत बन्द व्यक्ति का मौन खलता है और वह उससे कुछ न कुछ उगलवाने के लिए उतारू हो जाता है और वह बन्द व्यक्ति के मन में यह विश्वास प्रेरित करता है कि यदि वह इकबाल कर ले तो वह शारीरिक यातना से बच सकता है या उसकी जमानत हो सकती है या उसे कम दण्ड देने का वचन दिया जा सकता है। सूझबूझ वाला अन्वेषणकर्ता इकबाल कराने के सभी सफल हथकण्डों को इस्तेमाल करता है जिनकी चर्चा नीचे की जा रही है।

408. कुमार अमरशेखर, व्याख्याता, विधि संकाय, मनाश विश्वविद्यालय द्वारा लिखित "कन्फेशंस : रीसेंट डेवलपमेंट्स इन इंग्लैंड एंड आस्ट्रेलिया" [इंटरनेशनल एंड कंपैरेटिव ला क्वार्टरली, खंड 29, (1980) पृ० 327-329] लेख में अभियुक्त के साथ किए जाने वाले दमनात्मक व्यवहार के आधार पर इकबाल के अपवर्जन का वर्णन विशद रूप से किया गया है। यह कहा गया है कि आस्ट्रेलिया की क्रिमिनल ला रिवीजनल कमेटी ने यह सिफारिश की कि अभियुक्त के साथ किए जाने वाले दमनात्मक व्यवहार का उपयोग इकबाल के अपवर्जन का अतिरिक्त आधार होना चाहिए। संत्रास अथवा असम्यक् आग्रह या दबाव कुछ ऐसे अन्य आधार हैं जो इकबाल को अस्वैच्छिक बना सकते हैं। संदिग्ध व्यक्ति पर इकबाल करने के लिए लंबे समय तक दबाव बनाए रखना आस्ट्रेलिया में इकबाल के अपवर्जन का आधार माना गया है। यह प्रश्न उत्पन्न होने पर, कि ऐसा दबाव सतत पूछताछ द्वारा डाला गया था या कि किसी अन्य साधन द्वारा, जैसे कि मानसिक और शारीरिक दबाव डाल कर, स्वेच्छा का प्रश्न उसकी मात्रा के संदर्भ में विनिश्चित करना आवश्यक हो जाता है। मैसाच्युसेट्स विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र के आचार्य एडिसन डी० ड्राइवर कृत कन्फेशन एंड दी सोशल साइकोलाजी आफ कोअर्सन [1968-69(28) हार्वर्ड ला रिव्यू पृ० 42-48, 50-60] में यह मत व्यक्त किया गया है कि स्वेच्छाधीनता इकबाल की ग्राह्यता की कसौटी है। न्यायालयों को मानसिक यातना और शारीरिक प्रताड़ना पर विचार करना है तथा प्रतिपादी विशेष को दी गई धमकियों और उसकी विशेष खामियों और गुणों का मूल्यांकन करके उन समग्र परिस्थितियों की बाबत अन्वेषण करना है जिनमें इकबाल किया गया। चूंकि अभिरक्षा में की जाने वाली पूछताछ अत्यंत गुप्त प्रकृति की होती है अतः न्यायालयों को आक्षेपणीय आधार सामग्री से यह अनुमान लगाना पड़ता है कि संदिग्ध व्यक्ति के साथ क्या क्या बात घटित हुई होगी। पुलिस अपराध का इकबाल कराने के लिए सफल हथकंडे अपनाती है। आत्म विश्वास का परम महत्व होता है जो पूछताछ के दौरान अक्षुण्ण नहीं बना रह सकता। शारीरिक यातना अथवा धमकियों के अलावा, मानसिक प्रपीड़न, लंबे समय तक निरोध और पूछताछ कानूनी अभिलाभों के वचन आदि भी कुछ ऐसे आधार हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि इकबाल स्वेच्छापूर्वक किया गया है। पूछताछ के परिवेश और पूछताछ करने वाले व्यक्ति की प्रवृत्तियों के अलावा, पूछताछ करने वाले नीतिनिपुण व्यक्ति के पास अपराधी से इकबाल कराने के पर्याप्त प्रेरक और छलसाधक हथकंडे शेष रह जाते हैं। पूछताछ करने वाला व्यक्ति प्रथमतः मौखिक रूप से और अपने हाव-भाव से संदिग्ध व्यक्ति के सामने यह प्रदर्शित करता है कि वह उसके दोषी होने का विश्वास करता है। इसके पश्चात वह अपने इस विश्वास के समर्थन में तथ्यात्मक प्रमाण देता है......। तथापि, दरिद्र

व्यक्तियों में, जो कि एक ऐसा प्रवर्ग है जिसमें अपराध करने वाले आधे से अधिक प्रतिवादी आ जाते हैं, आत्मविश्वास का और जोर देकर अपनी बात मनवाने का अभाव हो सकता है और इस प्रकार अपनी निष्क्रियता और अनिश्चितता के कारण अधिकांश संदिग्ध व्यक्ति उचित पूछताछ का भी दबाव नहीं सहन कर पाते। यह भी कि सरकार और प्रतिवादी के बीच असंतुलन गिरफ्तारी और निरोध से शुरू होता है क्योंकि इनके कारण निरुद्ध व्यक्ति पर वही असर पड़ता है जो उस पर पूछताछ का पड़ता है उसके मौन रहने का उलटा अर्थ लगाया जाता है। वह गिरफ्तार किए जाने पर आत्मदमन अथवा अत्यधिक तिरस्कार का अनुभव करता है अत: कानून की सत्ता के प्रतीकों द्वारा डाले जा सकने वाले भावात्मक दबाव और की जाने वाली पूछताछ और तिरस्कार से स्वयं को बचाने की इच्छा उच्च प्रास्थिति वाले व्यक्तियों में भी समाप्त हो जाएगी।

409. हार्वर्ड ला स्कूल के विधि के कनिष्ठ आचार्य आर्थर ई० सदरलैंड ने अपने "क्राइम एंड कन्फेंशन" नामक लेख में जो (1965-66, खंड 79, हार्वर्ड ला रिव्यू पृ० 21-25, 32, 35-37, 39-41, 93-97) में प्रतिवेदित है, यह मत व्यक्त किया है कि लोक प्राधिकारी के उत्साही कार्यपालक अभिकर्ताओं को चाहिए कि वे संदिग्ध व्यक्ति का अपराध निष्पक्ष न्यायिक अधिकारियों के समक्ष प्रदर्शित करें, तथा लोग इस सापेक्ष सिद्धांत पर जमे हुए हैं कि जब नागरिक पर अधिकारिक रूप से दोषारोपण किया जाता है जो वह निष्पक्ष रूप से मूक बनकर खड़ा रह जाता है। शताब्दियों के जिस अनुभव के आधार पर व्यक्तियों ने अभियुक्त की तरफदारी करने का रास्ता चुना है उसके बावजूद बहुत से वे अधिकारी, जिनसे लोग यह अपेक्षा करते हैं कि वे दंड विधि को लागू करने का दुष्कर कार्य करें, "संदिग्ध व्यक्तियों से पूछताछ करने और उनसे इकबाल कराने में सम्यक् साधन अपनाने की समझदारी के कायल नहीं होते" संभव है कि ऐसा अधिकारी यह मानता हो कि यह "सूक्ष्म सिद्धांत है"। बहरहाल हम उन व्यक्तियों के संबंध में इस सिद्धांत को ठीक मानते हैं जो गलत रूप से अभियुक्त बना दिए जाते हैं। किंतु जब हमारे सामने बदमाश लोग लाए जाते हैं तो हम उन्हें ऐसी बारीकियों के आधार पर समुचित दंड से बचकर निकलने नहीं दे सकते। किंतु अधिकारियों को ऐसे व्यक्तियों का पता होता है जिनका संबंध किसी न किसी रूप में घटना, संदिग्ध व्यक्ति के कुटुंब अथवा सहयोगियों, अपराधस्थल के निकट देखे गए व्यक्तियों अथवा ऐसे व्यक्तियों से होता है जिनके पूर्ववृत्त से यह संकेत मिलता है कि वे प्रश्नगत अपराध जैसे अपराध करते रहे हैं। यह बात निर्दोष व्यक्ति की दोषसिद्धि से भी बुरी है क्योंकि इसके कारण अंततोगत्वा दांडिक न्याय के संपूर्ण प्रशासन पर से जनता का विश्वास उठ जाता है संदिग्ध व्यक्ति के पूर्व जीवनवृत्त का अध्ययन करने वाले किसी व्यक्ति को यहां तक कि कभी-कभार समाचारपत्र पढ़ने वाले व्यक्ति को भी कायल न करने वाली यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब लोक अधिकारी संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य राज्यों के संविधानों का व्यापक रूप से अतिक्रमण करते हैं तथा स्वैच्छिकता के इन सनक भरे उदाहरणों का अनुसरण करते हैं। यदि संदिग्ध व्यक्ति को समीचीनता के आधार पर उसके सांविधानिक और विधिक अधिकारों से वंचित किया गया तो विधि को लागू करने की प्रणाली तथा उसे लागू करने में लगे व्यक्तियों को जो ख्याति मिली हुई है उसमें गिरावट आनी अवश्यंभावी है। अपराध किसी संक्रामक रोग के समान होता है। यदि सरकार ही विधि को भंग करने लगती है तो वह अन्य व्यक्तियों की दृष्टि में विधि के लिए अवमान की भावना को जन्म देती है,

वह हर व्यक्ति को कानून को अपने हाथ में लेने का आमंत्रण देती है और इस प्रकार वह अराजकता को बुलावा देती है। यह घोषणा करना कि दंड विधि के प्रशासन में साध्य साधन को न्यायोचित ठहराता है, अर्थात् यह घोषणा करना कि सरकार किसी प्राइवेट अपराधी की दोषसिद्धि सुनिश्चित करने के लिए स्वयं अपराध कर सकेगी, भयंकर प्रतिशोध की भावना को जन्म देगा। दांडिक न्याय के प्रशासन के क्षेत्र में संविधान की सत्ता स्थापित करने का वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों तथा अभियोजकों के लिए एकमात्र कारगर रास्ता यही है कि वे यह सुनिश्चित करने के लिए संविधान के परमादेश के अनुपालन पर जोर दें कि कोई भी बात ऐसी न हो जो अभियुक्त को उसके उस अधिकार से वंचित करती हो जो उसे अपनी बात मनवाने का हकदार बनाता हो। संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान एक ऐसी विधि है जो युद्ध और शांति, दोनों में, शासकों और प्रजाजनों को समान रूप से लागू होती है और जो हर परिस्थिति में हर समय हर वर्ग के व्यक्ति को अपने संरक्षण की ढाल की आड़ में रखती है। मनुष्य की बुद्धि ने इससे अधिक अपकारी परिणामों वाले किसी सिद्धांत का आविष्कार नहीं किया कि सरकार अत्यावश्यकता के समय उसके किसी उपबंध को निलंबित कर सकती है - सॉल एम० कैसिन तथा लारेंस एस० राइट्समैन द्वारा संपादित "साइकोलाजी आफ एविडेंस एंड ट्रायल" में पृष्ठ 78-80 पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह मत व्यक्त किया गया कि संदिग्ध व्यक्ति किसी विमुख स्थिति से बचने तथा अपने अनुकूल परिणाम प्राप्त करने के लिए तत्काल झूठा इकबाल कर लेता है। पूछताछ की प्रक्रिया एक सम्मोहन की भांति होती है। इस संबंध में वह पृष्ठ 690-91 पर फास्टर के "स्टेशन हाउस सिंड्रोम" नामक इस सिद्धांत के प्रति निर्देश करता है कि पुलिस द्वारा की जाने वाली पूछताछ तीव्रतर सुझाव ग्राह्यता वाली ऐसी सम्मोहन वाली स्थिति उत्पन्न कर सकती है जो संदिग्ध व्यक्ति के मस्तिष्क में सत्य और मिथ्या को गड्ड मड्ड करके उसे निराशाजनक रूप से भ्रमित कर देती है। उसने यह स्पष्ट किया कि सम्मोहन के कारण संदिग्ध व्यक्ति अपनी पहल शक्ति खो देता है और तीव्रतर कल्पना की दशा में उससे उत्तर सुझाने वाले जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनके कारण वार्तालाप और विकृति एक साथ मिल जाते हैं। वैंस्टीन अब्राहम्स और सब्बैस द्वारा किए गए अध्ययन की बाबत कहा जाता है कि उससे यह प्रकट होता है कि यदि संदिग्ध व्यक्ति पर सम्मोहन द्वारा दोषी होने की मिथ्या भावना आरोपित कर दी जाती है तो वह "पोलीग्राफिक लाई डिक्टेटर टेस्ट" (झूठ पकड़ने वाली मशीन) पर मिथ्या नहीं बोलेगा। उसने इस संबंध में हत्या के मामले में मस्टरबर्ग रिपोर्ट (1908) प्रोद्धृत की जिसमें अभियुक्त को संभवतः सम्मोहित करके उससे प्राप्त किए गए इस इकबाली बयान के आधार पर सिद्ध-दोष किया गया और प्राण दंड दिया गया कि उसने बेसी हौलिस्टर के साथ बलात्संग किया। सम्मोहन से अभिप्राप्त उस इकबाली बयान का आयुर्विज्ञानी विश्लेषण कराया गया। विचारण के समय उसने अपने पूर्वतर कथनों के प्रत्याख्यान में इस आशय का कथन किया "मैंने अपने सामने इस्पाती हाड़मांस के बने पुतले देखे। तत्पश्चात् ऐसे दो पुतले मेरे सामने आए। मुझे इस बारे में इससे अधिक कुछ और याद नहीं पड़ता। मैं मानता हूं कि मैंने ऐसे कथन अवश्य किए होंगे क्योंकि वे सभी कहते हैं कि मैंने ऐसे कथन किए किंतु मुझे ऐसी कोई जानकारी नहीं है कि मैंने ऐसे कथन किए।" बाद में यह साबित हुआ कि वे कथन सम्मोहन की दशा में किए गए थे। ह्यूगो मंस्टरबर्ग और विलियम जेम्स ने, जो उस समय के लब्ध प्रतिष्ठ मनोवैज्ञानिक थे, इस आशय के कुछ दृष्टांत दिए कि सत्य बोलने से प्रसामान्यतः जुड़ी दशाओं

1994(3) eILR(PAT) SC 1

में वह व्यक्ति जिससे पूछताछ की जा रही होती है उन मिथ्या बातों पर विश्वास करने लगता है जिन्हें कहने के लिए उसे प्रेरित किया जाता है। झूठा इकबाल कराने के लिए न्यूनतम प्रेरण तथा हल्का-सा प्रपीड़न ही काफी हो सकते हैं। ईस्ट एंगलिया के विश्वविद्यालय के रोजमैरी पेटेंडन द्वारा लिखित लेख "गुड कन्फेशंस बी कौरोबोरेटेड" जो 1991 ला क्वार्टरली रिव्यू, जिल्द 107 में प्रतिवेदित है) में पृष्ठ 318-19 पर यह कहा गया है कि प्रपीड़न स्थितिजन्य कारकों से पैदा किया जाता है अर्थात् प्राधिकार की स्थिति रखने वाले व्यक्ति द्वारा तथ्य के आधार पर दोषारोपण तथा संत्रासकारी परिवेश तथा पुलिस द्वारा पूछताछ की मनोवैज्ञानिक तकनीकों का प्रयोग। पुलिस सच्चा इकबाल कराने के लिए इन हथकंडों को उपयोग में लाती है किंतु कोई ऐसा निर्दोष संदिग्ध व्यक्ति जिस पर अभित्रास का असर हो सकता है उस बात का भी इकबाल कर सकेगा जो उसने की ही न हो। तथापि न्यायालयों के समक्ष आने वाले अधिकांश असत्य कथन संभवतः संदिग्ध व्यक्तियों द्वारा प्रपीड़ित होकर की गई शिकायतों के ही रूप में होते हैं। संदिग्ध व्यक्ति पृच्छाकर्ता को हां में हां मिलाता हुआ चलता है तथा उसकी बातों के औचित्य तथा अनौचित्य पर ध्यान नहीं देता जिससे कि वह उसे प्रसन्न करके अपने लिए कोई अस्थायी अभिलाभ प्राप्त कर सके—जैसे कि जमानत, किसी नागवार पूछताछ की समाप्ति संभवतः किसी हिंसा अथवा हिंसा की धमकी का अंत। न्यायालयीन विज्ञान के प्रख्यात मनोवैज्ञानिक आर्मस्ट्रांग के मतानुसार इकबाल विभिन्न श्रेणियों के अंतर्गत आता है। ए० ए० एस० सकरमैन द्वारा लिखित प्रिंसिपिल्स आफ क्रिमिनल एवीडेंस में पृष्ठ 302-306 पर यह कहा गया है कि अपनी स्वतंत्रता को राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप से बचाने के लिए पुलिस की शक्तियां कठोर रूप से परिसीमित की जानी हैं और उनका तत्परतापूर्वक पर्यवेक्षण किया जाना है संदिग्ध व्यक्ति से अभिरक्षा में जो पूछताछ की जाती है उसके परिणामस्वरूप संदिग्ध व्यक्ति को दो प्रकार से हानि हो सकती है जिससे विधि को उसका बचाव करना चाहिए— अर्थात् उसके शरीर अथवा प्रतिष्ठा को पहुंचने वाली हानि और उसके कथनों के विकृत होने अथवा उनमें जोड़-तोड़ होने का खतरा जिससे कि उसे अपराध में फंसाया जा सके। संदिग्ध व्यक्ति से थाने में जो पूछताछ की जाती है वह अक्सर दबाव और तनाव की दशाओं में की जाती है। अन्वेषणाधीन संदिग्ध व्यक्तियों को उस दशा में अत्यधिक तनाव झेलना पड़ सकता है जब उनके पास छिपाने के लिए कुछ हो या जिसे प्रकट करने में वे डरते हों भले ही वे निर्दोष व्यक्ति हों। ऐसे व्यक्ति दोहरे भ्रम अथवा छलसाधन के शिकार हो सकते हैं। यह मान लेने की दशा में कि अन्वेषक की यह सहज प्रवृत्ति होती है कि वह संदिग्ध व्यक्ति द्वारा दिए गए उत्तरों में इस प्रकार कतरब्योंत करता है जिससे एक प्रकार से उसके संदेह की पुष्टि होती है, कोई भी व्यक्ति इस बात को भलीभांति समझ सकता है कि इकबाली बयानों की अविश्वसनीयता असार्थक नहीं है। तथापि, विश्वसनीयता का बचाव करने की आवश्यकता, दोषसिद्धि से निर्दोष व्यक्ति के संरक्षण तथा समुदाय की यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता कि अपराधियों को दंड मिले, के बीच कोई विरोध आवश्यक रूप से उत्पन्न नहीं करती क्योंकि समुदाय केवल यही अपेक्षा करता है कि दोषी व्यक्ति की दोषसिद्धि हो न कि किसी निर्दोष व्यक्ति की। किसी संदिग्ध व्यक्ति के लिए अपने विशेषाधिकार पर जोर देना तथा पुलिस के प्रश्नों का उत्तर देने से इनकार करना कठिन काम है। पुलिस द्वारा की जाने वाली पूछताछ संदिग्ध व्यक्ति पर एक प्रकार का मानसिक दबाव डालती और उसके मन में इस बात का भय उत्पन्न करती है कि उसके मौन का अर्थ उसका दोषी होना लगा लिया जाएगा जिसके कारण वह झूठा इकबाली बयान दे

बैठता है। तथापि जब पुलिस संदिग्ध व्यक्ति से पूछताछ करती है तो उसके पास उसकी नैतिक स्थिति का दोहन करने तथा उसे अपने बेहतर निर्णय के विरुद्ध इकबाली बयान करने के लिए प्रेरित करने का अवसर होता है। बेंथम ने यह मत व्यक्त किया कि यही तथ्य कि जिस व्यक्ति के पास प्राधिकार होता है वह संदिग्ध व्यक्ति पर दबाव डालता है, डरे हुए अपराधी का मौन उसके कानों को खलता रहता है और ऐसी दशा में उसे इकबाली बयान ही दंडमोचन का साधन दिखाई देता है। शारीरिक यातना, धमकी, मानसिक प्रपीड़न, दीर्घ निरोध अथवा पूछताछ, प्रेरण, वचन आदि इकबाली बयान अभिप्राप्त करने के वे तरीके हैं जो स्वमेव प्रतिसिद्ध किए गए हैं। इसके अलावा पृच्छाकर्ता बंदी व्यक्ति तक यह बात संप्रेषित करता है कि उसे पूरा विश्वास है कि उसने अपराध किया है और उसके पास उस संबंध में प्रमाण हैं। हार्वर्ड ला रिव्यू, जिल्द 82 के पृष्ठ 48-50 पर प्रोफेसर ड्राइवर ने यह मत व्यक्त किया कि मनोवैज्ञानिक नियंत्रण, पृच्छाकर्ता द्वारा अपने आप ओढ़ी गई भूमिकाएं, कतिपय मनाने वाले अथवा छलसाधक हथकंडे संदिग्ध व्यक्तियों पर सारतः इतना असर डाल सकते हैं कि वे अपने विचारों और स्मृतियों में परिवर्तन कर लें।

410. इसमें कोई संदेह नहीं है कि सुनियोजित अपराध किए जा रहे हैं तथा अगणित निर्दोष लोगों की कीमती जानें समाप्त की जा रही हैं और निर्दोष जनसाधारण सार्वजनिक स्थानों पर बम रखने वाले आतंकवादियों और गिरोहबंदों की दया पर आश्रित हैं। वे जनता का मनोबल गिराने के लिए अथवा राजनीतिक सत्ता को धमकाकर उससे अपनी बात मनवाने अथवा संविधान की मर्यादाओं में सेंध लगाने की अपनी अभिकथित अवधारण अथवा कार्यक्रम को पूरा करने के लिए कानून का पालन करने वाले नागरिकों का अथवा कानून को लागू करने वाले अधिकारियों का अथवा अपने चारों ओर एकत्रित व्यक्तियों को अपने संहार का लक्ष्य आसानी से बना लेते हैं। वे विधि का घृणापूर्वक अतिक्रमण करते हैं और सामाजिक समगति और समरसता को अस्थिर बनाते हैं। बड़ी संख्या में बेरोजगार शिक्षित युवक अपराध और हिंसा करने में लगे हुए हैं। इस काम में पक्के अपराधी भी बड़ी संख्या में लगे हुए हैं। वे जघन्य अपराध करने के लिए आधुनिकतम परिष्कृत गोला-बारूद का इस्तेमाल कर रहे हैं।

411. यह बात भी इतनी ही सच है कि हितों का टकराव होने की दशा में व्यक्ति का हित सामाजिक हित का अनुसेवी बन जाएगा किंतु जब तक अधिकार के लिए उपचार उपलब्ध है तब तक विधि प्रवर्तन प्राधिकारी द्वारा विहित प्रक्रिया तथा उसके द्वारा उस संबंध में की गई कार्रवाई संविधान के परमादेशों की कसौटी पर खरी उतरनी चाहिए। "कस्टोडियल क्राइम्स" नामक विषय से संबंधित एक अर्वाचीन कार्यकारी शोध प्रबंध में, भारत के विधि आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि अभिरक्षा में हिंसा तथा पुलिस शक्ति का दुरुपयोग अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चिंता का विषय बना रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने 9 दिसम्बर, 1975 को एक घोषणा अंगीकृत की जिसका उद्देश्य था — व्यक्तियों का यातना से और अमानवीय अथवा अपमानजनक व्यवहार अथवा दण्ड से बचाव। वह घोषणा सदस्य राष्ट्रों को युद्ध की स्थिति, अथवा युद्ध की आशंका अथवा आंतरिक राजनीतिक अस्थिरता जैसी आपवादिक परिस्थितियों में भी उक्त यातना अथवा अमानवीय व्यवहार की अनुमति देने अथवा उसे सहन करने से प्रतिषिद्ध करती थी। उक्त घोषणा का अनुच्छेद 5 यह अपेक्षा करता था कि विधि प्रवर्तन अधिकारी यातना के संबंध में सर्वांगीण प्रशिक्षण प्राप्त करें। अनुच्छेद 7 यह अपेक्षा करता था कि पूछताछ, अभिरक्षा व्यवस्था तथा उसके तौर-तरीकों

पर पुनर्विचार किया जाए। यह घोषणा राष्ट्रों पर यह बाध्यता अधिरोपित करती है कि यातना के कृत्य राष्ट्रीय दंड विधि के अधीन अपराध बना दिए जाएं। उक्त घोषणा बाध्यकारी अंतर्राष्ट्रीय विधि का एक अंग है और हमारे देश में यह अभी तक लागू नहीं हुई है। साधारण सभा ने 17 दिसम्बर, 1979 को विधि प्रवर्तन अधिकारियों के लिए एक आचरण संहिता अंगीकार की जिसमें "आचार विषयक मानकों को फलोत्पादक रूप से बनाए रखने के लिए" पदाधिकारियों द्वारा पालनीय आधारभूत मापदंड विहित किए गए। उक्त घोषणा का अनुच्छेद 5 विधि प्रवर्तन अधिकारियों को यातना का कोई कृत्य करने अथवा उसे उत्तेजित करने अथवा सहन करने से प्रतिषिद्ध करता है। इसके पश्चात् एक अभिसमय द्वारा, जिसके 33 अनुच्छेदों में अधिक विशद प्रक्रिया का उपबंध किया गया है, 10 दिसम्बर, 1984 की एक अन्य घोषणा निकाली गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने 29 नवम्बर, 1985 को एक अन्य घोषणा अंगीकृत की जो "कारकस डिक्लेरेशन आन बेसिक प्रिंसिपिल्स आफ जस्टिस फार विक्टिम्स आफ क्राइम एण्ड एब्यूज आफ पावर" के नाम से अभिहित है और जो सदस्य राष्ट्रों पर यह बाध्यता अधिरोपित करती है कि वे शक्ति के आपराधिक दुरुपयोग को प्रतिषिद्ध करने वाली विधि को परिनिश्चित करें तथा उस विधि को भी परिनिश्चित करें जो शारीरिक प्रताड़ना को प्रतिषिद्ध करती है। उपर्युक्त कार्यकारी शोध प्रबंध (वर्किंग पेपर) में यह भी कहा गया है कि चूंकि भारत उक्त घोषणाओं और अभिसमय का एक पक्षकार है अतः उसका यह दायित्व बनता है कि वह शक्ति के दुरुपयोग को, जिसमें अभिरक्षा के अधीन दी जाने वाली यंत्रणा और की जाने वाली हिंसा, आदि सम्मिलित हैं, रोकने के लिए संविधान के अनुच्छेद 51 के अनुसार कारगर कदम उठाए।

412. न तो साक्ष्य अधिनियम, 1872 से, न ही दंड प्रक्रिया संहिता ने और न ही उसकी पूर्ववर्ती संहिता ने "संस्वीकृति" (कन्फेशन) को परिभाषित किया। इस न्यायालय ने **पलविंदर कौर** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में निम्नलिखित सिद्धांत प्रतिपादित किया—

> "संस्वीकृति या तो अपराध की बाबत अथवा हर दशा में उन सभी तथ्यों की बाबत की जानी चाहिए जो उस अपराध का गठन करते हों कोई ऐसी संस्वीकृति भी जो किसी ऐसे तथ्य की बाबत की गई हो जो अपराध में गंभीर रूप से अथवा निश्चायक रूप से फंसाने वाले तथ्य की बाबत की गई हो स्वयंमेव संस्वीकृति (इकबाली बयान) की कोटि में नहीं आती। कोई ऐसा कथन इकबाली बयान की कोटि में नहीं आ सकता जिसमें स्वयं को निरपराध घोषित करने वाली सामग्री अंतर्विष्ट हो बशर्ते कि निरपराध घोषित करने वाला कथन किसी ऐसे तथ्य की बाबत किया गया हो जो सत्य होने की दशा में इकबाल किए जाने के लिए अभिकथित अपराध को नकारात्मक बनाता।"

अतः संस्वीकृति से कतिपय ऐसे तथ्यों की अथवा सारतः उन सभी तथ्यों की स्वीकृति अभिप्रेत है जो किसी अपराध का गठन करते हों और जो अपराध से आरोपित व्यक्ति ने की हो और जो कथन की विषय वस्तु हो। **पकाला नारायण स्वामी** बनाम **किंग एम्परर**[2] वाले मामले में लार्ड ऐटकिन ने पृष्ठ 81 पर निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की :—

[1] (1953) एस० सी० आर० 94-104.

[2] 66 इंडियन अपील 66.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

"कोई ऐसी स्वीकृति भी, जो किसी ऐसे तथ्य की बाबत की गई हो जो अपराध में गंभीर रूप से अथवा निश्चायक रूप से फंसाने वाले तथ्य की बाबत की गई हों स्वयंमेव संस्वीकृति की कोटि में नहीं आती। उदाहरणार्थ—इस आशय की स्वीकृति की अभियुक्त उस चाकू अथवा रिवाल्वर का स्वामी था जो हाल ही में उसके कब्जे में पाया गया और जिससे हत्या कारित की गई और इस बाबत कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया कि वह किसी अन्य व्यक्ति के कब्जे से मिला।"

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 24 से 30 इकबाली कथन के साबित किए जा सकने अथवा उसकी सुसंगति की बाबत लागू होती हैं। किसी अभियुक्त व्यक्ति द्वारा किया गया कोई इकबाली कथन उस दशा में असंगत होता है जब न्यायालय को यह प्रतीत होता हो कि वह प्राधिकारवान व्यक्ति की ओर से आरोप के संबंध में दी गई उत्प्रेरणा, वचन अथवा धमकी के अधीन किया गया है। साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 में स्पष्ट रूप से यह उपबंध किया गया है कि किसी पुलिस आफिसर से की गई कोई भी संस्वीकृति किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध साबित नहीं की जाएगी। धारा 24 के अधीन आंशिक अथवा धारा 25 के अधीन पूर्ण वर्जन, धारा 26 के संदर्भ में भी इस अर्थ में लागू होता है कि कोई भी संस्वीकृति जो किसी व्यक्ति ने उस समय की हो जब वह पुलिस आफिसर की अभिरक्षा में हो, ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध साबित न की जाएगी जब तक कि वह मजिस्ट्रेट की साक्षात उपस्थिति में न की गई हो। धारा 27, धारा 24, 25 और 26 अपवाद का सर्जन करती है और यह उपबंधित करती है कि जब किसी तथ्य के बारे में यह अभिसाक्ष्य दिया जाता है कि अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से, जो पुलिस आफिसर की अभिरक्षा में हो, प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप उसका पता चला है, तब ऐसी जानकारी में से, उतनी चाहे वह स्वीकृति की कोटि में आती हो या नहीं, जितनी एतद्द्वारा पता चले हुए तथ्य से स्पष्टतः संबंधित है, साबित की जा सकेगी। धारा 28 से 30 में दिए गए उपबंधों का विवेचन करना हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत नहीं है। धारा 24 से 30 का लक्ष्य अभियुक्त व्यक्ति को इस बाबत संरक्षण प्रदान करना है कि वह अपनी स्वयं की क्षीणता अथवा अन्य व्यक्तियों के छलसाधन का शिकार बनकर स्वयं को अपराध में फंसाने वाला कोई कथन न करे। अतः इकबाली बयान आश्वस्त होकर प्राप्त नहीं किया जाता यदि उसका स्रोत संदेह की हल्की सी झलक से भी मुक्त नहीं है। इससे पूर्व कि अभियुक्त इकबाली बयान दे उसका मस्तिष्क संतुलित होना चाहिए और उस पर किसी प्रकार के भय, अथवा उत्प्रेरणा की छाया तक नहीं होनी चाहिए। अतः अभियुक्त को दी गई धमकी अथवा उसे दिया गया वचन अथवा उत्प्रेरणा इकबाली बयान को असंगत बना देती है और उसे विचार क्षेत्र से अपवर्जित कर देती है। अभियुक्त द्वारा किसी पुलिस आफिसर के समक्ष उस समय किया गया इकबाली बयान, जब वह अभिरक्षा में हो या जब तक वह उसके समक्ष अभियुक्त बनकर न आया हो, उसके विरुद्ध ऐसी किसी कार्यवाही में साबित नहीं किया जा सकता जिसमें उस पर उक्त अपराध को करने का आरोप लगाया गया हो। इसी प्रकार अभियुक्त द्वारा किसी व्यक्ति के समक्ष उस समय किया गया इकबाली बयान, जब वह पुलिस आफिसर की अभिरक्षा में हो किसी ऐसी कार्यवाही में, जिसमें उस पर उस अपराध को करने का आरोप लगाया गया हो, तब तक साबित नहीं किया जा सकता जब तक वह मजिस्ट्रेट की साक्षात उपस्थिति में न किया गया हो। पुलिस आफिसर के बारे में यह बात गर्भित रूप से विद्यमान रहती है कि उसने अभियुक्त

का इकबाली बयान अभिप्राप्त करने में प्रपीड़न का सहारा लिया है। अत: धारा 25 के अधीन किसी पुलिस आफिसर के समक्ष किया गया इकबाली बयान साक्ष्य के पूर्ण रूप से अपवर्जित रहेगा। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि पुलिस आफिसर की अभिरक्षा उसे अभियुक्त से इकबाल कराने के लिए प्रपीड़न का आसान अवसर प्रदान करती है। धारा 25 इस सिद्धांत पर आधारित है कि किसी पुलिस आफिसर के समक्ष किए गए इकबाली बयान का आश्रय लेना खतरनाक है जो इकबाली बयान इस संशय से कभी अलग नहीं हो पाता कि हो सकता है कि अभियुक्त ने वह बयान प्रपीड़ित होकर या फुसलाने में आकर दिया हो। विधानमंडल की नीति और व्यावहारिक वास्तविकता का इस बात पर जोर है कि उस समय अभिप्राप्त किया गया कोई कथन, जब अभियुक्त पुलिस अभिरक्षा में हो, सचमुच उसके द्वारा स्वेच्छया किया गया कथन नहीं हो सकता। अत: किसी विधि प्रवर्तन अधिकारी द्वारा अभिप्राप्त कोई इकबाली बयान साक्ष्य में अग्राह्य होता है।

413. पुलिस को इत्तिला और उसकी अन्वेषण करने की शक्तियों से संबंधित दंड प्रक्रिया संहिता के अध्याय 12 की धारा 162 में यह आदिष्ट है कि किसी व्यक्ति द्वारा किसी पुलिस अधिकारी से अन्वेषण के दौरान किया गया कोई कथन, यदि लेखबद्ध किया जाता है, तो कथन करने वाले व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षरित नहीं किया जाएगा, और न ऐसा कोई कथन या उसका अभिलेख, चाहे वह पुलिस डायरी में हो या न हो, और न ऐसे कथन या अभिलेख का कोई भाग ऐसे किसी अपराध की जो ऐसा कथन किए जाने के समय अन्वेषणाधीन था, किसी जांच या विचारण में, इसमें इसके पश्चात् यथा उपबंधित के सिवाय, किसी भी प्रयोजन के लिए उपयोग में लाया जाएगा। धारा 162 की उपधारा (1) के परंतुक के अधीन अभियुक्त द्वारा तथा न्यायालय की अनुज्ञा से अभियोजन पक्ष द्वारा उसका उपयोग ऐसे साक्षी का खण्डन करने के लिए साक्ष्य अधिनियम की धारा 145 द्वारा उपबंधित रीति से किया जा सकता है और जब ऐसे कथन का कोई भाग उस प्रकार उपयोग में लाया जाता है तब उसका कोई भाग ऐसे साक्षी की पुन: परीक्षा में भी, किंतु उसकी प्रतिपरीक्षा में निर्दिष्ट किसी बात का स्पष्टीकरण करने के प्रयोजन से ही किया जा सकता है प्रिवी कौंसिल ने **पकाला नारायण स्वामी**[1] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 में निर्दिष्ट "किसी व्यक्ति" में कोई ऐसा व्यक्ति सम्मिलित होगा जो संयोगिक रूप से अभियुक्त बन गया हो। अत: "ऐसा कोई कथन" अभिव्यक्ति में ऐसा कोई पक्षकथन सम्मिलित होना चाहिए और यह प्रतीत होगा कि यदि कथन तनिक भी स्वीकार किया जाता है तो वह ऐसे शब्द जोड़कर "कि किसी अपराध का अभियुक्त होने पर उस कथन को करने वाले व्यक्ति के पक्ष में अथवा विपक्ष में साक्ष्य के रूप में किए जाने के सिवाय" किसी प्रयोजन के लिए उपयोग में लाया जा सकेगा" जैसे परिसीमनकार शब्दों द्वारा स्वीकार किया जा सकेगा। तद्नुसार माननीय लार्डों ने अपने दृष्टिकोण से यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 162 में प्रयुक्त शब्द अपने आप में इतने व्यापक हैं कि अन्वेषण के दौरान किसी पुलिस आफिसर के समक्ष किया गया इकबाली कथन साक्ष्य में लिए जाने से अपवर्जित किया जा सकता है चाहे उसके परिणामस्वरूप किसी बात का पता चला हो या न चला हो। अत: वे उक्त धारा के उपबंधों का निरसन उस सीमा तक कर सकेंगे जिस तक वे अन्यथा लागू होते होंगे। यदि वे अन्यथा लागू नहीं होते तो संभवत: ऐसा इस आधार पर होता कि साक्ष्य

[1] 66 इंडियन अपील्स 66.

अधिनियम की धारा 27 दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 1, उपधारा (2) के अर्थान्तर्गत एक विशेष विधि है तथा इसके विपरीत दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 कोई विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं है। संविधानपीठ ने **तहसीलदार सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 145 के अधीन इकबाली बयान का उपयोग उसे करने वाले व्यक्ति की प्रतिपरीक्षा के प्रयोजनार्थ ही किया जाना चाहिए।

414. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 महानगरीय मजिस्ट्रेट अथवा न्यायिक मजिस्ट्रेट को अध्याय 12 के अथवा तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन अथवा जांच या विचारण के आरम्भ होने से पूर्व अन्वेषण के दौरान किए जाने वाले इकबाली बयानों और कथनों को अभिलिखित करने की शक्ति प्रदान करती है। मजिस्ट्रेट अपने समक्ष किए गए इकबाली बयान अथवा कथन को अभिलिखित कर सकता है। किंतु उपधारा (2) उसे ऐसा करने से पूर्व यह व्यादेश देती है कि वह इकबाली बयान करने वाले व्यक्ति के समक्ष इस बात को स्पष्ट करेगा कि वह इकबाली बयान (संस्वीकृति) करने के लिए आबद्ध नहीं है और यदि वह फिर भी इकबाली बयान करेगा तो उसका उपयोग साक्ष्य के रूप में उसके विरुद्ध किया जा सकेगा, और मजिस्ट्रेट किसी इकबाली बयान को तब तक अभिलिखित नहीं करेगा जब तक इकबाली बयान करने वाले व्यक्ति से प्रश्न पूछने के पश्चात् उसके पास यह विश्वास करने का कारण न हो कि वह इकबाली बयान स्वेच्छया किया जा रहा है। वह इकबाली बयान धारा 281 में उपबंधित उसी रीति में अभिलिखित करेगा जिसमें किसी अभियुक्त व्यक्ति का कथन अभिलिखित किया जाता है। वह इकबाली बयान न केवल मजिस्ट्रेट द्वारा बल्कि अभियुक्त द्वारा भी हस्ताक्षरित किया जाएगा। मजिस्ट्रेट उपधारा (4) में बताए गए अनुसार अभिलेख के नीचे निम्नलिखित भाव का ज्ञापन भी उपाबद्ध करेगा। यदि उसके पास अपराध की जांच अथवा उसका विचारण करने की अधिकारिता न हो तो वह इस प्रकार अभिलिखित किए गए इकबाली बयान को उस मजिस्ट्रेट के यहां भेज देगा जिसके द्वारा मामले में जांच या विचारण किया जाना है। अभियुक्त को पर्याप्त समय देने, उसे सुसंगत चेतावनियां देने और उसे अन्य प्रक्रियात्मक रक्षोपाय प्रदान करने के उद्देश्य से उच्च न्यायालयों ने इस संबंध में नियम बनाए हैं।

415. मजिस्ट्रेट को चाहिए कि वह इकबाली बयान दर्ज करने से पूर्व जहां तक आवश्यक हो अभियुक्त से उचित रूप से प्रश्न पूछे, उससे यह पता चलाए कि वह किन तथ्यों की बाबत कथन करना चाहता है, यह कि क्या वह उस बात को ठीक रूप से समझता है, जो कुछ वह कह रहा है और वह किस सीमा तक अपनी संस्वीकृति अथवा स्वीकृति का उपयोग कराना चाहता है। इकबाली बयान बहुत सावधानी के साथ अभिलिखित किया जाना चाहिए। मजिस्ट्रेट को चाहिए कि वह उन प्रश्नों को अभिलिखित करे जो अभियुक्त व्यक्ति से पूछे गए जिससे कि यह अभिनिश्चित किया जा सके कि अभियुक्त व्यक्ति ने जो इकबाली कथन किया वह स्वैच्छिक था, कि उक्त इकबाली कथन के अभिलिखित कर लिए जाने के पश्चात् अभियुक्त व्यक्ति को फिर से पुलिस अभिरक्षा में नहीं जाना पड़ेगा। मजिस्ट्रेट को चाहिए कि वह अभियुक्त को उन परिणामों की बाबत चेतावनी दे दे जो उसे इकबाली कथन के मिथ्या पाए जाने की दशा में भोगने पड़ सकते हैं और अभियुक्त

[1] ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 1012.

से यह पूछ ले कि कहीं वह स्वयं को इस आशा से तो अपराध में नहीं फंसा रहा है कि उसकी निर्मुक्ति हो जाएगी और पुलिस ने या किसी अन्य व्यक्ति ने उसके साथ दुर्व्यवहार तो नहीं किया है। इस बाबत कोई कठोर नियम न तो अधिकथित किया जा सकता है और न ही किया जाना चाहिए कि जब अभियुक्त अपने इकबाली बयान के अभिलेखन के लिए मजिस्ट्रेट के समक्ष लाया जाता है तो कौन सी प्रक्रिया अपनाई जाएगी। जब अभिरक्षा में की गई पूछताछ के परिणामस्वरूप कोई इकबाली बयान अभिप्राप्त किया जाता है तो उसके स्वैच्छिक होने के बारे में संशय बना रहता है। किंतु जब उसका अभिलेखन न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा किया जाता है उसके बारे में सभी संशय मिट जाते हैं और उसमें स्वैच्छिकता का पुट रहता है। अभियुक्त/संदिग्ध व्यक्ति को न्यायिक अभिरक्षा में रखने तथा उसे चिंतन तथा आवश्यक चेतावनियों के लिए काफी समय देने का उद्देश्य इस बात को और भी बल प्रदान करता है क्योंकि काफी समय मिल जाने के कारण अभियुक्त इकबाली बयान करने से पूर्व पुलिस की पूछताछ के तनाव से मुक्त हो जाता है और फिर वह चिंतन कर सकता है। इसका अभियुक्त/संदिग्ध व्यक्ति पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

416. प्रिवी कौंसिल ने **नजीर अहमद बनाम किंग-एम्परर**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अधीन कार्रवाई करने वाला मजिस्ट्रेट किसी न्यायालय के रूप में कार्रवाई नहीं कर रहा होता है फिर भी वह न्यायिक अधिकारी होता है, तथा इकबाली बयान का अभिलेखन, अर्थान्वयन और सद्विवेक, दोनों की दृष्टि से, धारा 364 (दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 281) के साथ पठित धारा 164 के अनुपालन में होगा। इकबाली बयान का अभिलेख धारा 164 तथा स्थायी आदेश के अधीन विहित रीति में ही किया जाएगा किसी अन्य रूप में नहीं। मजिस्ट्रेट ने धारा 164 के अधीन यथा व्यादिष्ट रीति में इकबाली बयान का अभिलेखन नहीं किया। यह अभिनिर्धारित किया गया कि "चूंकि इकबाली बयान साक्ष्य में अग्राह्य है, अतः अभियुक्त को दोषमुक्त किया जाता है।" इस न्यायालय ने **रामचन्द्र बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि इकबाली बयान विवृत (खुले) न्यायालय में और न्यायालय के कार्य करने के समय के भीतर अभिलिखित किया जाना चाहिए जब तक किन्हीं आपवादिक कारणों की वजह से ऐसा करना व्यावहारिक न हो। यह एक बहुत महत्वपूर्ण उपबंध है जो इस बात पर बल देता है कि मजिस्ट्रेट इकबाली बयान का अभिलेखन करते समय विधि द्वारा विहित रीति में अपने न्यायिक कर्तव्य का पालन कर रहा होता है। एक अनुदेश में यह उपबन्ध किया गया है कि मजिस्ट्रेट को उस कारण की जांच करनी चाहिए जिसकी वजह से अभियुक्त यह जानते हुए इकबाली बयान दे रहा है कि उस बयान का उपयोग उसके विरुद्ध किया जा सकता है। चूंकि उस मामले में इकबाली बयान का अभिलेखन पुलिस हवालात में किया गया अतः उसे साक्ष्य में अग्राह्य माना गया।

417. इस प्रकार, यह बात स्पष्ट होगी कि संहिता की धारा 164 के उपबंध आज्ञापक हैं और मजिस्ट्रेट का यह कर्तव्य है कि वह प्रक्रिया का कठोर रूप से पालन करे। यदि वह ऐसा करने में असफल रहता है तो वह अपने न्यायिक कर्तव्य का निर्वहन करने में

---

[1] ए० आई० आर० 1939 पी० सी० 253.

[2] ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 381.

भी असफल रहेगा। यदि कथन अथवा इकबाली बयान का अभिलेखन धारा 164, 281 के, और तद्धीन बनाए गए नियमों के कठोर अनुपालन में किया गया हो तो इकबाली बयान साक्ष्य में ग्राह्य होगा, भले ही अभियुक्त उससे मुकर गया हो। **नजीर अहमद**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि किसी मजिस्ट्रेट द्वारा धारा 164 अथवा 364 के उपबंधों का पालन किए बिना अभिलिखित इकबाली बयान इन उपबन्धों में वर्णित पूर्वा-विधानियों को इतना महत्वहीन बना देता है कि वे उपबन्ध लगभग निष्क्रिय प्रतीत होते हैं। ऐसा कोई इकबाली बयान, जिसका सम्यक् रूप से अभिलेखन किया गया हो और जिसके बारे में अभिलेख के साथ विहित प्रमाणपत्र उपाबद्ध हो स्वैच्छिक माना जाएगा तथा साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 से 30 में अन्तर्विष्ट शर्तों के अध्यधीन साक्ष्य में ग्राह्य होगा। कोई मुकरा हुआ इकबाली बयान भी दोषसिद्धि का आधार बन सकता है यदि अभियुक्त के उस इकबाली बयान की संपुष्टि किसी स्वतन्त्र स्रोत से प्राप्त साक्ष्य से होती हो।

418. जिस समय भारतीय साक्ष्य अधिनियम अधिनियमित किया गया उस समय ब्रिटिश पार्लियामेंट के पास ला कमीशन की इस आशय की रिपोर्ट थी कि चूंकि पुलिस इक-बाली बयान अभिप्राप्त करने के लिए, बल, धमकी अथवा उत्प्रेरणा का सहारा लेती है इस-लिए साक्ष्य अधिनियम में धारा 24 से 30 में कथित परिस्थितियों में अभिप्राप्त इकबाली बयान को साक्ष्य से अपवर्जित करने की विशेष सावधानी बरती गई है तथा अपवर्जन के इस सिद्धांत के अपवाद के रूप में धारा 27 है जिसके अनुसार अभियुक्त का केवल वही कथन साक्ष्य में ग्राह्य माना गया है जिसके परिणामस्वरूप किसी तथ्य का पता चलता हो।

419. यह भी सुस्थापित विधि है कि किसी कथन की बाबत उस दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि वह धारा 164 के अधीन उचित रूप से अभिलिखित किया गया है जब अभियुक्त से प्रश्न पूछते समय कोई पुलिस आफिसर या तो उपस्थित हो या उससे प्रश्न पूछने की अनुज्ञा प्रदान की गई हो। साथ ही यह भी सुस्थापित विधि है कि किसी अभि-युक्त का इकबाली बयान, उससे-3-4 घण्टे तक पुलिस आफिसर द्वारा की गई लगातार पूछ-ताछ के पश्चात् देर रात्रि में उस समय अभिलिखित नहीं किया जाएगा जब वह लगातार पूछताछ से टूट चुका हो। अभियुक्त को इस आशय की चेतावनी दे देना ही किसी मजिस्ट्रेट के लिए इतना ही काफी नहीं है कि यदि वह इकबाली बयान देगा तो उसका उपयोग उसके विरुद्ध किया जा सकेगा, किंतु उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह इस बारे में अपना समाधान करने के लिए अभियुक्त से प्रश्न पूछे कि उसका इकबाली बयान वस्तुतः स्वैच्छिक है तथा अभियुक्त के इकबाली बयान को प्रश्नोत्तर रूप में अभिलिखित करे। जिस न्याया-लय के समक्ष इकबाली बयान का उपयोग किया जाए उसके पास वह सामग्री होनी चाहिए जिसके आधार पर वह इस बारे में अपना समाधान कर सके कि अभियुक्त द्वारा दिया गया इकबाली बयान वस्तुतः स्वैच्छिक है। संहिता की धारा 164 के अधीन यह आज्ञापक है कि मजिस्ट्रेट को इकबाली बयान का अभिलेखन विहित प्रक्रिया के ही अनुसार करना चाहिए। अभियुक्त को सोचने-विचारने के लिए काफी समय दिया जाना चाहिए किंतु इस बारे में कोई कठोर नियम अधिकथित नहीं किया जा सकता कि कितना समय उचित समय

---
[1] ए० आई० आर० 1939 पी० सी० 253.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

होगा। इस सम्बन्ध में सुस्थापित विधि यह है कि अभियुक्त को इस बाबत चिंतन करने के लिए कि वह इकबाली बयान दे या न दे, कम से कम 24 घण्टों का समय दिया जाना चाहिए। यदि परिस्थितियों को देखते हुए इस बाबत संशय उत्पन्न होता हो कि अभियुक्त को इकबाली बयान देने के लिए उत्प्रेरित किया, धमकाया अथवा प्रपीड़ित किया गया था तो उसे इससे भी अधिक समय दिया जाना चाहिए जैसा कि इस न्यायालय ने **स्वर्ण सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में अभिनिर्धारित किया है। साक्ष्य अधिनियम ने अभियुक्त को इतना संरक्षण प्रदान करके उसके हितों की रक्षा की है।

420. उपर्युक्त पृष्ठभूमि में उद्भूत होने वाला प्रश्न यह है कि क्या आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987, संक्षेप में "अधिनियम" की धारा 15 (1), जो पुलिस आफिसर को, जो पंक्ति में पुलिस अधीक्षक से नीचे न हो। इकबाली बयान का अभिलेखन करने की शक्ति प्रदान करती है, सांविधानिक रूप से विधिमान्य है?

421. अधिनियम की धारा 15(1) इस प्रकार है—

"15 (1) संहिता में या भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872 का 1) में किसी बात के होते हुए भी, किंतु इस धारा के उपबंधों के अधीन रहते हुए किसी व्यक्ति (बल देने के लिए अधोरेखांकन हमने किया है) द्वारा पुलिस अधीक्षक से अनिम्न रैंक के किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति (इकबाली बयान) ऐसे पुलिस अधिकारी द्वारा लिखित में या किसी यांत्रिक युक्ति से, जैसे कैसेट, टेप साउंड ट्रैक, जिससे ध्वनियां या आकृतियां पुनः प्रस्तुत की जा सकती हैं, अभिलिखित की गई हैं, इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन किसी अपराध के लिए ऐसे व्यक्ति के विचारण में ग्राह्य होगी।

(2) पुलिस अधिकारी, उपधारा (1) के अधीन कोई संस्वीकृति अभिलिखित करने से पूर्व, संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति को यह स्पष्ट करेगा कि वह ऐसी संस्वीकृति करने के लिए बाध्य नहीं है और यदि वह ऐसा करता है तो उसका उपयोग उसके विरुद्ध साक्ष्य के रूप में किया जा सकेगा और ऐसा पुलिस अधिकारी ऐसी कोई संस्वीकृति तब तक अभिलिखित नहीं करेगा जब तक संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति से प्रश्न करने पर उसे यह विश्वास नहीं हो जाता है कि वह स्वेच्छा से की जा रही है।"

422. जैसी कि विद्वान अपर महासालिसिटर श्री तुलसी ने दलील दी है, इस प्रतिपादना की बाबत कोई विवाद नहीं हो सकता कि जब विधानमंडल के पास साक्ष्य अधिनियम को बनाने की शक्ति प्राप्त है तो उसके पास समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में, पहले से विद्यमान प्रक्रिया को संशोधित करने अथवा बदलने की भी शक्ति प्राप्त है तथा प्रक्रिया के बारे में कोई निहित अधिकार नहीं है। विधानमंडल संशोधन द्वारा प्रक्रिया को मिटाकर उसे छीन भी सकता है। हम संसद् की विधायिनी शक्ति से उतने संबद्ध नहीं हैं और संविधान के अनुच्छेद 248 तथा सूची-1 की प्रविष्टि 97 के अधीन उसके पास

---

[1] ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 637.

अवश्य ही ऐसी शक्ति है। यह विधि भी सुस्थापित है कि ऊंचे रैंक वाले आफिसर को प्रदत्त शक्ति की बाबत यह उपधारणा की जाती है कि उसका प्रयोग विधि अथवा नियमों के अनुसार किया जाना है। शक्ति का इस प्रकार प्रदान किया जाना प्रथमदृष्टया विधिमान्य उपधारित किया जाता है। किंतु फिर भी प्रश्न सारत: यही होगा कि क्या किसी स्वतंत्र अभिकरण के असमान, जिसकी बाबत न्यूनतम संशय उत्पन्न होता है, पुलिस आफिसर को शक्ति प्रदान करना कोई सभ्य प्रक्रिया है। इन विचारों का तीखापन स्वतंत्रता का संरक्षण करता है। जैसा कि हम सुनिश्चित कर चुके हैं कोई स्वैच्छिक इकबाली बयान अभियुक्त के दोष के सबूत के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण साक्ष्य होता है। यदि किसी इकबाली बयान की बाबत यह पाया जाता है कि वह पश्चातापस्वरूप स्वैच्छिक रूप से किया गया है तो वह दोषसिद्धि का आधार होगा इस न्यायालय ने **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **सुखदेव सिंह उर्फ सूखा और अन्य**[1] वाले मामले में अभियुक्त की दोषसिद्धि की पुष्टि उस स्वीकृति के आधार पर की जो उसने संहिता की धारा 313 के अधीन अपने विचारण और परीक्षा में की थी। यहां तक कि मुकरा हुआ इकबाली बयान भी दोषसिद्धि का आधार होगा बशर्ते कि उसकी साधारण रूप से संपुष्टि हुई हो।

423. संविधान के अनुच्छेद 20(3) के अधीन, किसी अपराध के लिए अभियुक्त किसी व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 21 प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के संरक्षण का आश्वासन देता है। इस संरक्षण से वंचन विधि द्वारा विधिमान्य रूप से स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही किया जा सकता है। अनुच्छेद 20 विशिष्ट अपराधों अथवा कामन ला वाले अपराधों तक सीमित नहीं है। अधिनियम के अधीन आने वाले अपराध कानूनी अपराध हैं। जैसे ही किसी व्यक्ति के विरुद्ध या तो थाना अधिकारी के समक्ष या किसी प्राइवेट परिवाद में औपचारिक रूप से कोई दोषारोपण किया जाता है वह संविधान के अनुच्छेद 20(3) और 21 के अधीन संरक्षण का हकदार हो जाता है। विधि द्वारा स्थापित विधिमान्य प्रक्रिया के सिवाय उनका अतिक्रमण संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा प्रत्याभूत प्राण के प्रति अधिकार का अतिक्रमण होता है। हर नागरिक की स्वतंत्रता उसका मूल्यवान अधिकार है। यह साबित करने का भार सरकार पर होता है कि नागरिक का उस अधिकार से वंचन संविधान की दृष्टि में वैध है। **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **अनवर अली सरकार**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि दोनों विधियां अर्थात् प्रक्रियात्मक विधि और मौलिक विधि, अनुच्छेद 14 द्वारा विहित कसौटियों पर खरी उतरनी चाहिए। अनुच्छेद 21 का आशय विधानमंडल की उन शक्तियों को परिसीमित करना नहीं हैं जो संविधान के अधीन उसे अन्यथा प्राप्त हैं। तो भी, वे विधियां, अर्थात् मौलिक और प्रक्रियात्मक, जो निर्मित, उपांतरित अथवा संशोधित की गई हों, न्यायोचित ऋजु और युक्तियुक्त होनी चाहिए। सत्य का अन्वेषण करने की प्रक्रिया की शुद्धता समाज की आवश्यकताओं के प्रति सदैव ऋजु और सुग्राही रहेगी और वह निष्पक्ष तथा न्यायोचित रूप से अभियुक्त के हितों का संरक्षण करेगी। दैहिक स्वतंत्रता का इतिहास बहुत कुछ प्रक्रियात्मक रक्षोपायों का ही इतिहास है। संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा अनुध्यात प्रक्रिया से न्यायोचित और ऋजु प्रक्रिया तथा युक्तियुक्त विधि अभिप्रेत है न कि औपचारिक अथवा दिखावटी प्रक्रिया

[1] जे० टी० 1992 एस० सी० 73.

[2] [1952] एस० सी० आर० 284

1994(3) eILR(PAT) SC 1

अथवा विधि। अधिनियम की धारा 15(1) के अधीन इकबाली बयान के अभिलेख की ऋजुता का मानदंड संविधान द्वारा मान्य सीमाओं के अंतर्गत होना चाहिए। संविधान के अनुच्छेद 21 के इस परमादेश का, कि किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं, अर्थ यह होगा कि किसी व्यक्ति का ऐसा प्रपीड़न नहीं किया जाएगा जिसका कोई विधिक औचित्य न हो। संविधान के अनुच्छेद 20(3) में प्रकल्पित प्रक्रिया वह रीति, साधन और ढंग है जिसमें कोई अधिकार प्रवृत्त किया जाता है अथवा जिसके अधीन व्यक्ति को रखा जाता है। यद्यपि संविधान किसी प्रक्रिया विशेष के अपनाए जाने की गारंटी नहीं देता तथा विधानमंडल को प्रक्रिया निर्धारित करने की पूरी छूट है, फिर भी अनुच्छेद 14 और 21 प्रक्रिया विहित करने की दृष्टि से स्वयं परिसीमा अधिरोपित करते हैं, अर्थात् यह कि विधि द्वारा विहित प्रक्रिया में मौलिक ऋजुता होनी चाहिए और वह अंतःकरण के विरुद्ध अथवा दमनकारी नहीं होनी चाहिए।

424. अनुच्छेद 50 राज्य को यह व्यादेश देता है कि वह न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् रखे। प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा हो जाने पर, संहिता की धारा 164 द्वारा प्रथम वर्ग के न्यायिक मजिस्ट्रेट को न्यायिक कर्तव्य सौंप दिए जाने पर भी क्या अधिनियम की धारा 15 के अधीन पुलिस अधीक्षक को वही शक्ति प्रदान करना न्यायोचित, ऋजु और युक्तियुक्त होगा? संविधान द्वारा स्थापित न्यायालयों के अलावा मानवाधिकारों का अनन्य जागरुक प्रहरी और संरक्षक कौन हो सकता है तथा जनसाधारण उन्हें अपने संरक्षक मानता है। जहां दो प्रक्रियाएं एक साथ विद्यमान हों, जिनमें से एक अमुक अभियुक्त के लिए और एक किसी अन्य अभियुक्त के लिए हो, वहां दोनों ही प्रक्रियाओं का संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 की कसौटी पर खरा उतरना अनिवार्य है। यह सच है कि न्यायालय भी इस स्थिति को न्यायिक अवेक्षा करेंगे कि आतंकवादियों तथा संगठित अपराधियों ने अगणित निर्दोष व्यक्तियों की हत्याएं की हैं और वे करते रहे हैं और इस प्रकार उन्होंने हमारी स्थिर सामाजिक व्यवस्था की नींव को बुरी तरह से हिलाकर रख दिया है। साथ ही उच्छृंखल तत्वों के साथ अलग प्रकार की कार्यवाही करने की आवश्यकता है, जो दंड के अभाव में विधि का उपहास उड़ाते हैं। तो भी अपराध के दमन के लिए कठोर-प्रक्रिया का होना आवश्यक है, चाहे वह अनुच्छेद 14 और 21 की कसौटी पर खरी उतरती हो या नहीं।

425. **मुंबई राज्य बनाम काठी काल औघड़**[1] वाले मामले में 11 न्यायाधीशों वाली न्यायपीठ ने अनुच्छेद 20(3) का निर्वचन करते हुए, अभिसाक्ष्य देने की विवशता (टेस्टिमोनियल कंपल्शन) के बारे में यह अभिनिर्धारित किया हम ऐसा कोई निश्चित कारण नहीं बता सकते जिसकी वजह से सांविधानिक गारंटी की अंतर्वस्तु मात्र शाब्दिक अर्थान्वयन तक सीमित कर दी जाए जिसके परिणामस्वरूप अनुच्छेद 20(3) को परिसीमित करके उक्त गारंटी को उसके सारवान प्रयोजन से विहीन और खोखला बनाना होगा जैसा कि कतिपय अमरीकी विनिश्चयों में कहा गया है। वास्तव में वह हर सकारात्मक कार्य जो प्रमाण प्रस्तुत करता है अभिसाक्ष्य होता है तथा "अभिसाक्ष्य देने की विवशता" का अर्थ ऐसे प्रपीड़न से है जिसके

---

[1] ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1808.

बल पर सकारात्मक मौखिक साक्ष्य प्राप्त किया जाता है। हां, व्यक्ति के कार्यों से न तो उसके मौन अथवा आत्मसमर्पण की प्रवृत्ति का पता चलता है और न ही इसके आधार पर यह माना जा सकता है कि उपाप्त साक्ष्य से संबंधित संरक्षण उसी बात तक सीमित है जिसका पता न्यायालय कक्ष में विचारण के समय चलता है अनुच्छेद 20(3) में प्रयुक्त पद "साक्षी होना" है न कि "साक्षी के रूप में हाजिर होना।" उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी अभियुक्त को प्रदत्त संरक्षण, जहां तक उसका संबंध "साक्षी होने से है" केवल न्यायालय कक्ष में अभिसाक्ष्य देने की विवशता से ही संबंधित नहीं है किंतु उसका विस्तार उस अभिसाक्ष्य को देने के लिए विवश करने तक किया जा सकता है जो उससे स्पष्टतः अभिप्राप्त किया गया हो। अतः गारंटी की बाबत यह अभिनिर्धारित किया गया कि इसमें न केवल न्यायालय में अथवा न्यायालय के बाहर दिया गया मौखिक परिसाक्ष्य सम्मिलित है बल्कि उसमें लिखित परिसाक्ष्य भी सम्मिलित होगा जब उसे देने वाला व्यक्ति अभियुक्त निकला हो। **नंदिनी सत्पथी बनाम दानी (पी० एल०) और अन्य**[1] वाले मामले में यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि हम बाध्यकारी परिसाक्ष्य को न केवल शारीरिक धमकियों या हिंसा द्वारा प्राप्त किए गए साक्ष्य के रूप में अपितु मानसिक यंत्रणा, परिवेश संबंधी दबाव, वातावरण संबंधी दबाव, क्लांतिपूर्ण प्रश्नात्मक ऊब, उच्छृंखल और भयोत्पादक ढंगों तथा ऐसी ही अन्य बातों द्वारा, जो उल्लंघन के लिए विधिक शास्ति न हों, प्राप्त किए गए साक्ष्य के रूप में भी मानना चाहते हैं।

426. संविधान के अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त "प्राण अथवा दैहिक स्वतंत्रता" अभिव्यक्ति में, जैसा कि पहले कहा गया है, मानवीय प्रतिष्ठा के साथ रहने का अधिकार भी सम्मिलित है और जिसमें राज्य द्वारा यंत्रणा और हमले के विरुद्ध गारंटी सम्मिलित होगी। इस न्यायालय ने **सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन**[2] तथा **सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन**[3] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान का अनुच्छेद 21 किसी व्यक्ति को उस समय राज्य द्वारा यंत्रणा और हमले से गारंटी प्रदान करता है जब वह अभिरक्षा में होता है। कोई विश्वसनीय इत्तिला अथवा सामग्री मिलने पर किसी संदिग्ध व्यक्ति को गिरफ्तार करना पुलिस का विधिसम्मत अधिकार है किंतु ऐसी गिरफ्तारी विधि के अनुसार की जानी चाहिए तथा संदिग्ध व्यक्ति के साथ पूछताछ करते समय उसे यातना अथवा शारीरिक प्रताड़ना नहीं दी जानी चाहिए। पूछताछ और अन्वेषण, उनके सही अर्थ में किए जाने चाहिए और उनका प्रयोजन अन्वेषण को कारगर बनाना होना चाहिए। इस न्यायालय ने **शीला बारसे बनाम महाराष्ट्र राज्य**[4] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि अभियुक्त को मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया जाना चाहिए। मजिस्ट्रेट के लिए यह बात आज्ञापक होनी चाहिए कि वह गिरफ्तार किए गए व्यक्ति से इस बाबत पूछताछ करे कि उसे अभिरक्षा में यंत्रणा तो नहीं दी गई है या उसके साथ दुर्व्यवहार तो नहीं किया गया है। उसे यह भी बताया जाना चाहिए कि उसके पास दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 54 के अधीन अपनी डाक्टरी जांच कराने का भी अधिकार है। **नंदिनी सत्पथी**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने

---

[1] [1979] 2 उम० नि० प० 380=[1978] 3 एस० सी० आर० 608.

[2] [1979] 3 उम० नि० प० 407=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1675.

[3] [1980] 4 उम० नि० प० 1094=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1579.

[4] [1983] 2 उम० नि० प० 1243=ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 378.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

यह अभिनिर्धारित किया कि अभियुक्त को पूछताछ के दौरान अपने काउंसेल को साथ ले जाने का अधिकार है। हवालात में बंद गिरफ्तार व्यक्ति को आम तौर पर दरवाजा बंद करके यातना दी जाती है अथवा पीटा जाता है तथा किसी भी जनसाधारण को वहां रहने की अनुमति नहीं होती और ऐसे दृष्टांतों की भी कोई कमी नहीं है जिनमें गिरफ्तार व्यक्तियों के कुटुंब के सदस्यों को भी संदिग्ध व्यक्ति से मिलने नहीं दिया जाता।

427. पुलिस आफिसर स्पष्ट रूप से प्राधिकार वाला व्यक्ति होता है तथा जब तक विबाध्यता के वातावरण को मिटाने के लिए कुछ रक्षोपायों का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं किया जाता तब तक विशेष रूप से थाने के माहौल में पुलिस आफिसर का इस बात पर जोर देना कि अभियुक्त/संदिग्ध व्यक्ति उसकी पूछताछ का उत्तर दे एक प्रकार का दबाव ही है। अधिनियम की नीति अथवा उद्देश्य के विरोधी उपबंध की सांविधानिक विधिमान्यता का अवधारण करने में कोई सुसंगति नहीं है। न्यायालय विधि की अधिनियमिति के संबंध में राज्य की नीति पर विचार करने के लिए आसीन नहीं हो रहा है और न ही उसे इस प्रक्रम में साक्ष्य को छानना है। अनुच्छेद 21 के अधीन निष्पक्ष दांडिक विचारण मूल अधिकार है। यद्यपि राज्य किसी अपराध के अन्वेषण, साक्ष्य के संग्रहण और अभियुक्त को विचारण के लिए उपस्थापित करने के संबंध में अपनी नीति विषयक अवधारणाओं के अनुसार प्रक्रिया का विनियमन करने के लिए स्वतंत्र है, तो भी यदि ऐसा करते समय वह ऋजु न्याय के उन मूलभूत सिद्धांतों का उल्लंघन करता है जो हमारे जनमानस की परंपराओं और चेतना में गहरे बैठे हुए हैं, तो ऐसी प्रक्रिया अन्यायोचित और अऋजु प्रक्रिया कही जाएगी अन्याय की प्रतीति कराना न्याय से वंचित करने के बराबर है। प्रक्रिया में अंतर्निहित रक्षोपाय ऋजुता की भावना का आश्वासन देते हैं। जब कानून द्वारा विहित प्रक्रिया ऋजु न्याय के सिद्धांत को अथवा सुस्थापित न्यायिक आचारों अथवा परंपराओं का जो न्यायिक संकल्पना और सभ्य प्रक्रिया के आधार स्तंभ हैं, विरोध करती है अथवा चेतना को आघात पहुंचाती है तो उसकी बाबत यह कहा जा सकता है कि वह मौलिक रूप से अऋजु है। प्रश्न का अवधारण अन्य परिणाम प्राप्त करने के लिए आवश्यक व्यवस्था, अंतर्वस्तु और प्रक्रिया के आधार पर एकत्रित तथ्यों की समग्रता के मूल्यांकन के आधार पर किया जाना है कि क्या किसी व्यक्ति को ऐसी आधारभूत ऋजुता से वंचित किया गया है जो प्रक्रिया आधारभूत ऋजुता के वंचित करने का पुट लिए होती है तथा न्याय की चेतना अथवा उसकी सार्वभौम भावना को आघात पहुंचाती है वह न्यायोचित, ऋजु अथवा युक्तियुक्त प्रक्रिया की विरोधी है। अनुच्छेद 14 और 21 मनमानी और दमनकारी प्रक्रिया पर नाक भौं चढ़ाते हैं।

428. अनुच्छेद 21 में प्रकल्पित प्रक्रिया से सत्य का पता चलाने की रीति और तरीका अभिप्रेत है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 36 के अधीन थाने के प्रभारी अधिकारी से वरिष्ठ पुलिस आफिसर को अपने संपूर्ण स्थानीय क्षेत्र में उन्हीं शक्तियों का प्रयोग करने के लिए सशक्त बनाया गया है। पुलिस अधीक्षक जिला पुलिस प्रशासन का प्रभारी अधिकारी होता है। संहिता की धारा 2(ज) के अनुसार, अन्वेषण के अंतर्गत वे सब कार्यवाहियां हैं, जो इस संहिता के अधीन पुलिस अधिकारी द्वारा या (मजिस्ट्रेट से भिन्न) किसी भी ऐसे व्यक्ति द्वारा, जो मजिस्ट्रेट द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किया गया है, साक्ष्य एकत्र करने के लिए की जाएं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या विधि और व्यवस्था बनाए रखने का प्रभारी कोई वरिष्ठ पुलिस आफिसर, पुलिस अभिरक्षा में किसी व्यक्ति का इकबाली बयान दर्ज

करते समय, भले ही वह दिखावे के तौर पर अधिनियम की धारा 15(2) का अनुपालन कर रहा हो, जमाने की हवा से ऊपर उठकर किसी प्रशिक्षित मजिस्ट्रेट की भांति समदृष्टिता और वस्तुनिष्ठता का भाव भी रखेगा। जब कि संहिता और साक्ष्य अधिनियम दोनों, उस संशय का परिहार करना चाहते हैं जो अभियुक्त का इकबाली बयान अभिप्राप्त करने वाले किसी पुलिस आफिसर के बारे में किया जाता है, तो क्या वही बात वरिष्ठ पुलिस अधिकारी की दृष्टि के धंधला होने की बाबत लागू नहीं होती ? क्या ऐसी प्रक्रिया किसी विवेकशील व्यक्ति की चेतना को आघात पहुंचाती और क्या उसमें से अऋजुता की बू नहीं आती। क्या धारा 15(1) के रूप में सर्वोपरि उपबंध को लागू करके उसी कर्तव्य को सौंपना न्यायोचित और ऋजु होगा। क्या उक्त सर्वोपरि खंड को लागू करने के जादू मात्र से उन दोषों का उपचार हो जाता है जो ऊपर गिनाए गए हैं और क्या वह धारा अनुच्छेद 14 और 21 के अधीन विधिमान्य बन जाती है ? इस संदर्भ में मेरा उत्तर है नहीं, और "कोरा नहीं नहीं"। संविधान द्वारा प्रदत्त ऊपर वर्णित मानव अधिकार, साक्ष्य अधिनियम के सुसंगत उपबंधों को कार्यसाधकता प्रदान करने का इतिहास तथा संहिता की धारा 164 के पीछे गर्भित विवेक धारा 15 की उपधारा (1) की अंतर्निहित अविधिमान्यता को पलीता लगा देते हैं तथा न्यायालय उसकी ओर से धृतराष्ट्र की तरह आंख मूंदकर नहीं रह सकता तथा साक्ष्य अधिनियम की धारा 114(ङ) का आश्रय लेकर स्वयं को यह सोचकर धन्य नहीं मान सकता कि उसमें यह धारणा की गई है कि सभी पदीय कार्य विधि के अनुसार किए जाते हैं और इस बात पर अपनी मुहर नहीं लगा सकता कि अधिनियम की धारा 15 की उपधारा (1) ऋजु प्रक्रिया की कसौटी पर खरी उतरती है और वह सांविधानिक रूप से विधिमान्य है। **दि स्पेशल कोर्ट्स बिल वाले मामले**[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि विधेयक द्वारा विहित प्रक्रिया अभियुक्त के लिए इसलिए अन्यायोचित और अऋजु है क्योंकि वह संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण इस आधार पर करती है कि विधेयक में एक विशेष न्यायालय से किसी अन्य न्यायालय में मामले के अंतरण का कोई उपबंध नहीं है भले ही पीठासीन न्यायाधीश की नियुक्ति पूर्वाग्रह से ग्रस्त क्यों न हो। सरकार के प्रसाद के दौरान विशेष न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति न्यायिक स्वतंत्रता की विध्वंसकारी होती है तथा किसी विशेष न्यायालय के पीठासीन अधिकारी के रूप में किसी सेवा निवृत्त न्यायाधीश की नियुक्ति संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करती है। आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने **बी० एम० रंगाराव बनाम आंध्र प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 107 (2), 110, 133 के अधीन अपराधों का विचारण करने के लिए किसी विशेष कार्यपालिक मजिस्ट्रेट की शक्तियां, उच्च पदस्थ पुलिस अधिकारियों, जैसे पुलिस अधीक्षक, को प्रदान किए जाने की विधिमान्यता पर विचार करते समय यह अभिनिर्धारित किया कि उनकी इस प्रकार नियुक्ति संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करती है। यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि जनता का विश्वास ही न्याय का उद्धारक और सहायक है। कोई भी कमजोर पड़ती कड़ी कानून के भवन को ध्वस्त करके रख देगी। न्याय के सिद्धांत का बीज हमारी चेतना में जमा हुआ है और यद्यपि हमारा लोकतंत्र अभी अपनी नवजात अवस्था में ही है, फिर भी हमारे न्यायनिर्णयन, न्यायिक प्रक्रिया, चाहे वह न्यायिक, अर्धन्यायिक अथवा प्रशा-

---

[1] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 478.

[2] 1985 (2) ए० पी० एल० जे० 361.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

सनिक हो, के लोकाचार में इसकी जड़ें गहरी बैठ गई हैं। लोकप्रिय सरकार के कारगर संचालन का एक अनिवार्य सिद्धांत है—विधि का सम्मान। हमारे नागरिक कानून की धार को न्यायालयों के माध्यम से ही महसूस करते हैं न कि विधानमंडल के माध्यम से। यदि उनके मन में अपने न्यायालयों की कार्यप्रणाली के लिए सम्मान का भाव रहता है, तो उनका यही सम्मान का भाव सरकार की हर अन्य शाखा की कमियों के बावजूद जिंदा बना रहेगा। यदि वे न्यायालयों के कार्य पर विश्वास नहीं करते तो विधि और व्यवस्था के लिए उनका सम्मान का भाव समाप्त हो जाएगा जिसके परिणामस्वरूप समाज में एक बड़ी सीमा तक गिरावट आ जाएगी। यदि पुलिस को काफी बड़ी मात्रा में न्यायिक शक्तियां प्रदान कर दी गईं तो न्यायकरण में जनता का विश्वास उठ जाएगा। औचित्य का यह आवरण, कि तथ्यों से अवगत व्यक्ति मामलों का विचारण करें, सामने आने वाली समस्यायों का पता चलाएं अथवा अपराध का दमन करें, इस बात का वैध आधार नहीं माना जा सकता कि सरकार को इस संबंध में मनमानी अथवा असंगत सर्वोच्च शक्ति प्रदान कर दी जाए कि वह पुलिस आफिसरों को विशेष कार्यपालिक मजिस्ट्रेट के रूप में नियुक्त कर सके और न ही ऐसे पुलिस आफिसर के विनिश्चय के विरुद्ध पुनरीक्षण का अधिकार कोई सांत्वना दे सकता है। उससे न केवल न्याय की निर्मल धारा अपने उद्गम पर ही कलुषित हो जाती है वरन् जनसाधारण का विश्वास भी विजड़ित होता है और विधि के शासन की कारगरता क्षरित होती है और यह बात विधि के शासन के लिए हानिकर है।

429. **एंड्रू आर० मैलोरी** बनाम **संयुक्त राज्य अमरीका**[1] वाले मामले में का प्रतिवादी 19 वर्ष का एक मंद बुद्धि लड़का था जिसे पुलिस ने इस संदेह में गिरफ्तार किया कि उसने बलात्संग किया है। पुलिस ने उसे यह बताए बिना कि मजिस्ट्रेट के समक्ष आरंभिक परीक्षा के समय वह अपने काउंसेल के साथ हाजिर हो सकता है और इस आशय की चेतावनी दिए बिना कि वह चाहे तो चुप रह सकता है, आदि, उससे आधे घंटे तक पूछताछ की और उसके पश्चात् उससे झूठ पकड़ने वाली मशीन के सामने अपना परीक्षण कराने के लिए कहा और चार घंटों तक उसका ऐसा ही एक अन्य परीक्षण किया। उसके इकबाली बयान का उपयोग उसके विचारण के समय किया गया तथा बलात्संग के अपराध के संबंध में उस पर मृत्यु दंडादेश अधिरोपित करके उसे सिद्धदोष किया। न्यायालय की ओर से सर्वसम्मति वाला निर्णय सुनाते हुए न्या० फ्रैंक फर्टर ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी से लिया गया इकबाली बयान फैडरल रूल्स आफ क्रिमिनल प्रोसीजर के नियम 5(ए) का अतिक्रमण करता है और वह साक्ष्य में अग्राह्य है।

430. **विंस्टन मसीहा** बनाम **संयुक्त राज्य अमरीका**[2] वाले मामले में जब प्रतिवादी जमानत पर था तब उसने अपने काउंसेल की अनुपस्थिति में अपने एक सह-प्रतिवादी के साथ इस बात की जानकारी के बिना वार्तालाप किया कि सह-प्रतिवादी सरकार के अभिकर्ता के साथ सहयोग कर रहा था, जिसने आटोमोबील की अगली सीट के नीचे एक रेडियो ट्रांसमीटर लगवा रखा था जिसके माध्यम से फेडरल एजेंट ने उक्त वार्तालाप सुना। विचारण के समय उक्त वार्तालाप प्रतिवादी का इकबाली बयान माना गया जिसके परिणामस्वरूप उसे दोषसिद्ध

---

[1] 354 यू० एस० 449=1 एल० एड० सेकेंड 1479.

[2] 377 यू० एस० 201=12 एल० एडी० 246.

कर दिया गया सरसियोरेराई रिट फाइल की जाने पर सुप्रीम कोर्ट ने छह न्यायाधीशों के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त इकबाली बयान छठे संशोधन का अतिक्रमण करते हुए दिया गया था जो प्रतिवादी को इस अधिकार की गारंटी प्रदान करता था कि वह किसी काउंसेल की सहायता ले सकता है तथा उक्त इकबाली बयान साक्ष्य में अग्राह्य माना गया।

431. **विलियम मैलाय बनाम पैट्रिक जे० होगन**[1] वाले मामले में आवेदक ने, जो कि जूए और अन्य अपराधों के संबंध में सरकार की ओर से चल रही जांच में साक्षी था, आत्मदोषारोपण के विरुद्ध अपने विशेषाधिकार का उपयोग करके उन अनेक प्रश्नों का उत्तर देने से इनकार कर दिया जिनका संबंध जूएबाजी के दौरान छापों के दौरान उसकी पूर्वतन गिरफ्तारी तथा सामूहिक जूए की धनराशि में से पत्ती निकालने के कारण उसकी दोषसिद्धि की घटनाओं से था। उसे न्यायालय का अवमान करने के कारण दोषसिद्ध किया गया तथा प्रश्नों का उत्तर देने के संबंध में उसकी अनिच्छा के कारण उसे कारागार में भेज दिया गया। सरसियोरेराई रिट फाइल की जाने पर सुप्रीम कोर्ट ने पांच न्यायाधीशों के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि पांचवें संशोधन के अनुसार, आत्मदोषारोपण के विरुद्ध विशेषाधिकार राज्यों को भी लागू हो सकता है। उक्त विशेषाधिकार पर, यदि राज्य की किसी कार्यवाही में उसका उचित रूप से अवलंब लिया जाए, परिसंघ द्वारा नियत मानक लागू होते हैं तथा आवेदक का विशेषाधिकार का दावा कायम रखा जाना चाहिए।

432. **विलियम मर्फी बनाम वाटरफ्रंट आफ न्यूयार्क हार्बर**[2] वाले मामले में जब साक्षियों ने प्रश्नों का उत्तर देने से इस आधार पर इनकार कर दिया कि उनके द्वारा दिए गए उत्तर उन्हें फेडरल ला के अधीन अपराध में फंसा सकते हैं, जिन प्रश्नों के संबंध में उन्हें उन्मुक्ति प्रदान करना आशयित नहीं है तो न्यू जर्सी स्थित सुप्रीम कोर्ट ने उन्हें सिविल अवमान का दोषी ठहराया। संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने अपने समक्ष सरसियोरेराई रिट फाइल किए जाने पर बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि आत्मदोषारोपण के विरुद्ध प्रदत्त सांविधानिक विशेषाधिकार साक्षियों को फेडरल ला और स्टेट ला दोनों के अधीन दोषारोपण के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है तथा फेडरल गवर्नमेंट (परिसंघीय सरकार) उस परिसाक्ष्य का उपयोग करने से प्रतिषिद्ध है जिस परिसाक्ष्य को देने के लिए साक्षी स्टेट ला द्वारा उन्मुक्ति दिए जाने के पश्चात् विवश किए गए हों। अतः यह अभिनिर्धारित किया गया कि उन्होंने कोई सिविल अवमान नहीं किया।

433. **अनेस्टो ए० मिरांडा बनाम स्टेट आफ ऐरिजोना**[3] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि किसी अभियुक्त से पूछताछ करके पुलिस अभिरक्षा में अभिप्राप्त किया गया इकबाली बयान पांचवें संशोधन द्वारा आत्मदोषारोपण के विरुद्ध प्रदत्त विशेष अधिकार का उल्लंघन करता है तथा उचित रक्षोपाय (अर्थात् काउंसेल के उपस्थित रहने का अधिकार) किए बिना अभिरक्षा में की गई पूछताछ में यह बात छिपी रहती है कि संदिग्ध व्यक्ति की प्रतिरोध करने की इच्छाशक्ति क्षीण पड़ जाएगी तथा उसे वह सब कुछ कहने के लिए विवश किया जाएगा जिसे वह अन्यथा मुक्त भाव से न कहता।

---

[1] 378 यू० एस० 1=12 एल० एडी० सेकेंड 653.

[2] 378 यू० एस० 52=12 एल० एडी० सेकेंड 678.

[3] 16 एल० डी० सेकेंड यू० एस० 436-694.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

434. **एडवर्ड** बनाम **ऐरिजोना**[1] वाले मामले में पुलिस और एडवर्ड के बीच एक संभावित सौदे पर बातचीत हुई तथा एडवर्ड ने अंतिम रूप से यह कहा कि सौदा करने से पूर्व मैं चाहता हूं कि कोई अटर्नी मेरे समक्ष हो। उसे वापस कारागार भेज दिया गया, किंतु अगले दिन प्रातः उससे दो गुप्तचरों ने पुनः पूछताछ की जो पहले होने वाली बातचीत में सम्मिलित नहीं थे। उन्होंने एडवर्ड को फिर चेतावनी दी और उसने अपने अधिकारों का अधित्यजन करने के पश्चात्, आत्मदोषारोपण वाला बयान दिया। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त बयान साक्ष्य में अग्राह्य था। उस परिदृश्य में यह अभिनिर्धारित किया गया कि जब अभियुक्त ने अभिरक्षा में की जाने वाली पूछताछ के दौरान अपने इस अधिकार का अवलंब ले लिया हो कि उसका काउंसेल उसके साथ रहे" तो उससे तब तक और पूछताछ नहीं की जा सकती जब तक उसे काउंसेल उपलब्ध न करा दिया गया हो बशर्ते कि अभियुक्त ने पुलिस के साथ स्वयं बातचीत की शुरूआत न की हो या उसे आगे न बढ़ाया हो (पृ 484 और 485)। इस नियम का **ऐरिजोना** बनाम **राबर्ट्सन**[2] वाले मामले में और भी विस्तार किया गया जिसमें एक अधिकारी संदिग्ध व्यक्ति के पास पहुंचा, जिसे इस बात की जानकारी नहीं थी कि राबर्ट्सन की अन्य अधिकारी से बातचीत हो चुकी है। राबर्ट्सन ने काउंसेल को बुलाने के अपने अधिकार की याचना की। दूसरे वाले अधिकारी ने राबर्ट्सन से एक ऐसे अपराध के संबंध में सफलतापूर्वक पूछताछ की जिसका उस अपराध से कोई संबंध नहीं था जिसके संबंध में पहले वाली पूछताछ की गई थी। न्यायालय ने **एडवर्ड**[3] वाले मामले के विनिश्चयाधार को स्पष्ट करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि पहले वाला मामला इस बात की आवश्यकता पर आधारित है कि पुलिस की गतिविधियां हतोत्साहित की जाएं। ऐसे संदिग्ध व्यक्ति के पास फिर से पहुंचने में अधिकार के अस्वैच्छिक अधित्यजन की आशंका विशेष रूप से रहती है जिसके साथ पुलिस ने उस समय पूछताछ की हो जब वह वकील की मदद से पूछताछ की प्रक्रिया से गुजरने में सक्षम न हो। यह तर्काधार उस समय भी लागू होता है जब संदिग्ध व्यक्ति से किसी भिन्न अपराध के संबंध में फिर से मिला जाए क्योंकि इस आशय का निष्कर्ष निकाल लेने का कोई आधार नहीं है कि ऐसे अपराध की बाबत पूछताछ करने वाले अधिकारियों में "इकलाबी बयान अभिप्राप्त करने की उत्सुकता का इसलिए अभाव होगा कि इस स्थिति में अपने हित के विरुद्ध आत्मदोषारोपण का भारी खतरा रहता है।"

435. अतः यह बात स्पष्ट होगी कि पुलिस उपाधीक्षक से अन्यून पद वाले किसी आफिसर से, जिस पर जिला पुलिस प्रशासन का प्रधान होने के नाते, विधि और व्यवस्था बनाए रखने का उत्तरदायित्व होता है, यह आशा की जाती है कि वह अपराध का भंजन करने में गहरी रूचि लेगा तथा अपराधियों के मन में डर बैठा कर अपराध का दमन करने के लिए सभी कठोर कदम उठाएगा। इकबाली बयान दर्ज करते समय संदिग्ध व्यक्ति के तथा स्थिति का वस्तुपरक मूल्यांकन करने वाले व्यक्ति के मन से संशय का निराकरण करने के लिए प्रक्रिया में किए गए पूर्वरक्षोपायों का बुद्धिमानी से पालन किया जाना है तथा उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं रहने देना है तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति अधिकारियों के सोपान-

---

[1] 16 एल० डी० सेकेंड यू० एस० 436, 694.

[2] 486 यू० एस० 675 (1988).

[3] 451 यू० एस० 477 (1981).

तंत्र से नहीं बल्कि उसके स्रोत (अर्थात् पूर्व रक्षोपायों) से ही हो सकती है। अतः पुलिस आफिसर को अधिनियम की धारा 15(1) के अधीन इकबाली बयान दर्ज करने की शक्ति प्रदान करना हानिकर है। यदि उसे इकबाली बयान दर्ज करने की शक्ति विधिवत् दे दी जाएगी तो यह बात संशय की दृष्टि से देखी जाएगी कि कानूनी कर्तव्य का निर्वहन वास्तविक रूप से किया गया है तथा उसमें जनता विश्वास नहीं करेगी। यदि शक्ति का प्रयोग करने की अनुमति एक बार दी जाती है तो चाहे कम संकट के समय उसका प्रयोग न्यायिक शक्तियों के साथ किया जाए और गंभीर संकट के समय नियमबद्ध रूप में, तो भी जनता के विश्वास में इस प्रकार का क्षरण विधि के शासन तथा न्यायिक समीक्षा की भावना के लिए अभिशाप है तथा वह संविधान के अनुच्छेद 50 तथा संविधान की सीमाओं का स्पष्ट प्रत्याख्यान है। अतः वह संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 का अतिक्रमण करने के कारण अऋजु, अन्यायोचित और अन्तःकरण के विरुद्ध है।

436. श्री तुलसी की यह दलील भी उपर्युक्त कारणों की वजह से स्वीकार नहीं की जा सकती कि चूंकि संसद् धारा 15(1) को अधिनियमित करने में सक्षम है तथा साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 से 30 का प्रभाव सर्वोपरि खंड लागू करके समाप्त किया जा सकता है अतः विधानमंडल ने संगठित आतंकवादियों तथा गिरोहबंदों द्वारा बड़े पैमाने पर किए जा रहे अपराधों को रोकने के लिए उपर्युक्त युक्ति अपनाई तथा उक्त शक्ति के दुरुपयोग की जो आशंका व्यक्त की गई है वह समाप्त हो जाती है क्योंकि वह शक्ति उच्च पद वाले आफिसर में विहित है।

437. अगला प्रश्न यह है कि अभिहित न्यायालय का गठन करने वाली अधिनियम की धारा 9 को, उस न्यायालय में सेशन अथवा अपर सेशन न्यायाधीश की नियुक्ति को तथा अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने के पश्चात् उसके पद की अनवरतता को संविधान की परिधि में कोई सत्कार योग्य स्थान मिला है? अधिनियम की धारा 9(1) के अधीन केंद्रीय सरकार या कोई राज्य सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, ऐसे क्षेत्र या क्षेत्रों के लिए या ऐसे किसी मामले या वर्ग या समूह के मामलों के लिए, जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किया जाए, एक या अधिक अभिहित न्यायालय गठित कर सकेगी। धारा 9 की उपधारा (4) के अधीन किसी अभिहित न्यायालय का अध्यक्ष ऐसा न्यायाधीश होगा जो यथास्थिति केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से नियुक्त किया जाएगा। धारा 9 की उपधारा (6) के अधीन कोई व्यक्ति किसी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश या अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए तभी अर्हित होगा जब वह ऐसी नियुक्ति से ठीक पूर्व किसी राज्य में सेशन न्यायाधीश या अपर सेशन न्यायाधीश है। इस मामले के प्रयोजन के लिए उपधारा (7) तात्विक है जिसकी भाषा इस प्रकार है: "शंकाओं को दूर करने के लिए यह उपबंध किया जाता है कि किसी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश या अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किसी व्यक्ति द्वारा, उस सेवा में जिसका वह है, उसे लागू नियमों के अधीन अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर लेने से, उसके ऐसे न्यायाधीश या अपर न्यायाधीश बने रहने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उपधारा (2) और (3) का लोप किया जाता है क्योंकि वे वर्तमान प्रयोजन के लिए तात्विक नहीं हैं। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 6 के अधीन, उच्च न्यायालयों और इस संहिता से भिन्न किसी विधि के अधीन गठित न्यायालयों के अतिरिक्त, प्रत्येक राज्य में निम्नलिखित वर्गों के दंड न्यायालय होंगे, अर्थात्—

(i) सेशन न्यायालय,

(ii) प्रथम वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट और, किसी महानगर क्षेत्र में महानगर मजिस्ट्रेट,

(iii) द्वितीय वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट,

(iv) कार्यपालक मजिस्ट्रेट।

438. संहिता की धारा 9 के अधीन राज्य सरकार को हर सेशन प्रभाग के लिए एक सेशन न्यायालय की स्थापना करनी चाहिए। धारा 9 की उपधारा (2) के अनुसार सेशन न्यायालय की अध्यक्षता उच्च न्यायालय द्वारा नियुक्त न्यायाधीश करेगा। धारा 9 की उपधारा (3) के अधीन उच्च न्यायालय भी किसी सेशन न्यायालय की अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए अपर अथवा सहायक सेशन न्यायाधीश की नियुक्ति कर सकेगा। धारा 9 की अन्य उपधाराएं हमारे प्रयोजन के लिए तात्विक नहीं हैं। अत: उनका लोप किया जाता है। यथास्थिति, उच्च न्यायालय अथवा राज्य सरकार, धारा 32 और 33 के अधीन आदेश देकर सेशन न्यायालयों के कर्तव्यों का पालन करने के लिए इन व्यक्तियों को विशेष रूप से उनके नामों अथवा पदों से सशक्त कर सकेगी। ऐसे व्यक्ति संहिता के अधीन किसी संपूर्ण स्थानीय क्षेत्र में उस क्षेत्र के अतिरिक्त शक्तियों का प्रयोग करेंगे जिसमें उनकी नियुक्ति की जाती है। वे उच्च न्यायालय की अपीली अथवा पुनरीक्षण अधिकारिता के अध्यधीन होते हैं।

439. संविधान के "राज्यों के उच्च न्यायालय" शीर्षक वाले अध्याय 5, भाग 6 में अनुच्छेद 214 में यह उपबंध किया गया है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय होगा जो अनुच्छेद 215 के अधीन अभिलेख न्यायालय होगा। संविधान के अनुच्छेद 216 से 224 यहां सुसंगत नहीं हैं। अनुच्छेद 225 के अनुसार, इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए और इस संविधान द्वारा समुचित विधानमंडल को प्रदत्त शक्तियों के आधार पर उस विधानमंडल द्वारा बनाई गई किसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए उच्च न्यायालय की अधिकारिता और उस न्यायालय में न्याय प्रशासन के संबंध में उसके न्यायाधीश अपनी-अपनी शक्तियों का प्रयोग करते रहेंगे, आदि, आदि। अनुच्छेद 227 के प्रवर्तन द्वारा, प्रत्येक उच्च न्यायालय, उन राज्य क्षेत्रों में सर्वत्र जिनके संबंध में वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है सभी न्यायालयों और अधिकरणों का अधीक्षण करेगा। इसके अलावा उच्च न्यायालय ऐसे न्यायालयों से विवरणी मंगा सकेगा तथा ऐसे न्यायालयों की पद्धति और कार्यवाहियों के विनियमन के लिए नियम बना सकेगा। "अधीनस्थ न्यायालय" शीर्षक वाले अध्याय 6 का अनुच्छेद 233 जिला न्यायाधीशों की नियुक्तियों और प्रोन्नति के संबंध में लागू होता है। संविधान के अनुच्छेद 233 (1) के अनुसार, जिला न्यायाधीश को नियुक्ति और प्रोन्नति उस राज्य का राज्यपाल ऐसे राज्य के सम्बन्ध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय के परामर्श से करेगा। संविधान के अनुच्छेद 234 के अनुसार, जिला न्यायाधीशों से भिन्न व्यक्तियों की किसी राज्य की न्यायिक सेवा में नियुक्ति उस राज्य के राज्यपाल, द्वारा, राज्य लोक सेवा आयोग से और ऐसे राज्य के सम्बन्ध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात् उसके द्वारा इस निमित्त बनाए गए नियमों के अनुसार की जाएगी। संविधान के अनुच्छेद 235 के अनुसार, उच्च न्यायालय का नियंत्रण जिला न्यायालयों पर तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर होगा जिसके अन्तर्गत

राज्य की न्यायिक सेवा के अधिकारियों की तैनाती और प्रोन्नति भी आती हैं। ऐसा नियंत्रण "उच्च न्यायालय में निहित होगा।" अनुच्छेद 236 में के "निर्वचन" खंड के प्रवर्तन के कारण "जिला न्यायाधीश" पद के अन्तर्गत नगर सिविल न्यायालय का न्यायाधीश अपर जिला न्यायाधीश, संयुक्त जिला न्यायाधीश सहायक जिला न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, मुख्य प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट, अपर मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट, सेशन न्यायाधीश, अपर सेशन न्यायाधीश और सहायक सेशन न्यायाधीश हैं। "न्यायिक सेवा" पद से ऐसी सेवा अभिप्रेत है, जो अनन्यतः ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बनती है जिनके द्वारा जिला न्यायाधीश के पद का और जिला न्यायाधीश के पद से अवर अन्य सिविल न्यायिक पदों का भरा जाना आशयित है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो सकेगी कि कुछ राज्यों में राज्य की न्यायिक सेवा के उन अधिकारियों की भर्ती, जिनका स्तर जिला न्यायाधीश से निम्न होता है, यो तो उस राज्य के लोक सेवा आयोग द्वारा या उच्च न्यायालय द्वारा की जाती है। साथ ही, जिला न्यायाधीश के पद पर भर्ती उच्च न्यायालय द्वारा की जाएगी तथा राज्यपाल उच्च न्यायालय द्वारा चयनित और संस्तुत अभ्यर्थियों की नियुक्ति जिला न्यायाधीश अथवा अपर जिला न्यायाधीशों के रूप में करता है। उनमें संहिता के अधीन सेशन प्रभाग की शक्तियां निहित की जाती हैं। सभी न्यायिक मजिस्ट्रेट अनन्यतः उच्च न्यायालय के नियंत्रणाधीन होंगे जिस नियंत्रण के अधीन उनकी प्रोन्नति, तैनाती, स्थानांतरण, छुट्टी की मंजूरी और अनुशासनिक नियंत्रण आदि तब तक आता है जब तक वे अपनी अधिवर्षिता की आयु को प्राप्त करते हैं जो सुसंगत नियमों के अधीन विहित की जाती है। अनुच्छेद 237 के प्रवर्तन द्वारा उच्च न्यायालय का नियंत्रण सभी न्यायिक अधिकारियों पर होता है। ये अधिकारी न्यायिक सेवा के केंद्र में तथा आधारिक अधिकारी होने के कारण जनता की नजर में सीधे आते हैं। सुस्थिर विधि यह है कि उच्च न्यायालय का न्यायिक अधिकारियों पर अनन्य नियन्त्रण होता है तथा राज्यपाल को प्रसामान्यतः उच्च न्यायालय द्वारा की गई संस्तुति (सिफारिश) के अनुसार कार्य करना चाहिए। न्यायिक अधीनस्थ अधिकारियों, सरकारी अधिवक्ताओं के पदच्युत किए जाने, सेवा से हटाए जाने, पदावनत किए जाने के संबंध में भी यह नियंत्रण उच्च न्यायालय से परामर्श लेकर किया जाता है। इस प्रकार संविधान की स्कीम भी अधीनस्थ न्यायपालिका की स्वतंत्रता की गारंटी देती है और उसे सुनिश्चित बनाती है।

440. भारतीय संविधान का यह आधार तत्व है कि विधि सर्वोच्च शक्ति का वितरण विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में किया गया है जिनका कार्य संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर रहते हुए क्रमशः विधि बनाना, विधि को लागू करना तथा उसका निर्वचन करना है। राज्य को संविधान द्वारा नियत मर्यादाओं के भीतर रखने के लिए न्यायालय व्यक्तियों और राज्य के अन्य अंगों के बीच की कड़ी हैं। यदि न्यायालय की शक्ति विधायी तथा कार्यपालिक शक्तियों से पृथक् नहीं की जाती है तो कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती। अतः संविधान का अनुच्छेद 50 राज्य को व्यादिष्ट करता है और उसने वस्तुतः राज्य की लोक सेवाओं के मामले में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् किया है। न्यायपालिका का यह सांविधानिक कर्तव्य है कि वह नागरिक और नागरिक, नागरिक और राज्य; राज्य और राज्य तथा राज्यों और केन्द्र के बीच के विवादों का न्याय निर्णयन संविधान और विधि के अनुसार करे।

441. स्वतन्त्र न्यायपालिका विधि के शासन की सर्वाधिक अनिवार्य विशेषता है तथा वह लोकतन्त्र को कायम रखने के लिए अपरिहार्य है। लोकतंत्रात्मक प्रणाली वाली सरकार में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और अखंडता सर्वाधिक महत्वपूर्ण चीज़ है और यह न केवल न्यायाधीशों के लिए हितकर है बल्कि उस जनसाधारण के लिए भी हितकर है जो अनुभूत विधिक क्षति अथवा कार्यपालिका की ज्यादतियों के विरुद्ध न्यायिक उपचार की ईप्सा करते हैं। संविधान ने अपने जिस धर्म को संजोकर रखा है वह किसी निष्पक्ष पीठासीन न्यायाधीश द्वारा किसी भय, पक्षपात, स्नेह अथवा दुर्भावना के बिना न्यायकरण। न्यायिक पुनर्विलोकन मूलभूत ढांचा है तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका उसकी मूलभूत विशेषता तथा संविधान में सहेज कर रखा गया एक प्रकार का विश्वास है। निष्पक्ष न्यायकरण में जनता का विश्वास ही वह संयोजन बल है जिसके कारण न्याय प्रदान करने वाली प्रणाली को लोग स्वीकार करते हैं। न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाने का अर्थ न्यायाधीशों को केवल कार्यपालिका के दबावों से बिल्कुल अलग-अलग रखना ही नहीं है। यह स्वतन्त्रता दबावों अथवा पूर्वाग्रहों के अन्यानेक निष्पाप क्षेत्रों तक फैली हुई है। न्यायाधीश ऐसी मजबूत धातु के बने होने चाहिए जो किसी भी प्रकार की शक्ति के सामने न झुकें, चाहे वह शक्ति आर्थिक हो या राजनीतिक, तभी तो ऋजु और कारगर न्याय प्रशासन सुनिश्चित किया जा सकेगा। अपने में निहित न्यायिक शक्ति का प्रयोग करने वाला अधिकारी, आवश्यक होने पर, अपने अंतरात्मा के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए तथा उसे इस बात की कोई आशंका नहीं होनी चाहिए कि उसे व्यक्तिगत रूप से क्या परिणाम भोगने पड़ सकते हैं। न्यायाधीश उन सभी अवरोधों, नियंत्रणों और दण्डों से मुक्त होने चाहिएं जो अन्य लोक अधिकारियों के मार्ग में आड़े आते हैं तथा उसे अपने कर्तव्यों के विवेकशील पालन के प्रति समर्पित होना चाहिए। अतः वह सभी प्रकार के आंतरिक और बाह्य दबावों से मुक्त होना चाहिए। शुद्ध चरित्र, निष्पाप निष्ठा, निर्भीक मार्ग, निष्पक्ष इरादे वाले व्यक्तियों वाली न्यायपालिका की आवश्यकता संविधान का समादेश तथा जनता की मांग है। वह किसी भय अथवा पक्षपात, स्नेह अथवा दुर्भावना के बिना न्याय करेगा। उसके आदेश और साह्यय का पालनपोषण स्वयं संविधान से होता है। बाह्य हस्तक्षेप अथवा असर अथवा आकांक्षाओं से मुक्त होकर विनिश्चय करने की न्यायाधीश की योग्यता और निष्ठा समुदाय के जीवन को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने का अनिवार्य संघटक तथा गर्भित आश्वासन है। इस प्रकार, स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका के निष्पक्ष न्यायकरण में जनसाधारण का विश्वास बना रहता है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता सेवाकाल और सेवा की अन्य शर्तों की सुरक्षा का उपबन्ध करके सुनिश्चित की गई है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अभिप्राय है— पीठासीन न्यायाधीश को निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार उन मामलों का विचारण, श्रवण और विनिश्चय करने जो उसके सामने आए हों तथा मामलों का विनिश्चय करने तथा उनके गुणागुण के आधार पर किसी भय अथवा पक्षपात, स्नेह अथवा दुर्भावना के बिना उन मामलों में आबद्धकर प्रकृति का विनिश्चय करने के लिए प्राप्त पूर्ण स्वतंत्रता।

442. संविधान की स्कीम के अंग के रूप में अधीनस्थ न्यायपालिका (अर्थात् अधीनस्थ न्यायालय) सांविधानिक न्यायालयों की अनुपूरक व्यवस्था है और वह न्यायकरण की दिशा में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। अधीनस्थ न्यायालयों के विनिश्चयों के विरुद्ध

उस उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण अथवा अपील फाइल की जाती है जो अपनी प्रादेशिक अधिकारिता के अन्तर्गत प्रशासनिक अथवा अर्ध-न्यायिक कार्य करने वाले अधीनस्थ न्यायालयों, अधीकरणों और अन्य निकायों अथवा व्यक्तियों की कार्यवाहियां और विनिश्चयों के सम्बन्ध में अपनी नियंत्रक और पर्यवेक्षकीय शक्ति का प्रयोग करता है। न्यायिक पुनर्विलोकन का सम्बन्ध विनिश्चय की गुणवत्ता से ही नहीं बल्कि विनिश्चय करने की प्रक्रिया से भी है। इसका आशय अनेक प्राधिकारियों द्वारा शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध व्यष्टि के हित का संरक्षण करना है। न्यायिक पुनर्विलोकन व्यष्टि को प्रदत्त एक प्रकार का संरक्षण है न कि कोई शस्त्र। अतः इसका संबंध उस रीति से है जिसमें प्राधिकारी ने विनिश्चय किया। यद्यपि अपील न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों अथवा अधिकरण आदि के विनिश्चय के स्थान पर अपना विनिश्चय गुणवता के आधार पर देता है तो भी यह सुनिश्चित किया जाता है कि व्यष्टि के साथ निष्पक्ष व्यवहार किया जाए। न्यायिक पुनर्विलोकन यह सुनिश्चित करता है कि प्राधिकारी ने ऋजुतापूर्वक कार्य किया है तथा आदेश अवैधता, अनौचित्य, असंगति अथवा प्रक्रियात्मक अनौचित्य के दोष से ग्रस्त नहीं है। प्रक्रिया मौलिक न्याय की सेविका है। अतः विधि को यह सुनिश्चित करने के लिए सतर्क रहना है कि उन व्यक्तियों के लिए पर्याप्त रक्षोपाय किए जाएं जिनके अधिकार प्रभावित होते हैं अथवा वे व्यक्ति अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकें। साथ ही सरकार की कार्यपालिक शक्ति का प्रयोग भी नियंत्रणाधीन रखा जाना चाहिए। अतः न्यायिक पुनर्विलोकन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सांविधानिक न्यायालय अर्थात् उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों आदि, की कार्यवाहियों और विनिश्चयों के तथा उन अधिकरणों अथवा प्राधिकारियों अथवा उन व्यक्तियों के कार्यों और कर्तव्यों के संबंध में अपनी पर्यवेक्षकीय अधिकारिता का प्रयोग करते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, अधीनस्थ न्यायालय भी थोड़ी सी सीमा तक प्रशासनिक कार्यों का न्यायिक पुनर्विलोकन करते हैं। संविधान के अधीन अधीनस्थ न्यायालय न्यायपालिका के अविभाज्य अंग हैं। ब्लैक कृत ला डिक्शनरी के छठे संस्करण में पृष्ठ 849 पर न्यायिक शक्ति इस प्रकार परिभाषित की गई है—"सरकार के उस विभाग द्वारा प्रयुक्त प्राधिकार जिस पर इस बाबत घोषणा करने का उत्तरदायित्व होता है कि विधि क्या है और उसका अर्थान्वियन क्या है, अर्थात् कार्यपालिका और विधायिका की शक्ति से यथा प्रभेदित न्यायालयों और न्यायाधीशों में निहित प्राधिकार, न्यायालयों के पास अपने समक्ष विनिश्चय के लिए लाए जाने वाले दो व्यक्तियों और पक्षकारों के बीच के मामले को विनिश्चित करने और उनके बीच निर्णय को प्रभावी बनाने की व्यापक (जनरल) शक्ति होती है, अनुसचिवीय प्रकृति की शक्ति, जिसमें कोई निवेकाधिकार अंतर्ग्रस्त नहीं होता, से यथा प्रभेदित कोई ऐसी शक्ति जिसमें व्यक्ति के हितों अथवा संपत्ति को प्रभावित करने वाले विशिष्ट मामलों में अधिकार के प्रश्न का अवधारण करने में निर्णय और विवेक का प्रयोग करना अंतर्वलित हो, परस्पर विरोधी पक्षकारों के बीच विद्यमान संविवादों का न केवल श्रवण और अवधारण करने बल्कि उनके संबंध में आबद्धकर आदेश अथवा निर्णय देने का भी अंतर्निहित प्राधिकार, विनिश्चय करने और निर्णय देने तथा उसे उन व्यक्तियों और पक्षकारों के बीच लागू करने की शक्ति, जो किसी मामले को विनिश्चय के लिए न्यायालय के समक्ष लाते हैं, व्यक्तियों के अधिकारों और हितों अथवा संपत्ति के संबंध में न्यायनिर्णयन

1994(3) eILR(PAT) SC 1

करने और उनका संरक्षण करने की शक्ति और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह शक्ति विधि की घोषणा करती है, उसका अर्थान्वयन करती है और उसे लागू बनाती है ।"

443. अतः न्यायिक शक्ति का अभिप्राय किसी भी नाम से अभिहित न्यायिक शक्ति, अर्थात् न्यायालय से है, अर्थात् संविधान के भाग 6 के अध्याय 5 और 6 के अधीन स्थापित उच्च न्यायालय और अधीनस्थ न्यायालय तथा संविधान के भाग 5 में अध्याय 1 में गठित संघ न्यायपालिका "अर्थात् भारत के उच्चतम न्यायालय" को अवश्य ही नागरिक और नागरिक, नागरिक तथा राज्य तथा राज्यों के बीच के संविवादों का विनिश्चय करना है चाहे उनका संबंध प्राण, स्वतन्त्रता अथवा संपत्ति के अधिकारों से हो। न्यायालयों के पास विधि की घोषणा करने, विधि को लागू करने तथा अपने समक्ष आने वाले पक्षकारों के बीच आबद्धकारी और प्रामाणिक विनिश्चय करने और उसे प्रभावी बनाने की शक्ति होती है ।

444. संहिता की धारा 6 द्वारा गठित सेशन न्यायालयों में, जिन्हें संहिता के अधीन शक्तियां प्रदान की जाती हैं, संविधान के अनुच्छेद 233 के अधीन जिला न्यायाधीश, अपर जिला न्यायाधीश अथवा अपर सेशन न्यायाधीश नियुक्त किए जाते हैं। दंड विधि (संशोधन) अधिनियम, 1952 अथवा 1946 या 1988 का भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम में केंद्रीय या राज्य सरकार को लोक सेवकों द्वारा भ्रष्टाचार से संबंधित अपराधों की बाबत कार्रवाई करने के लिए अधिसूचना द्वारा विशेष न्यायाधीशों, सेशन अथवा अपर सेशन न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की शक्ति प्रदान की गई है। आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन अपराधों तथा उसके अधीन दिए गए आदेश की बाबत कार्रवाई सेशन अथवा अपर सेशन न्यायाधीशों द्वारा की जाती है। वे उच्च न्यायालय के प्रशासनिक तथा न्यायिक नियंत्रण के अधीन रहते हैं जिसमें उनके अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने तक इस न्यायालय द्वारा अधिकथित नियमों अथवा विधि के अनुसार उनका स्थानांतरण, तैनाती और अनुशासनिक नियंत्रण सम्मिलित है। अधिनियम की धारा 9, 11 और 12 का संयुक्त रूप से पठन करने पर यह उपदर्शित नहीं होता कि वे धाराएं अभिहित न्यायालयों अथवा पद धारण करने वाले न्यायाधीशों पर उच्च न्यायालय के नियंत्रण अथवा पर्यवेक्षण का परिरक्षण करती हैं यद्यपि आरंभ में उनकी नियुक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सहमति से की गई थी। अधिनियम की धारा 19 में किसी अभिहित न्यायालय के किसी निर्णय, दंडादेश अथवा आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील किए जाने का उपबंध है चाहे ऐसी अपील तथ्यों के आधार पर की जाए चाहे विधि के अधीन। अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश अथवा अपर न्यायाधीश के न्यायिक कार्य पर से उच्चतम न्यायालय का नियंत्रण दूर कर दिया गया। इस प्रकार यह बात स्पष्ट होगी कि धारा 9(1) के अधीन अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में सेशन अथवा अपर सेशन न्यायाधीशों की नियुक्ति संविधान और दंड प्रक्रिया संहिता की स्कीम से बाहर है और वह अधिनियम की उपज है। यद्यपि अभिहित न्यायालय के जिला अथवा अपर सेशन न्यायाधीश की नियुक्ति, यथास्थिति, केंद्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार द्वारा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की अनुमति से की जाती है, तो भी उसके बाद उच्च न्यायालय का उन पर किसी प्रकार का प्रशासनिक अथवा न्यायिक नियंत्रण नहीं रहता। अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में अपनी नियुक्ति हो जाने पर सेशन अथवा अपर सेशन न्यायाधीश का प्रशासनिक नियंत्रण कार्यपालिका के यहां पक्षांतरित हो जाता है चाहे वह कार्यपालिका केंद्रीय सरकार हो अथवा राज्य सरकार।

1994(3) eILR(PAT) SC 1

दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश की आरंभिक नियुक्ति के लिए ही आवश्यक होती है तथा उसके पश्चात् उस पर उच्च न्यायालय का कोई प्रशासनिक और न्यायिक नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण नहीं रहता। अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (7) किसी शब्द को छोड़े बिना उसके आलंब को इस प्रकार प्रकट करती है कि भले ही किसी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश अथवा अपर न्यायाधीश ने उसे लागू होने वाले नियमों के अधीन राज्य न्यायिक सेवा में अपनी अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर ली हो तो भी वह इस असंदिग्ध भाषा के आधार पर, "कि उसके ऐसे न्यायाधीश या अपर सेशन न्यायाधीश बने रहने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, ऐसा न्यायाधीश अथवा अपर न्यायाधीश बने रहने का हकदार होगा।" दूसरे शब्दों में, विधायी आशय इस अर्थ में स्पष्ट है कि भले ही अभिहित न्यायाधीश ने उसे लागू होने वाले नियमों के अधीन अपनी प्रसामान्य न्यायिक सेवा में सेशन न्यायाधीश अथवा अपर सेशन न्यायाधीश के रूप में अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर ली है फिर भी यह केंद्रीय सरकार अथवा समुचित राज्य सरकार के प्रसाद-पर्यंत सेवा में बना रहेगा। यह उपबंध क्या संदेश देना चाहता है? क्या यह उपबंध न्यायपालिका की स्वतंत्रता से संगत है? क्या यह उपबंध अभियुक्त के मन में इस बाबत विश्वास उत्पन्न करेगा कि अभिहित न्यायाधीश किसी ऐसी कठोर सामग्री का बना होगा जो किसी शक्ति अथवा वैयक्तिक लाभ की लालसा के समक्ष नहीं झुकेगी। अधिनियम की धारा 9(1) की सांविधानिक विधिमान्यता पर इसी परिवेश और परिप्रेक्ष्य में ध्यान दिया जाना चाहिए। इस मामले में अभिहित न्यायाधीश के रूप में आरंभिक नियुक्ति को लेकर अधिक चिंता नहीं है किंतु उसके न्यायिक कर्तव्यों के निर्वहन पर नियंत्रण और पर्यवेक्षण को लेकर है तथा उसके (न्यायपालिका) अंग के रूप में उसे प्रकटत: अथवा प्रच्छन्नत: कार्यपालिक असर से अलग रखा गया है।

445. **डी०जे०एफ०डी० ल्यानेज और अन्य बनाम दी क्वीन**[1] वाले मामले में श्रीलंका की संसद् द्वारा निर्मित क्रिमिनल ला (स्पेशल प्रोविजंस) ऐक्ट, 1962 (1962 का 1) में कतिपय अपराधियों अथवा अपराधों के वर्ग का विचारण करने के लिए मिनिस्टर आफ जस्टिस द्वारा विशेष न्यायाधीशों के नामनिर्देशन की विशेष प्रक्रिया अंतर्विष्ट थी, जो बाद में सीलोन सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस को नामनिर्देशन करने की शक्ति देकर संशोधित कर दी गई। पुलिस अभिरक्षा में निरुद्ध व्यक्तियों के इकबाली बयान-दर्ज करने की शक्ति भी पुलिस को दी गई। क्रिमिनल प्रोसीजर कोड की धारा 440ए को तथा अपराधियों का विचारण करने वाले तीन न्यायाधीशों के नाम निर्देशन को उपांतरित करने वाली धारा 9 की शक्तिमत्ता को तथा अन्य धाराओं को तथा उनकी परिणामी दोषसिद्धि को शक्तिबाह्य और शून्य बताकर चुनौती दी गई। सीलोन के सुप्रीम कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया कि नामांकन की शक्ति चैप्टर आफ जस्टिस, 1833 के खण्ड 4 की अधिकारातीत थी। उनकी दोषसिद्धि अपास्त कर दी गई। अपील की जाने पर ज्युडिशियल कमेटी ने यह अभिनिर्धारित किया कि चैप्टर आफ जस्टिस, 1833 के उपबंध इस आशय को स्पष्ट करते हैं कि न्यायपालिका के लिए राजनीतिक, विधायी और कार्यपालिक नियंत्रण से स्वतंत्रता सुनिश्चित की जाए। वे उपबंध संविधान में उचित स्थान पर रखे गए हैं जिसका आशय यह है कि न्यायिक शक्ति न्यायपालिका में ही निहित की जाएगी। वे किसी ऐसे संविधान में अनुचित स्थान पर रखे

---

[1] 1967 (1) ए० सी० 259.

1994(3) eILR(PAT

जाते किसका आशय यह रहा होता कि न्यायिक शक्ति में कार्यपालिका और विधायिका साझीदार बने। संविधान का न्यायिक शक्ति के निहित होने की बाबत मौन इस बात के संगत है कि वह न्यायपालिका के हाथों में रहे जिसके पास वह एक शताब्दी से भी अधिक समय से रही है और उसका मौन ऐसे किसी आशय के असंगत होता कि आगे से वह शक्ति कार्यपालिका या विधायिका को संक्रांत हो जाए अथवा वे इसमें भागीदार बन जाएं। यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि प्रत्येक मामले का विनिश्चय उसके अपने तथ्यों और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में किया जाना है जिसमें कि विधान का सच्चा प्रयोजन सम्मिलित है, और वह स्थिति, जिसमें सामान्य आशय से उसके अस्तित्व का निदेश दिया गया (जहां अनेक अधिनियम आक्षेपित हों) और वह सीमा सम्मिलित है जिस तक विधान, निदेश अथवा निर्बंधन के रूप में, विनिर्दिष्ट कार्यवाही में न्यायपालिका के विवेकाधिकार अथवा निर्णय को प्रभावित करता है। अतः विधान की चुनौती की प्रकृति पर सूक्ष्म रूप से विचार करना आवश्यक है। यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि "अधिनियम निरोध के दौरान पुलिस द्वारा अस्वीकार्य रूप से अभिप्राप्त कथनों को अग्राह्य बनाता है। यह उनकी दोषसिद्धि को सुकर बनाने की दृष्टि से साक्ष्य के मूलभूत नियम को बदलता है और अंततः यह उन पर अधिरोपित किए जाने वाले दंड को भी कार्योत्तर रूप से बदलता है। इसके बावजूद यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि इन अधिनियमों का सही स्वरूप और प्रयोजन उन विनिर्दिष्ट कार्यवाहियों पर उनके संयुक्त प्रभाव से प्रकट होता है जिनके संबंध में उनका अभिकल्पन किया गया और उनका स्वरूप विशेष रूप से उन्हीं परिवर्तनों के आधार पर जाना जाता है जिन्हें करना उनका अंतिम उद्देश्य है, अर्थात् उन व्यक्तियों को दंड देना, जो दोषसिद्ध किए गए हैं। वे परिवर्तन न्यायिक क्षेत्र में गंभीर प्रकृति का अभियान छेड़ते हैं"; ...... "उसके सामने एक गंभीर समस्या आई तथा उसने उससे निपटने के लिए यह सोचकर गंभीर कदम उठाए कि कोई भी व्यक्ति यह मानेगा कि उसके पास ऐसा करने की शक्ति है और वह सही रूप से कार्य कर रही है। किंतु यह बात असंगत है तथा यह उन कार्यों को किसी प्रकार की विधिमान्यता प्रदान नहीं करती जो संविधान का अतिलंघन करते हैं। जो बात एक बार कर दी जाती है, वह अनुज्ञात किए जाने की दशा में, कम संकट के समय तथा कम गंभीर परिस्थितियों में फिर से भी की जा सकती है; और इस प्रकार न्यायिक शक्ति का क्षरण हो सकता है। न्यायिक शक्ति का ऐसा क्षरण संविधान के स्पष्ट आशय के विपरीत है।"

446. **नार्दर्न पाइप लाइन कंस्ट्रक्शन कंपनी** बनाम **मैराथन पाइप लाइन कंपनी एंड यूनाइटेड स्टेट्स**[1] वाले मामले में जिले के फडरल डिस्ट्रिक्ट कोर्ट के सहायक के रूप में प्रत्येक फेडरल ज्यूडिशियल डिस्ट्रिक्ट में 1978 के बैंक्रप्ट्सी ऐक्ट के अधीन स्थापित यूनाइटेड स्टेट्स बैंक्रप्ट्सी कोर्ट तथा अध्यक्ष ने सीनेट की सलाह और सम्मति से 14 वर्ष की अवधि वाले पदों पर न्यायाधीशों की नियुक्ति की। उक्त न्यायाधीश अपनी अक्षमता, दुराचरण, कर्तव्य की उपेक्षा अथवा अपनी शारीरिक या मानसिक असमर्थता के कारण सर्किट की ज्युडिशियल काउंसिल द्वारा पदों से हटाए जा सकते थे। उनके वेतन कानून द्वारा नियत थे तथा समायोजन के अधीन थे। उक्त ऐक्ट न्यायालयों को टाइटिल 11 के अधीन उद्भूत सभी सिविल कार्यवाहियों के तथा टाइटिल 11 के अधीन मामलों में अथवा संबद्ध मामलों में अधिकारिता

1 73 एल० एडी० सेकेंड 598=458 यू० एस० 50 (1982).

1994(3) eILR(PAT) SC 1

प्रदान करता है (28 यू० एस० सी० एस० सेक्सन 1471(बी) (1) मिनेसोटा जिले के बैंक्रप्ट्सी कोर्टों में कार्यवाही आरंभ किए जाने पर, संविदा और वारंटी के भंग किए जाने के कारण निगम के विरुद्ध नुकसानी का वाद फाइल किया गया। प्रतिवादी ने उक्त वाद को इस आधार पर खारिज किए जाने की ईप्सा की कि उक्त ऐक्ट उन न्यायाधीशों को न्यायिक शक्ति प्रदान करने वाले आर्टि० 3 का अतिवर्तन करता है जिन्हें आजीवन न्यायाधीश बने रहने का अधिकार नहीं है और वेतन में कमी किए जाने के प्रति संरक्षण प्राप्त नहीं है। बैंक्रप्ट्सी जज ने उक्त समावेदन अस्वीकार कर दिया। अपील की जाने पर सिनेसोटा के जिला न्यायाधीश ने उक्त समावेदन को इस आधार पर मंजूर करते हुए आदेश दर्ज किया कि 28 यू० एस० सी० एस० सेक्शन 1471 में मामलों का विचारण करने के लिए बैंक्रप्ट्सी न्यायाधीशों को किया गया प्राधिकार का प्रत्यायोजन को संविधान के अधीन आर्टि० 3 वाले न्यायाधीशों में अन्यथा न्यस्त हो जाता है, असांविधानिक है। अपील की जाने पर, संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने बहुमत से उक्त विनिश्चय की पुष्टि करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि ऐक्ट द्वारा सृष्ट बैंक्रप्ट्सी जज आर्टि० 3 वाले न्यायाधीश नहीं हैं अतः आर्टि० 3 कांग्रेस को बैंक्रप्ट्सी कानून के अधीन उद्भूत होने वाले सभी मामलों में अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए आर्टि० 3 के शेड्यूल 1 के अधीन विधायी न्यायालयों की स्थापना करने से विवर्जित करता है। ऐसे न्यायालय ऐतिहासिक रूप से मान्यता प्राप्त संयुक्त राज्य अमरीका अथवा कोलंबिया जिले के प्रादेशिक न्यायालयों, सेना न्यायालयों (कोर्ट्स मार्शल) तथा लोक अधिकारों का न्यायनिर्णयन करने के लिए सृष्ट न्यायालयों, जिनमें स्वतंत्र न्यायनिर्णयन का सिद्धांत लागू नहीं होता, की कोटि के अंतर्गत आने वाले न्यायालय नहीं हैं और न ही इस प्रकार स्थापित बैंक्रप्ट्सी न्यायालयों को आर्टि० 3 की पहुंच से परे रखने का कोई कारण है। बैंक्रप्ट्सी ऐक्ट की धारा 241(ए) ने आर्टि० 3 वाले जिला न्यायालय को यदि न्यायिक शक्ति के सभी अनिवार्य गुणों से नहीं तो अधिकांश गुणों से अवश्य वंचित कर दिया है और उन्हें० आर्टि० 3 के अंतर्गत न आने वाले किसी सहायक न्यायालय में निहित कर दिया है। इस प्रकार जो अधिकारिता प्रदान की गई है उसका अनुमोदन इस रूप में नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस ने आर्टि० 3 वाले न्यायालयों के सहायक न्यायालयों का सर्जन करने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग किया है। फेडरल ज्युडीशियरी का अभिकल्पन इस प्रकार किया गया जिससे कि वह कार्यपालिका और विधायिका से स्वतंत्र रहे। आवधिक रूप से की जाने वाली नियुक्तियां ज्युडीशियरी (न्यायपालिका) की स्वतंत्रता के लिए घातक होती हैं। यदि नियुक्ति करने की शक्ति या तो कार्यपालिका को या विधायिका को सौंप दी जाती है तो उस शक्ति के अनुचित पालन का खतरा उसी शाखा से होगा जिसके पास वह शक्ति है। सरकार की अन्य शाखाओं के संभावित प्रभुत्व से न्यायपालिका को मुक्त रखने के लिए यह अनिवार्य है कि वह कार्यपालिका और विधायिका के नियंत्रण से मुक्त रहे। आर्टि० 3, सेक्शन 1 का कठोर समादेश यह है कि न्यायिक शक्ति सुप्रीम कोर्ट में तथा अवर न्यायालयों में निहित होगी। बैंक्रप्ट्सी जज, जिनके पदों का सर्जन ऐक्ट के अधीन किया गया है कार्यपालिका के नियंत्रणाधीन है। न्यायिक कर्तव्यों का समनुदेशन आर्टि० 3 वाले किसी सहायक न्यायालय से इतर न्यायालय को करके उस रीति का, जिसमें अधिकारों का न्यायनिर्णयन किया जाता है, नियंत्रण करने की बाबत कांग्रेस का बहुमत असांविधानिक होना चाहिए। तद्नुसार, न्यायालय ने उक्त ऐक्ट को कांग्रेस के अधिकारातीत घोषित किया।

1994(3) eILR(PAT) SC 1

तथापि, उक्त घोषणा अपने प्रवर्तन की दृष्टि से इसलिए भविष्यलक्षी ठहराई गई क्योंकि उसे भूतलक्षी प्रभाव वाली घोषणा मान लेने के कारण उन वादकारियों (लिटिगैंट्स) को कठिनाई होती जिन्होंने इस बात का अवलंब लिया था कि उक्त ऐक्ट ने बैंक्रप्टसी कोर्टों में अधिकारिता निहित की है। कोर्ट ने कांग्रेस को विधि में संशोधन करने के लिए समय दिया तथा निर्णय के प्रवर्तन को विनिर्दिष्ट तारीख तक के लिए मुल्तवी कर दिया।

447. **स्पेशल कोर्ट्स बिल, 1978**[1] वाले मामले में सात न्यायाधीशों वाली एक न्यायपीठ से 1978 के निर्देश सं० 1 का उत्तर देने की अपेक्षा की गई। विशेष न्यायालय के गठन और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से भारत के किसी उच्च न्यायालय के आसीन न्यायाधीश के अथवा भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श से केंद्रीय सरकार द्वारा नामनिर्देशित किसी ऐसे व्यक्ति के, जिसने भारत के किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पद धारण किया हो, नाम निर्देशन का उपबंध करने वाला खंड 7 विधि की दृष्टि से मान्य है। सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने निर्देश के विरुद्ध राय अभिव्यक्त की। न्या० सिंहल ने खंड 2 और 7 की विधिमान्यता के प्रश्न पर पृथक् किंतु सम्मत राय के परिप्रेक्ष्य में विचार करके निम्नलिखित अभिनिर्धारण किया—

> "सिविल और दांडिक प्रविषयों पर विचार करने वाले हर न्यायालय की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए यह वस्तुत: आवश्यक है। किसी राज्य में संविधान के अनुच्छेद 236 में अभिव्यक्त पदनामों वाले अर्थात् "जिला न्यायाधीश" अभिव्यक्ति के अंतर्गत, अथवा सिविल प्रक्रिया और दंड प्रक्रिया संहिताओं में विद्यमान किसी अभिव्यक्ति के अंतर्गत आने वाले न्यायालयों से भिन्न पदनामों वाले सिविल और दांडिक न्यायालयों का सर्जन करना अथवा उनकी स्थापना करना अनुज्ञेय हो सकता है, किंतु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि संविधान में प्रकल्पित न्यायालयों से भिन्न न्यायालयों की सौपानिक व्यवस्था स्थापित करना अनुज्ञेय है।"

यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि—

> "इस प्रकार संविधान ने देश में किसी सशक्त, स्वतंत्र और निष्पक्ष न्याय-प्रशासन की स्थापना का पर्याप्त और कारगर उपबंध किया है और उस न्याय-प्रशासन की आवश्यक संपूर्ति सिविल और दांडिक न्यायालयों से की है। संसद् अथवा किसी राज्य विधानमंडल के लिए यह अनुज्ञेय नहीं है कि वह किसी राज्य के उच्च न्यायालय के समांतर अथवा किसी अतिरिक्त अथवा दूसरे उच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय के किसी अधीनस्थ न्यायालय से भिन्न किसी न्यायालय के रूप में किसी सिविल अथवा दांडिक न्यायालय की स्थापना का उपबंध करके संविधान की स्कीम की अवज्ञा करे या उससे कतराए। ऐसा कोई भी प्रयत्न असांविधानिक होगा और वह न्यायपालिका की उस स्वतंत्रता पर आघात करेगा जो संविधान में संजोकर रखी गई है और जिसकी अनेक वर्षों से सावधानीपूर्वक परिचर्या की जाती रही है।"

यह अभिनिर्धारण भी किया गया कि—

> "यह बात किसी भी प्रकार के संदेह या संविवाद से परे है कि संविधान किसी

[1] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 478.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

ऐसे दंड न्यायालय की स्थापना की अनुमति नहीं देता जिसकी प्रास्थिति संविधान के अनुच्छेद 235 में परिभाषित उस न्यायालय के बराबर हो, जिसकी अध्यक्षता जिला न्यायाधीश द्वारा की जाती है, और जो उच्च न्यायालय का अधीनस्थ न हो……"

इस न्यायालय ने संहिता की धारा 6 पर आधारित इस दलील पर विचार करते हुए कि संहिता के अधीन वह एक न्यायालय है, यह अभिनिर्धारित किया कि—

"इस धारा में जो कुछ किया गया है वह यह है कि उच्च न्यायालयों और इस संहिता से भिन्न किसी विधि के अधीन गठित न्यायालयों के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में पांच वर्गों के दंड न्यायालय होंगे तथा किसी भी प्रकार के न्यायौचित्य के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि यह धारा समांतर न्यायालयों के अथवा उच्च न्यायालयों के अथवा ऐसे दंड न्यायालयों के गठन का उपबंध करती है जो उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय नहीं हैं।" ……"अतः संहिता की धारा 6 विधेयक (विशेष न्यायालय विधेयक) में अनुध्यात प्रकृति के विशेष न्यायालयों के सर्जन को न्यायोचित नहीं ठहराती तथा इसके विपरीत दी गई दलील बिल्कुल अमान्य है।"

यह राय भी अभिव्यक्त की गई है कि वे सभी व्यक्ति, जिन पर अपराध करने का आरोप लगाया गया हो विधि की दृष्टि में न्यायालय के समक्ष समान स्थिति में होने चाहिए। ऐसी समता न केवल अभियुक्तों के बीच वरन् अभियोजन और अभियुक्त के बीच भी सुनिश्चित की जानी चाहिए। इस प्रकार यह "अधिकारों का प्रस्फोटन" मात्र नहीं है किंतु यह, जैसा कि आपको प्रतीत होगा, वह चीज है जिसे संविधान ने हर नागरिक को सावधानीपूर्वक, सुनिश्चित रूप से और पूर्ण रूप से प्रदान किया है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए संविधान का अनुच्छेद 21 ही काफी है। सेवानिवृत्त न्यायाधीशों का नामनिर्देशन अनुकूल नहीं माना गया। यह सिद्धांत इस बात को प्रबलित बनाता है कि न्यायिक कर्तव्य का पर्यवसान अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर लेने के साथ समाप्त हो जाना चाहिए उसके बाद नहीं।

448. इस प्रकार यह बात सुनिश्चित होगी कि किसी अभिहित न्यायालय का गठन स्वमेव विधिमान्य हो सकता है किंतु सेशन न्यायालयों के समांतर किसी न्यायालय के रूप में उसका गठन तथा सेशन न्यायाधीश अथवा अपर सेशन न्यायाधीश की संबद्ध उच्च न्यायालय के प्रशासनिक और न्यायिक नियंत्रण के बिना किसी अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति तथा अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसका पद पर बने रहना स्पष्ट रूप से न्यायपालिका की उस स्वतंत्रता को नकारते हैं और उसे तहस-नहस करते हैं जो सावधानीपूर्वक संरक्षित की गई है और भारत की जनता को प्रदान की गई है। इससे स्वतंत्रता तथा न्याय की निष्पक्षता को नष्ट करने वाले जहरीले वृक्ष फलों के बीज बोने वाले "प्रसाद सिद्धांत" (प्लैंजर डाक्ट्रिन) का पोषण होगा, जिसका संविधान ने अपनी जागरूकता का परिचय देते हुए परिहार किया है। अतः यह उपबंध असांविधानिक है।

449. इस निष्कर्ष का यह अभिप्राय नहीं है कि अधिनियम के अधीन उन अपराधों का विचारण नियमित न्यायालयों द्वारा नहीं किया जा सकता जिन्हें उच्च न्यायालय ने अधिनियम के अधीन उन कर्तव्यों का पालन करने अथवा शक्ति का प्रयोग करने के लिए विशेष रूप से सेशन अथवा अपर अथवा संयुक्त सेशन न्यायाधीशों को समनुदेशित किया है। अपरंच,

1994(3) eILR(PAT) SC

धारा 19 इस न्यायालय को अपीली शक्ति प्रदान करती है। जैसी कि श्री तुलसी ने दलील दी है, यह सच है कि मामलों तथा अपीलों का शीघ्र विचारण और निपटारा करना अधिनियम का लक्ष्य है। किंतु, चूंकि अभियुक्त की ओर से भी यह दलील सही रूप से दी गई है कि बहुत से अभियुक्त अकिंचन होने के कारण अत्यधिक दूरी तथा भारी वाद-व्यय के कारण उच्चतम न्यायालय में अपील का उपचार फलोत्पादक रूप से प्राप्त नहीं कर सकते, अतः न्यायोचित तथा ऋजु उपचार यही होगा कि उच्च न्यायालय को अपीली शक्ति प्रदान कर दी जाए। मुझे इस दलील में काफी दम दिखाई देता है। तो भी चूंकि यह एक विधायी नीति है अत: यह बात संसद् के प्रज्ञान पर छोड़ी जाती है कि वह अनुच्छेद 39क को ध्यान में रख कर विनिश्चय करे और अधिनियम को संशोधित करे, जो अनुच्छेद स्वमेव अकिंचन को एक प्रकार का मूल अधिकार प्रदान करता है। उच्च न्यायालय को अपील करने का उपचार राज्य स्तर पर आसानी से पहुंच में होगा, कहीं ऐसा न हो कि अकिंचन व्यक्ति अपील के उपचार को छोड़ने के लिए मजबूर हो जाए। संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इस न्यायालय की शरण में आने का अधिकार हर व्यक्ति के लिए सांविधानिक रूप से परिरक्षित किया गया है।

450. **प्रबंध निदेशक, इलेक्ट्रानिक कार्पोरेशन आफ इंडिया लिमिटेड, हैदराबाद** बनाम **बी० करुणाकर**[1] वाले मामले में मैंने पृथक् किंतु सम्मत निर्णय में इस न्यायालय के किसी विनिश्चय के, चाहे वह सांविधानिक हो, चाहे सिविल या दांडिक, भूतलक्षी रूप से लागू होने की आवश्यकता पर सविस्तार विचार किया है। निर्णय के पैरा 73 में यह अभिनिर्धारित किया गया कि निर्णय में अधिकथित विधि को प्रभावी करने के लिए निश्चित तारीख निर्णय की तारीख होती है। यद्यपि मैंने यह अभिनिर्धारित किया था कि उस निर्णय में न्यायालय के समक्ष वाले पक्षकार अनुतोष के हकदार थे, फिर भी चूंकि अधिसंख्य न्यायाधीशों ने अन्यथा अभिनिर्धारण किया है अत. मैं उससे आबद्ध हूं। **विक्टर लिंकलेटर** बनाम **विक्टर जी वाकर**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि यद्यपि साक्ष्य चौथे संशोधन का अतिक्रमण करते हुए अवैध तलाशी और अभिग्रहण में संगृहीत किया गया था और उस पर आधारित दोषसिद्धि विधिमान्य नहीं है। उक्त विनिश्चय भविष्यलक्षी प्रभाव वाला विनिश्चय अभिनिर्धारित किया गया तथा उसके अधीन दोषसिद्धि में हस्तक्षेप नहीं किया गया। **अर्नेस्टो ए० मिरांडा** बनाम **स्टेट आफ ऐरिजोना**[3] वाले मामले में अभियुक्त से उसका इकबाली बयान उसके सांविधानिक अधिकार का अतिक्रमण करते हुए अभिप्राप्त किया गया तथा साक्ष्य अग्राह्य माना गया तो भी उसके आधार पर की गई दोषसिद्धि में हस्तक्षेप नहीं किया गया। यही दृष्टिकोण **डैनी एस्कोबीडो** बनाम **इलिनायस**[4] तथा **सिलवेस्टर जान्सन** बनाम **स्टेट आफ न्यू जर्सी**[5] वाले मामलों में अपनाया गया जिनमें यह अभिनिर्धारित किए जाने के बावजूद दोषसिद्धि और दंडादेश में हस्तक्षेप नहीं किया गया कि सांविधानिक अधिकार का अतिक्रमण करके अभिप्राप्त किया गया साक्ष्य अग्राह्य था। यह पहले ही सुनिश्चित किया जा चुका है

---

[1] जजमेंट टूडे 1993 (6) एस० सी० 1.

[2] 14 लायर्स एडीशन सेकेंड 601=381 यू० एस० 618 (1965)

[3] 16 लायर्स एडीशन सेकेन्ड 694=384 यू० एस० 436.

[4] 12 लायर्स एडीशन सेकेन्ड 977=378 यू० एस० 478.

[5] 16 लायर्स एडीशन सेकेन्ड 852=384 यू० एस० 717.

कि यद्यपि **नार्दर्न पाइपलाइन कंस्ट्रक्शन कंपनी**[1] वाले मामले में बैंक्रप्ट्सी कोर्टों, की स्थापना असांविधानिक मानी गई फिर भी इस मामले में किया गया निर्णय भविष्यलक्षी रूप से प्रभावी माना गया तथा कांग्रेस को इसलिए समय दिया गया कि वह पहले ही दिए गए निर्णयों को अस्तव्यस्त किए बिना विधि को संशोधित करे। आर्टि० 233-बी जिला न्यायाधीशों की उन नियुक्तियों को विधिमान्य बनाता था जो अविधिमान्य घोषित कर दी गई थीं। **जी० रामराजू बनाम आंध्र प्रदेश**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने वास्तविक सत्ता का सिद्धांत (डाक्ट्रिन आफ डी फैक्टो अथारिटी) लागू करके उन सेशन न्यायाधीशों द्वारा की गई दोषसिद्धि और दिए गए दंडादेश को विधिमान्य बनाया जिनकी नियुक्तियां अवैध घोषित कर दी गई थीं।

451. **गोकराजू रंगराजू** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया—

> "इसलिए वास्तविक न्यायाधीश वह है जो न केवल अतिक्रमी या बलादग्राही है अपितु ऐसा व्यक्ति है जो विधिपूर्ण प्राधिकार के आभास के अधीन पद धारण करता है यद्यपि उसकी नियुक्ति त्रुटिपूर्ण है और वह बाद में त्रुटिपूर्ण पाई जाती है। उसके पद उसके द्वारा दिए गए निर्णयों और उसके द्वारा किए गए कार्यों के प्रति उसके अधिमान में कुछ भी त्रुटि हो जब कि वह पद की शक्ति और कर्तव्यों से विभूषित था, हालांकि विधिविरुद्ध रूप से था। उसकी वही दक्षता होगी जैसा कि विधितः न्यायाधीश द्वारा सुनाए गए निर्णयों और किए गए कार्यों की होगी। ऐसा वास्तविकता का सिद्धांत जो आवश्यकता और लोकनीति के कारण अनावश्यक भ्रांति और सतत रिष्टि को रोकने के लिए पैदा हुआ था लोकनीति पर आधारित एक अन्य नियम भी है।"

इस न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि—

> "नियुक्ति की विधिमान्यता को सांपार्श्विक कार्यवाही में चुनौती नहीं दी जा सकती। यह सच है कि इस निष्कर्ष के परिप्रेक्ष्य में कि धारा 9(7) अविधिमान्य, संविधान के मूलभूत ढांचे तथा उसमें प्रकल्पित न्यायिक स्वतंत्रता की अतिक्रमणकारी है, लोकनीति यह अपेक्षा करती है कि वास्तविकता का सिद्धांत ऐसे व्यक्तियों के शासकीय कार्यों में अंतर्वलित जनता और व्यष्टिक हितों की सुरक्षा करने के लिए नीति और आवश्यकता के रूप में जोड़ दिया जाता जो विधि में सही रूप से वस्तुतः नियुक्त किए जाने के बिना किसी अधिकारी के कर्तव्य का पालन कर रहे हों। अतः यद्यपि वे विधिमान्य रूप से नियुक्त नहीं किए जाते किंतु अभिहित न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में अपनी आभासी पदवी द्वारा उनके द्वारा किए गए कार्य, विचारण, पारित किए गए निर्णय, दंडादेश और की गई दोषसिद्धियां वैध और विधिमान्य होते हैं। संविधान अथवा संसद् अथवा राज्यों के विधानमंडल वास्तविकता के इस सिद्धांत से अपरिचित नहीं हैं। संविधान का अनुच्छेद 233क, जो उसमें बीसवां संशोधन अधिनियम, 1966 द्वारा सम्मिलित किया गया है, इस सिद्धांत को मान्यता

[1] 73 लायर्स एडीशन सेकेन्ड 598=458 यू० एस० 50 (1982).

[2] (1981) 3 एस० सी० आर० 474.

[3] (1981) 3 एस० सी० आर० 474=[1982] 2 उम० नि० प० 1197.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

प्रदान करता है। अतः अधिनियम के अधीन किए गए विचारण, प्रख्यापित निर्णय और आदेश तथा अधिरोपित दंड अधिनियम के अधीन विधिमान्य बने रहे।

452. इस प्रकार यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि धारा 15(1) के अधीन पुलिस अधीक्षक से अवर रैंक के पुलिस आफिसर द्वारा अभिलिखित किया गया इकबाली बयान तथा धारा 9(7) के अधीन अभिहित न्यायालय में सेशन और अपर सेशन न्यायाधीश की नियुक्ति असांविधानिक है। तो भी धारा 15(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए इस प्रकार दर्ज किए गए इकबाली बयान विधिमान्य बने रहेंगे तथा उन पर विचारण अथवा अपील में विधि के अनुसार विचार किया जाएगा। अधिनियम के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए पारित किया गया कोई निर्णय अथवा आदेश तथा की गई दोषसिद्धि तथा उसका अवलंब लेकर अधिरोपित किया गया दंडादेश अविधिमान्य या शून्य नहीं बनता। हम यह भी अभिनिर्धारित करते हैं कि संसद् को अधिनियम की धारा 9(7) और 15(1) का उपयुक्त रूप से संशोधन करने की छूट है। इस निर्णय का प्रवर्तन आज से एक वर्ष के लिए इसलिए मुल्तवी किया जाता है जिससे कि संशोधन किए जा सकें तथा धारा 15(1) और 9(7) को उपयुक्त रूप से संशोधित कराने के लिए आवश्यक कदम उठाए जा सकें। यदि उपर्युक्त अवधि के भीतर या उसकी समाप्ति की तारीख को या से इस न्यायालय के आदेश द्वारा बढ़ाई गई अवधि के भीतर कोई संशोधन नहीं किए जाएंगे तो धारा 15(1) और 9(7) उसके पश्चात् शून्य बन जाएंगी।

453. अगला प्रश्न यह है कि क्या उच्च न्यायालय के लिए यह न्यायोचित होगा कि वह अधिनियम के अधीन आने वाले प्रविषयों के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करे।

454. विधानमंडल ने आतंकवाद को अधिनियम के अधीन एक विशेष प्रकार की आपराधिक समस्या माना तथा संहिता के अधीन सृष्ट मामूली दंड न्यायालयों में अधिनियम के अधीन आने वाले अपराधों के संबंध में शक्ति और अधिकारिता निर्निहित कर दी गई तथा उसे अभिहित न्यायालय में निहित कर दिया गया तथा अपीली शक्तियां इस न्यायालय को दे दी गईं।

455. अतः अधिनियम की स्कीम से यह स्पष्ट होता है कि उसके अधीन सृष्ट अपराध अनन्य रूप से अभिहित न्यायालय द्वारा विचारणीय हैं तथा उनके संबंध में की गई दोषसिद्धियां अथवा पारित किए गए आदेश, चाहे वे अंतिम रूप से पारित किए गए आदेश हों अथवा विचारण के लंबित रहते पारित किए गए अंतर्वर्ती आदेश हों, अधिनियम के उपबंधों के अधीन विनियमित किए जाते हैं। उनके संबंध में इस न्यायालय में अपील करने का उपबंध धारा 19 ने किया है। किसी अभियुक्त अथवा संदिग्ध व्यक्ति की गिरफ्तारी से लेकर उसका विचारण समाप्त होने तथा उसकी दोषसिद्धि के अंतिम बनने तक सेशन न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय संहिता के अधीन अपनी प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हैं। सेशन न्यायाधीश अथवा मजिस्ट्रेट के न्यायालयों पर उच्च न्यायालय की अधिकारिता और नियंत्रण रहता है किंतु अधिनियम की स्कीम के अधीन उन्हें पृथक् कर दिया गया है तथा उच्च न्यायालय का पूर्ण रूप से अपवर्जन किया गया है। अभिहित न्यायालय न तो उच्च

न्यायालय का अधीनस्थ न्यायालय हैं और न ही संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालय का इस पर किसी प्रकार का नियंत्रण या पर्यवेक्षण अधिकारिता ही है।

456. इस परिदृश्य में यह प्रश्न उभरकर सामने आता है कि क्या उच्च न्यायालय के लिए संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन यह ठीक होगा कि वह अधिनियम के अधीन आरोपपत्र को अभिखंडित करने अथवा किसी अपराध अथवा उसी संव्यवहार के दौरान किए गए अन्य अपराधों को, जो अनन्य रूप से अभिहित न्यायालय द्वारा विचारणीय हों, करने के अभियुक्त व्यक्ति की जमानत मंजूर करने की कार्यवाही पर विचार करे। अधिकारिता संबंधी किसी संगत सिद्धांत, यहां तक कि आरंभिक सिद्धांतों का विकास करने की विधि की असफलता से बढ़कर कोई प्रमुख बात नहीं हो सकती यदि वह ऐसे विरोधी अथवा अचित्य अथवा असंगत परिणाम के अध्यधीन है जो विधि की कारगरता को अनिश्चित, असंगत बनाती हो और उसमें अविश्वास पैदा करती हो। संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की अधिकारिता और शक्ति निस्संदेह रूप से उसकी घटक शक्ति है तथा उच्च न्यायालय के पास किन्हीं मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए अथवा किसी अन्य प्रयोजन के लिए अपनी प्रादेशिक अधिकारिता के भीतर किसी व्यक्ति अथवा प्राधिकारी को कोई रिट जारी करने, आदेश अथवा निदेश देने की अविचल शक्तियां और अधिकारिता है। विधानमंडल के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन प्रत्यारोपित घटक शक्ति से वंचित कर सके। किसी वरिष्ठ न्यायालय की बाबत यह समझा जाता है कि उसके पास साधारण अधिकारिता है तथा विधि यह उपधारणा करती है कि न्यायालय ने अपनी अधिकारिता के भीतर रहकर कार्य किया है जबकि अवर न्यायालयों के बारे में ऐसी उपधारणा नहीं की जाती। किसी वरिष्ठ न्यायालय का निर्णय उसके द्वारा विनिश्चित सभी सुसंगत प्रविषयों की बाबत अनारक्षित रूप से विनिश्चायक होता है जबकि अवर न्यायालय का निर्णय, जिसमें अधिकारिता का प्रश्न अंतर्वलित रहा होता है, अंतिम नहीं होता। अतः वरिष्ठ न्यायालय के पास अपनी अधिकारिता का गलत या सही रूप से अवधारण करने की अधिकारिता होती है। अतः न्यायालय किसी समुचित कार्यवाही में अधिकारिता का त्रुटिपूर्ण प्रयोग कर सकता है। इस बात से अधिकारिता के अभाव का गठन नहीं होता बल्कि इसका टकराव अधिकारिता के प्रयोग के औचित्य से होता है। अधिकारिता का अभाव किसी वरिष्ठ न्यायालय द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है तथा व्यावहारिक रूप से कोई अवर न्यायालय किसी भी विनिश्चय को सांपार्श्विक रूप से अधिक्षिप्त नहीं कर सकता। तथापि, किसी वरिष्ठ न्यायालय द्वारा किया गया कार्य हमेशा वहां विधिमान्य समझा जाता है, जहां भी उसका अवलंब लिया जाता है। अपनी अंतिमता की दृष्टि से विधिमान्यता के नियम से उसका अपवर्जन अनिवार्य होता है। अतः वरिष्ठ न्यायालय न केवल अन्य अवर न्यायालयों अथवा प्राधिकारियों द्वारा किए गए कार्यों की बल्कि अपने स्वयं के विनिश्चयों को भी विधिमान्यता का अंतिम निर्णयकर्ता होता है। यद्यपि उन्हें सांपार्श्विक आक्रमण से उन्मुक्ति प्राप्त होती है किंतु भ्रम का परिहार करने के लिए वरिष्ठ न्यायालय के विनिश्चय विधिमान्यता के नियम अधिकथित करने के बावजूद उनसे शासित नहीं होते। विधिमान्य विनिश्चय न केवल विनिश्चायक होता है किंतु वह उस कार्यवाही में भी विनिश्चायक होता है जिसमें उस पर सांपार्श्विक रूप से अधिक्षेप करने की ईप्सा की जाती है। तथापि विनिश्चायकता शब्द अन्य विनिर्दिष्ट अर्थ अर्जित कर सकता है। इससे

1994(3) eILR(PAT) SC

यह अभिप्रेत हो सकता है कि वह निष्कर्ष, जिस पर विनिश्चय आधारित है, विनिश्चय से सुभिन्न है अथवा उसका प्रभावी (लागू होने वाला) भाग है—अथवा उसे विनिश्चायक होना है अथवा ये निष्कर्ष वादगत विवादों के पक्षकारों को ही आबद्ध करते हैं या कि न्यायपालिका का वह अंग (अर्थात् न्यायालय) जिसने विनिश्चय किया है स्वयमेव उस निष्कर्ष को प्रतिसंहृत करने, विखंडित करने अथवा अन्यथा बदलने से प्रवारित है ।

457. उच्च न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन किया गया कोई विनिश्चय अथवा आदेश अथवा जारी किया गया कोई रिट अनुच्छेद 136 के अधीन इस न्यायालय में की गई किसी अपील द्वारा किए जाने वाले न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होता जिसकी परिधि काफी व्यापक और अविचल है । अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या उच्च न्यायालय के लिए यह उचित होगा कि वह अधिनियम के अंतर्गत आने वाली कार्यवाही के, अथवा अपराधों के, अथवा उसकी संव्यवहार के अनुक्रम में किए गए अन्य अपराधों के, संबंध में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करे । यद्यपि अधिनियम के अधीन उच्च न्यायालय की अधिकारिता अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित नहीं की गई फिर भी आवश्यक विवक्षा द्वारा वह घटक शक्ति के अभाव के कारण तो तिरोहित नहीं होती बल्कि वह अधिकारिता की सहवर्तिता के सिद्धांत द्वारा तिरोहित होती है ।

458. **कोनोली ब्रदर्स लिमिटेड वुड बनाम कोनोली ब्रदर्स लिमिटेड**[1] वाले मामले में के तथ्य इस प्रकार थे कि लैंकास्टर के पैलेटाइन जिले में कारबार करने वाली एक कंपनी के ऋणपत्रधारक के संबंध में पैलेटाइन जिले के कोर्ट तथा चांसरी डिवीजन के पास समवर्गीय अधिकारिता थी । जब उक्त ऋणपत्रधारक पर छल करने का अपराध करने का दोषारोपण किया गया तो समावेदन किए जाने पर पैलेटाइन जिले के न्यायालय तथा चांसरी डिवीजन ने एक साथ अपराध का संज्ञान कर लिया, उच्च न्यायालय ने पैलेटाइन जिला कार्यालय में होने वाली कार्रवाई में वादी को अवरुद्ध करने वाला व्यादेश जारी कर दिया जबकि पैलेटाइन जिले के न्यायालय के पास उसे व्यादेश मंजूर करने की अधिकारिता थी । उद्भूत होने वाला प्रश्न यह था कि क्या पैलेटाइन न्यायालय का अपराध का संज्ञान करना तथा प्रार्थित व्यादेश का जारी करना न्यायोचित था ?

तत्कालीन जस्टिस पार्कर ने चांसरी डिवीजन की अधिकारिता का प्रयोग करते हुए पैलेटाइन न्यायालय में के वादी को कार्यवाही को आगे बढ़ाने से अवरुद्ध करने वाला आदेश पारित किया । अपील की जाने पर कोर्ट आफ अपील के तत्कालीन लार्ड जस्टिस फलेचर मौल्टन ने यह अभिनिर्धारित किया कि किसी व्यक्ति के पास किसी अवर न्यायालय में वाद लाने का अधिकार उस दशा में होता है जब मामले की परिस्थितियां उसे ऐसा करने का हकदार बनाती हों और यदि वह अपने अधिकार की सीमा के भीतर रहकर कार्रवाई करता है तो उसे समवर्गीय अधिकारिता वाले न्यायालय में कार्रवाई करने के लिए अग्रसर होने से अवरुद्ध किया जा सकता है । व्यादेश मंजूर करने की अधिकारिता के प्रश्न को न्यायालय की प्रास्थिति से कुछ लेना-देना नहीं है । उसे उन परिस्थितियों से लेना-देना है जिनका व्यादिष्ट पक्षकार के आचरण से संबंध हो । ऐसी स्थिति होने पर, न्यायालय ने यह अभि-

[1] (1911) 1 चांसरी डिवीजन 731.

निर्धारित किया कि मामला आदेश पारित करने के औचित्य पर आधारित होता है। अधिकारिता का अस्तित्व न्यायालय से यह अपेक्षा नहीं करता कि वह उसका प्रयोग बार-बार करे जब मामले के तथ्यों से उसका प्रयोग किया जाना पूर्ण रूप से न्यायोचित न हो। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि चांसरी न्यायालय ने तंग करने (वेक्सेशन) का परिहार किया है अतः चांसरी न्यायालय ने व्यादेश जारी करने में अपनी अधिकारिता का जो प्रयोग किया वह न्यायोचित था।

459. **इंपीरियल टोबाको लिमिटेड बनाम अटर्नी जनरल**[1] वाले मामले में वादी तंबाकू कंपनी ने अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए एक विशेष किस्म की सिगरेट पर "स्पाट कैश" नामक योजना चलाई। लोक अभियोजन निदेशक (डायरेक्टर आफ पब्लिक प्रोजीक्यूशन) ने लाटरीज एंड एम्यूजमेंट ऐक्ट, 1976 के अधीन, कंपनी के विरुद्ध क्राउन कोर्ट में अभियोजन संस्थित किया। वादी ने इस आशय की घोषणा की ईप्सा करते हुए कामर्शियल कोर्ट, अर्थात् हाई कोर्ट, में कार्रवाई आरंभ की कि उसकी स्कीमें विधिपूर्ण हैं। इससे पूर्व कि कमर्शियल कोर्ट आरोपों के संबंध में विचारण करता, क्राउन कोर्ट ने यह प्रारंभिक आक्षेप किया कि कामर्शियल कोर्ट के पास ईप्सित घोषणा करने की कोई अधिकारिता नहीं है और यदि ऐसी घोषणा करनी उसकी अधिकारिता में हो भी तो भी उसे इस आधार पर घोषणा करने से इंकार कर देना चाहिए कि उसके विरुद्ध समवर्गीय अधिकारिता वाले न्यायालय अर्थात् क्राउन कोर्ट में एक आपराधिक मामला पहले से ही लंबित है। इस संदर्भ में कोर्ट आफ अपील ने कोनोली ब्रदर्स लिमिटेड[2] वाले मामले का अनुसरण करके लार्ड जस्टिस आर्मराड के माध्यम से यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि क्राउन कोर्ट समवर्गी अधिकारिता वाला न्यायालय है अत; मामला समवर्ती अधिकारिता का मामला है और यह बात अप्रायिक है कि इस मामले में समवर्गी अधिकारिता वाला न्यायालय दंड न्यायालय है। यह स्पष्ट रूप से एक ऐसी मुख्य बात है जिस पर इस प्रश्न का विनिश्चय करते समय विचार किया जाना है कि क्या उच्च न्यायालय को समन पर उसकी गुणत्ता के आधार पर सुनवाई करने के लिए अपने विवेकानुसार अधिकारिता ग्रहण करनी है या उसे ग्रहण करने से इंकार करना है। यह अभिनिर्धारण किया गया—

> "मूलभूत सिद्धांतों की बाबत कोई शंका नहीं है। सभी प्रक्रियात्मक नियमों का उद्देश्य है—पक्षकारों के बीच लोक हित के अनुरूप न्यायकरण को सुकर बनाना। अतः समवर्ती अधिकारिता वाले न्यायालयों के बीच न्यायालय के चयन की बात हमेशा इस बात पर आश्रित होनी चाहिए कि सर्वोत्तम ढंग से न्याय कहां और कैसे किया जा सकता है। इस संबंध में बहुत सी बातों पर विचार करना होगा किंतु जहां सिविल और दांडिक अधिकारिता वाले न्यायालयों के बीच विरोध की स्थिति हो वहां सर्वाधिक विचारणीय बात स्पष्टतः यह होगी कि दंड न्यायालयों का अस्तित्व आपराधिक मामलों में कार्रवाई करने के लिए हो तथा उनके प्रक्रिया संबंधी नियम इस प्रयोजन के लिए अभिकल्पित किए जाएं। अपेक्षाकृत उन विरल मामलों में ही, जिनमें अंतर्वलित विवाद्यक का संबंध विधि से होता है, कोई मामला उच्च न्यायालय के यहां इसलिए भेजा जा सकता है कि वह उसमें अधिकारिता ग्रहण

[1] (1979) 2 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 592.
[2] (1911) 1 चांसरी डिवीजन 731.

कर सके। यही कारण है कि अवधारणा के लिए तथ्य के किसी विवाद्यक के न होने, जूरी द्वारा विचारण के निरर्थक होने की वजह से दोष के विवाद्यक का अवधारण क्राउन कोर्ट के न्यायाधीश द्वारा किया जाएगा जो विधि की बाबत निवेदन करने के पश्चात् जूरी को अनिवार्य रूप से इस आशय का औपचारिक अनुदेश देगा कि वह अभियुक्त को यथास्थिति दोषमुक्त या सिद्धदोष करे। दंड प्रक्रिया का अभिकल्पन भी बेहतर तरीके से नहीं किया गया है वास्तव में विशुद्धतः विधि के प्रश्नों का अवधारण करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता की तुलना में अक्सर कम अनुकूल बैठती है। दोनों ही दशाओं में अपीलें एक ही न्यायालय में की जाती हैं। अतः यह प्रश्न कि विधि के विवाद्यकों का सर्वोत्तम अवधारण कहां किया जा सकता है उस शब्द के सच्चे अर्थ में अनिवार्यतः सुविधा का प्रश्न है।"

तदनुसार यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यद्यपि उस समय जब उच्च न्यायालय में कार्यवाही आरंभ की गई क्राउन कोर्ट समवर्गी अधिकारिता वाला न्यायालय था फिर भी चूंकि तथ्यों के प्रश्नों से अविचलित मामले का संबंध विशुद्धतः विधि के प्रश्न से था अतः उच्च न्यायालय (हाई कोर्ट) द्वारा निकाला गया समन कारगर माना गया।

460. **संतोषी तेल उत्पादक केन्द्र** बनाम **उपायुक्त, विक्रय कर**[1] वाले मामले में उपायुक्त के आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण पर विचार करने के लिए आयुक्त और अधिकरण के पास मुंबई विक्रय कर अधिनियम के अधीन समवर्ती अधिकारिता थी जिस समय अधिकरण के समक्ष कार्यवाही लंबित थी, आयुक्त ने अपनी पुनरीक्षण अधिकारिता का प्रयोग कर लिया। जब अधिकारिता के उक्त प्रयोग का औचित्य प्रश्नगत बनाया गया तब उच्च न्यायालय ने आयुक्त द्वारा किए गए अधिकारिता के प्रयोग को इस आधार पर सही माना कि अधिकरण मामले का विनिश्चय उसकी गुणवत्ता के आधार पर नहीं कर सकता। अपील की जाने पर, इस न्यायालय ने निम्नलिखित अभिनिर्धारण किया—

"अब हमें यह विगत प्रश्न प्रतीत होता है कि जब किसी वरिष्ठ अधिकारी की अपीली अधिकारिता का किसी आदेश के विरुद्ध सहारा लिया जाता है और वह मामला उस प्राधिकारी के समक्ष होता है तो अधीनस्थ प्राधिकारी उसी आदेश का पुनरीक्षण करने की अधिकारिता का प्रयोग करने का दावा करने की सोच भी नहीं सकता। कानून के अधीन अधिकरण उच्चतम अपीली और पुनरीक्षण प्राधिकरण है। उसे किसी आदेश के सही होने के बारे में विनिश्चय करने की उसकी अधिकारिता से निर्निहित नहीं किया जा सकता। उसे उस अधिकारिता का प्रयोग करने में मात्र इसलिए विफल नहीं किया जा सकता कि अधीनस्थ प्राधिकारी आयुक्त में भी उस आदेश के बारे में अधिकारिता निहित की गई है। जब तक कि कानून में इसके प्रतिकूल साफ-साफ उपबंध न हो, हमें यह अप्रतिवाद्य प्रतीत होता है। आयुक्त धारा 57 की उपधारा (1) के खंड (क) के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता और ऐसे आदेश का अभिलेख नहीं मंगवा सकता जिसके बारे में अधिकरण ने पहले ही अपीली अधिकारिता ग्रहण कर ली है। आयुक्त की अधीनस्थ हैसियत उसे प्रवारित करती है।"

---

1 (1982) 2 उम० नि० प० 660=1981 (3) एस० सी० सी० 466.

461. **त्रिलोक चंद मोदी चंद** बनाम **एच० बी० मुंशी, आयुक्त (विक्रय कर) मुम्बई**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान पीठ ने अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय की शक्ति के मुकाबले अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की शक्ति की बाबत विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि इससे "उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के बीच सौहार्द उत्पन्न होता है।" जब कोई पक्षकार वैसे ही परिवाद के आधार पर उच्च न्यायालय में उसी अनुतोष के लिए समावेदन कर चुका हो और असफल हो गया हो, यह न्यायालय इस बात पर जोर देता है कि उसके समक्ष अपील की जाए तथा वह इस बात की अनुज्ञा नहीं देता कि अनुच्छेद 32 के अधीन नए सिरे से कार्यवाही की जाए।

462. **लक्ष्मीचरण सेन** बनाम **ए० के० एम० हसन उज्जमां**[2] वाले मामले में एक अन्य संविधान पीठ ने इस प्रश्न पर विचार करके कि क्या उच्च न्यायालय के लिए यह न्यायोचित होगा कि वह संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करके पश्चिमी बंगाल विधानसभा का साधारण निर्वाचन रोके, यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि उच्च न्यायालय में इस संबंध में अधिकारिता का अभाव नहीं है वह रिट याचिका को ग्रहण करके उसके संबंध में समुचित निदेश दे तो भी किसी उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन ऐसा कोई अंतरिम अथवा अन्यथा आदेश पारित नहीं करना चाहिए जिसमें किसी ऐसे निर्वाचन को मुल्तवी करने की प्रवृत्ति हो जो युक्तियुक्त रूप से आसन्न हो और जिसके संबंध में रिट अधिकारिता का आश्रय लिया गया हो। ऐसी प्रक्रिया जितनी ही अधिक आसन्न हो, उच्च न्यायालय को किसी ऐसी बात को करने या उसके किए जाने का निदेश देने में उतना ही अन्यमनस्क होना चाहिए जो कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न करके उस प्रक्रिया को अनिश्चित काल के लिए मुल्तवी करेगी जिसमें राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार न चलाई जा सकती हो। **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **अब्दुल हाजी मोहम्मद**[3] वाले मामले में मुंबई उच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करके आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम के अधीन फाइल किया गया आरोपपत्र अभिखंडित कर दिया तथा प्रत्यर्थी को जमानत पर छोड़ने का निदेश दिया। इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि जहां तथ्यों से प्रत्यक्षतः किसी अपराध का गठन होता हो अथवा कोई विवादग्रस्त प्रश्न उद्भूत होता हो, वहां उच्च न्यायालय के पास कार्यवाही को ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती, अन्यथा मामूली दशाओं में उसके पास अधिकारिता होती है। इस न्यायालय ने अपील मंजूर कर ली तथा उच्च न्यायालय का आदेश यह अभिनिर्धारित करते हुए अपास्त कर दिया कि अभिकथन अधिनियम की परिधि से बाहर नहीं है।

463. **पेटे डर** बनाम **सी० पी० बरफोर्ड**[4] वाले मामले में संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने इस प्रश्न पर विचार करते समय कि क्या बंदीप्रत्यक्षीकरण रिट जारी करते समय बंदी स्टेट ऐक्ट के अंतर्गत आएगा या कि फेडरल कांस्टिट्यूशन के अंतर्गत, यह अभि-

---

[1] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 898.

[2] (1985) 2 उम० नि० प० 1206=(1985) सप्ली० (1) एस० सी० आर० 493.

[3] तारीख 21 फरवरी, 1994 की दांडिक अपील सं० 62/1994.

[4] 329 यू० एस० 200=94 लायर्स एडीशन 79 (1449).

निर्धारित किया कि डिस्ट्रिक्ट कोर्ट को सौजन्य के सिद्धांत (डाक्ट्रिन आफ कोमिटी) का पालन करना चाहिए तथा निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की—

> "सौजन्य का सिद्धांत यह सिखाता है कि एक न्यायालय को अपनी अधिकारिता के अंतर्गत उचित रूप से आने वाले वादों की कार्रवाई तब तक के लिए आस्थगित कर देनी चाहिए जब तक कि समवर्ती शक्तियों वाले किसी अन्य न्यायालय ने वाद का संज्ञान न कर लिया हो और उसे मामले के संबंध में आदेश पारित करने का अवसर न मिला हो।"

इस सिद्धांत की पुनरावृत्ति **एवेले जे० यंगर बनाम जोन हैरिस**[1] वाले मामले में की गई। **लारेंस एस० हफमैन आदि बनाम पर्स्यू लिमिटेड**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि जिन फेडरल कोर्टों से इस आशय के अनुरोध किए जाते हैं कि वे राज्य के सिविल कार्यों में हस्तक्षेप करें, उन्हें अवरोध के उन मानकों का पालन करना चाहिए जो प्राइवेट इक्विटी ज्यूरिसप्रूडेंस के मानकों से काफी परे होते हैं। **यूनाइटेड स्टेट्स बनाम एडगर एच० हिलक**[3] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यद्यपि फेडरल कोर्ट सौजन्य के सिद्धांतों का पूरा ध्यान रखते हैं फिर भी सौजन्य के सिद्धांतों को उस दशा में झुक जाना चाहिए जिसमें परिसंघ के प्रमुख हित दांव पर लगे हों, उदाहरणार्थ—फेडरल क्रिमिनल स्टेट्यूट्स के प्रवर्तन की दशा में।

464. इस प्रकार यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि यद्यपि उच्च न्यायालय के पास संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस बात की अधिकारिता और शक्ति है कि वह अधिनियम के अधीन विचारणीय किसी अपराध अथवा अधिनियम के अधीन अपराधों के साथ विचारणीय किसी अपराध को करने की अभियुक्त व्यक्ति की प्रार्थना पर आपवादिक परिस्थितियों में समुचित रिट जारी कर सकता है फिर भी उच्च न्यायालय को इस न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के बीच न्यायिक हस्तक्षेप और सहवर्तिता की दशा में इसलिए अनुच्छेद 226 के अधीन शक्ति के प्रयोग के संबंध में सौजन्य और स्वारोपित परिसीमाओं का पालन करना चाहिए तथा ऐसा कोई आदेश अथवा निदेश देने से इंकार कर देना चाहिए, जिसके परिणामस्वरूप इस न्यायालय को अनिवार्य रूप से वह अधिकारिता और शक्ति मिलती हो जो अधिनियम की धारा 19 के अधीन इस न्यायालय को प्रदान की गई है अथवा उसे इस न्यायालय द्वारा पारित अपीली आदेशों के संबंध में आसीन होने की अधिकारिता मिलती हो क्योंकि वह संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इस न्यायालय की अपीली और न्यायिक पुनर्विलोकन अधिकारिता के अंतर्गत आता है तथा इस न्यायालय में अधिनियम की धारा 19 के अधीन शक्ति और अधिकारिता कानूनी रूप से विनिहित की गई है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है कि जब इस न्यायालय ने धारा 19 के अधीन जमानत मंजूर करने से इंकार कर दिया तो कुछ उच्च न्यायालयों ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन कार्यवाही को ग्रहण करके उसी अभियुक्त की जमानत इस तथ्य के बावजूद मंजूर कर ली कि यह न्यायालय अभियुक्त की जमानत मंजूर करने से इंकार कर चुका था। अतः आपवादिक मामलों अथवा परि-

---

[1] 401 यू० एस० 37=27 लायर्स एडीशन सेकेन्ड 669 (1971).

[2] 420 यू० एस० 592=43 लायर्स एडीशन सेकेन्ड 482 (1975).

[3] 445 यू० एस० 360=63 लायर्स एडीशन सेकेंड 454 (1980).

स्थितियों में भी संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन शक्ति का प्रयोग सौजन्य के सिद्धांत के अननुरूप अथवा असंगत है। अतः शक्ति के प्रयोग पर एकमात्र अंकुश यह है कि न्यायालय आत्मनियंत्रण की भावना रखे तथा सौजन्य को यथोचित सम्मान प्रदान करे। अतः न्यायपालिका की सौपानिक व्यवस्था (ज्युडिशियल फ्रैगमेंटिज्म) तीक्ष्ण रूप से यह इंगित करती है कि न्यायालय अधिनियम की धारा 19 के अंतर्गत आने वाले मामलों में अथवा ऐसे मामलों में जिनके संबंध में धारा 19 के अधीन उपचार उपलभ्य है अथवा जिनका संज्ञान कर लिया गया है, आदेशिका जारी किए जाने के मामलों में अथवा परिवाद या आरोपपत्र, आदि के संबंध में प्रथमदृष्टया मामले में, अर्थात् दूसरे शब्दों में अधिनियम के अंतर्गत आने वाले सभी मामलों में, अनुच्छेद 226 के अधीन कार्यवाही को ग्रहण करने से इंकार करने के लिए आत्मानुशासन अधिरोपित करने वाले वैधानिक औचित्य और सौजन्य का पालन करें। इस प्रकार अधिनियम के अधीन आने वाले मामलों के संबंध में उच्च न्यायालय की अधिकारिता तिरोहित हो गई और वह अपनी शक्तियों से वंचित हो गया।

465. उपर्युक्त कारणों के आधार पर मैं इस बात के सम्बन्ध में अपने विद्वान बंधुओं से सहमत न होने के लिए खेद अभिव्यक्त करता हूं कि उच्च न्यायालय आपवादिक दशाओं में ऐसी शक्ति का प्रयोग कर सकता है।

न्या० आर० एम० सहाय—

466. अत्यंत खेद के साथ किंतु अपने विद्वान बंधु न्या० पांडियन के प्रति अत्यंत विनयशीलता की भावना लेकर जिनके पांडित्य और दण्ड विधि के ज्ञान का मैं सर्वाधिक सम्मान करता हूं और सब बातों से ऊपर एक अग्रण के रूप में मैं जिनका सम्मान करता हूं, मैं विधि के लिए चिंतित भावी विज्ञजनों से निवेदन करने के बजाय अपनी सहमति सूचक राय व्यक्त करते हुए कुछ शब्द अपनी ओर से कह रहा हूं, क्योंकि जो विधि एक अथवा दो राज्यों की असाधारण समस्या को सुलझाने के लिए अधिनियमित की गई थी अब उसका विस्तार देश के बहुत से राज्यों तक है तथा समाचारपत्रों में जो भयावह समाचार आ रहे हैं तथा इस न्यायालय के ध्यान में सदमा पहुंचाने वाले जो उदाहरण सामने आए हैं उनके कतिपय पहलुओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है चाहे उनका महत्व कुछ भी क्यों न हो।

467. आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप अथवा उनसे सम्बद्ध अथवा प्रासंगिक बातों के निवारण के लिए तथा उनसे निपटने के लिए अधिनियमित किए गए आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28) तथा 1985 का अधिनियम सं० 31 (जिसे इसमें आगे "टाडा" कहा गया है) के विभिन्न उपबंधों पर न केवल इसलिए कि वे संविधान द्वारा गारंटीकृत मूल अधिकारों का व्यतीक्रमण करते हैं बल्कि इसलिए भी आक्षेप किया गया कि वे ऋजु विचारण का, जो किसी भी सभ्य देश के दण्ड न्यायशास्त्र की आवश्यक शर्त होता है, अतिक्रमण करते हैं। 1985 के अधिनियम सं० 31 की तथा आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1984 (1984 का 61) की विधिमान्यता को भी चुनौती दी गई। जिन विभिन्न आधारों पर उक्त उपबंधों की विधिमान्यता को चुनौती दी गई है वे इस प्रकार हैं कि इन विधानों को अधिनियमित करने में विधायी सक्षमता का अभाव है, उनमें प्रयुक्त "आतंकवादी क्रियाकलाप" और "दुष्प्रेरित करना" अभिव्यक्तियों की परिभाषाएं अस्पष्ट और व्यापक हैं, इनमें उन व्यक्तियों वाले

1994(3) eILR(PAT) SC 1

अभिहित न्यायालयों के गठन का उपबंध है जो अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर लेने के बाद भी उन न्यायालयों के न्यायाधीश बने रह सकते हैं जिसके कारण उसकी विश्वसनीयता कम होती है, इनमें ऐसी मनमानी प्रक्रिया का उपबंध किया गया है जिसका उद्देश्य निष्पक्ष न्याय सुनिश्चित करना कम और राजनीतिक प्रयोजन को पूरा करना अधिक है, उदाहरणार्थ—न्यायालय की कार्यवाही गुप्त रूप में (इन कैमरा) करना, साक्षियों के नाम प्रकट न करना, पुलिस आफिसरों द्वारा इकबाली बयानों का अभिलेखन, दोष की उपधारणा, आदि, और इन सब बातों से ऊपर दण्ड का कठोर उपबंध और उसे लागू करने की अनियंत्रित शक्ति।

468. शब्दकोश में दिए गए अर्थ के अनुसार आतंक का अभिप्राय "अत्यधिक भय अथवा डर" से है। किंतु "आतंकवादी" और "आतंक" शब्द भय उत्पन्न करने वाले हिंसात्मक तरीकों का आश्रय लेकर किसी सरकार को पलटने की विचारधारा से, भय उत्पन्न करने वाले तरीकों अथवा संत्रस्त करने की प्रवृत्ति रखने वाले भयोत्पादक, विधि विरुद्ध कार्यों से सरकार का विरोध करने से जुड़ गए हैं। कुछ व्यक्तियों के विचार से आतंक सीमाओं, शक्तियों तथा सत्ता-वितरण के स्रोत की दृढ़ता को चुनौती देने वाले उन दुर्बल और शक्तिहीन समूहों का दुस्साहसपूर्ण उत्तर हैं जिनकी संख्या बढ़ती जा रही है। गलतफहमी का शिकार होकर आतंकवादी की बाबत कहा जाता है कि वह स्वतन्त्रता संग्राम का विरोधी है अथवा सत्ता द्वारा निरनुमोदित क्रांति है। राजनीतिक रूप से आतंकवाद एक प्रकार का प्रपीड़क संत्रास है। एक अथवा सभी व्यष्टियों अथवा समूह, संस्थाओं अथवा सरकार को भयाक्रांत और आतंकित करने के लिए हत्या अथवा विनाश का व्यवस्थित उपयोग इसका माना हुआ तरीका है। इसका सबसे गर्हित भाग यह है कि इसके शिकार बनने वाले व्यक्ति प्रायः निर्दोष व्यक्ति होते हैं जिन्हें न तो राजनीति से कोई सरोकार होता है और न ही सरकार से। आतंकवादियों की चाहे जो विचारधारा हो अथवा उनका चाहे जो रूप रंग हो वे हताश व्यक्ति होते हैं जो मौजूदा शासन का तीव्र विरोध करते हैं। उन्हें निष्ठुर अपराधों का वर्णन बहुत हल्के ढंग से करने का चाव होता है। वे क्रांति के नायक होने का दम भरते हैं फिर भी वे कायरतापूर्ण कार्य करते हैं तथा उनमें नायक के मानवता और विशाल हृदयता वाले गुणों का अभाव होता है। वे वैसे तो स्वयं को क्रांतिकारी कहते हैं फिर भी वे निर्दोष व्यक्तियों पर छिपकर आक्रमण करते हैं, उनकी हत्या करते हैं और उन्हें अंगहीन बनाते है। वे स्वतंत्रता लाने का दावा करते हैं जब कि वास्तव में वे स्वयं को सत्तावान बताना चाहते हैं" (पाल विल्किसन द्वारा लिखित "टेररिज्म एंड दि लिबरल स्टेट")।

469. आतंकवादी एक विश्वव्यापी घटना है। यानहरण, राजनयिकों की हत्याएं, बमबिस्फोट, अपहरण, निर्दोष व्यक्तियों की हत्याएं, विनाश हमारी दिनचर्या के अंग बन गए हैं। आतंकवाद देखने में राजनीति प्रेरित अथवा क्रांतमूलक अथवा एक देश द्वारा दूसरे देश के विरुद्ध परोक्षी युद्ध (प्रॉक्सीवार) के रूप में हो सकता है। किंतु दोनों ही दशाओं में चूंकि इसका तरीका मानव अधिकारों का अतिक्रमणकारी होता है अतः यह न तो विधिक रूप से न्यायोचित है और न ही नैतिक रूप से स्वीकार्य। हमारे देश में आतंकवादी को स्पष्ट रूप से प्रायोजित आतंकवादी की संज्ञा प्रदान की जाती है जबकि इसके विपरीत यूरोप के देशों में इसका अपना निश्चित नाम होता है जैसे कि पश्चिमी जर्मनी का बादेर-मीन हाफ

गैंग, अथवा जैपनीज रैड आर्मी, इटली की रैड ब्रिगेड अथवा आयरलैंड में पीरा (PIRA)। ऐसे गैर पारंपरिक युद्ध का उद्देश्य सरकार को अस्थिर और दुर्बल बनाना तथा सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न करना है। इसे एक देश किसी अन्य देश के विरुद्ध हिंसा के उपयोग को बढ़ावा देकर और विध्वंसक क्रियाकलाप को प्रोत्साहित करके, भटके हुए व्यक्तियों की अस्पष्ट कल्पनाओं का पोषण करके, झूठी उम्मीदें जगाकर और वचन देकर आर्थिक सहायता, हथियार, प्रशिक्षण और अभयस्थली की व्यवस्था करके अपनाता है।

470. आतंकवाद के नारों, वैयक्तिक महिमामंडन के निरपेक्ष आतंकवाद एक ऐसा दुर्गण है जिसे कोई भी समाज सहन नहीं कर सकता। कोई भी राज्य इसके सामने नतमस्तक नहीं हो सकता क्योंकि उस पर अपने नागरिकों के जीवन, संपत्ति, प्रथाओं तथा उनकी प्रजातांत्रिक रूप से निर्वाचित सरकार की रक्षा करने का उत्तरदायित्व होता है। अल्पसंख्यकों द्वारा विरोध का किया जाना प्रजातंत्र का सारतत्व होता है। हड़ताल, बायकाट, मार्च, प्रदर्शन आदि असंतोष व्यक्त करने तथा अपनी मांगों के प्रति सरकार का ध्यान आकर्षित करने के विधि-सम्मत तरीके हैं। सविनय अवज्ञा (सिविल डिसओबीडियंस) ऐसे राजनीतिक और नैतिक दबाव की चरम स्थिति हो सकती है। किंतु जब एक बार ऐसा विरोध हिंसा का रूप धारण कर लेता है तो वह मूलभूत प्रजातांत्रिक मूल्यों का विरोधी बन जाता है। वह विधि के शासन को, जो कि किसी भी प्रजातंत्र का आधारभूत ढांचा होता है, हिलाकर रख देता है। चाहे ऐसी कार्रवाई हताशा के परिणामस्वरूप की जाए चाहे वह अन्याय अथवा दमन की भावना के कारण पैदा हुई हो, उसे कोई भी सभ्य समाज अथवा किसी भी प्रकार की सरकार विधिसम्मत अथवा वैध स्वीकार नहीं कर सकती। हो सकता है कि बहुत से राष्ट्रों के संस्थापक तत्कालीन शासनतंत्र के विरुद्ध विद्रोह करते रहे हों और अपने अभियान में सफल होने के पश्चात् उन्हें देशभक्त के रूप में सराहा गया हो तो भी इससे आतंकवादी अथवा किसी राजनीतिक संगठन द्वारा अपनाए गए तरीके विधिसम्मत नहीं बन जाते क्योंकि यह बात एक बड़ी सीमा तक निर्दोष व्यक्तियों के संहार तथा कमजोर निशानों पर आक्रमण पर निर्भर करती है।

471. जब आतंकवादी विचारधारा और दार्शनिक प्रणाली इस प्रकार की है तो कोई राज्य, जिस पर न केवल विधि के शासन को बल्कि समाज की सांस्कृतिक प्रगति और विकास के लिए शांति और सामाजिक पर्यावरण को भी बनाए रखने का उत्तरदायित्व होता है, ऐसे अवांछनीय क्रियाकलाप का सामना करने के लिए यथावश्यक कदम उठाने का विधिक रूप से हकदार है और उसका ऐसा करना नैतिक रूप से न्यायोचित है। यदि राज्य उसके एकाधिकार पर धावा बोलने वाले ऐसे कठोर संकट से निपटने के लिए बलप्रयोग करता है तो उसके बारे में गंभीर रूप से शंका नहीं की जा सकती। किसी भी राज्य को चाहिए कि वह बन्दूक और बम से प्रजातंत्र की हत्या न होने दे किंतु ऐसा करते समय राज्य को इस बाबत सतर्क रहना है कि वह कोई ऐसा तरीका उपयोग में न लाए जिसका उलटा प्रभाव पड़े। वह इस आतंकवादी और निर्दोष व्यक्ति के बीच अन्तर करने की सावधानी बरते। यदि राज्य आतंकवाद का दमन करने के लिए अन्धाधुन्ध तरीके अपनाता है जिनके कारण अपराधी और निर्दोष व्यक्ति के बीच का अन्तर मिट जाता है और राज्य द्वारा उठाए गए कदम किसी ऐसी सीमा तक दमन करते हैं कि उनमें से एक को दूसरे से अलग करना आसान नहीं रह जाता तो राज्य द्वारा उठाए गए कदम मानवता, समता, स्वतंत्रता और न्याय के

1994(3) eILR(PAT) SC 1

उदार मूल्यों से पूर्ण रूप से असंगत हो जाएंगे। जिस देश में आतंकवाद अथवा उग्रवाद उन व्यक्तियों का धर्म बनता जा रहा हो जो हताश हैं, दुर्बल हैं और अपने मार्ग से भटक गए हैं, वहां राज्य का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह स्वयं व्यापक स्तरीय दमन का सहारा न लेकर अथवा अपने लाभ के लिए स्थिति का दोहन न करके अथवा अपने विधिसम्मत विरोधी पक्ष का विनाश न करके आतंकवाद को शांत करने वाले दमनकारी उपायों को लागू करके अपनी सत्ता को दृढ़तापूर्वक तथा कृत संकल्प होकर कायम रखे। राज्य द्वारा उठाए गए कदमों का उद्देश्य सरकार के प्रति विश्वास और निष्ठा उत्पन्न करना होना चाहिए तथा प्रजातांत्रिक जवाबदेही इस प्रकार बनाए रखनी चाहिए जिससे कि सरकार की हर कार्रवाई विधि के शासन की तराजू में तौली जा सके। चूंकि मेरे विद्वान बन्धु न्या० पांडियन उक्त विधान और उसकी आवश्यकता की पृष्ठभूमि में इस विषय में विशद रूप से विचार कर चुके हैं अतः कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है।

472. विवेचन की भूमिका बांधने के पश्चात् हम इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अग्रसर हो सकते हैं कि क्या तीनों अधिनियम इस आधार पर अविधिमान्य घोषित किए जा सकते हैं कि वे संविधान के अध्याय-3 में गारंटी कृत मूल अधिकारों के प्रति विधान मंडल की नृशंसता अथवा राज्य की हिंसा के द्योतक हैं? किंतु अधिनियम के भिन्न-भिन्न उपबन्धों की परीक्षा करने से पूर्व हमें यह उचित प्रतीत होता है कि हम आरंभ में ही उस दलील पर विचार करें जो विधायी क्षमता की बाबत दी गई है। जो दलीलें दी गईं वे सार रूप में दो प्रकार की थीं, एक यह कि चूंकि आक्षेपित विधान की विषयवस्तु वह लोकआदेश है जो सूची-2 की प्रविष्टि-1 के अधीन राज्य विधानमंडल के अनन्य अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आता है अतः संसद् द्वारा इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता और यदि सूची-3 की प्रविष्टि-1 की भाषा को खींचतान कर यह अभिनिर्धारित किया जा सके कि यह दंड विधि है तो प्रविष्टि का बाद वाला भाग संसद् द्वारा ऐसी शक्ति के प्रयोग पर एक प्रकार के वर्जन का काम करेगा। क्या ये दलीलें सुआधारित हैं? सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करने वाला उच्चतम निकाय देश के शासन के लिए विधि को विरचित अथवा अधिनियमित करने के लिए जिस शक्ति का प्रयोग करता है वह उसकी विधायिनी शक्ति कहलाती है। किसी प्रजातांत्रिक व्यवस्था में, जिसने अपने शासन के लिए लिखित संविधान वाला परिसंघीय ढांचा अपना लिया है, केंद्रीय अथवा राज्य विधानमंडल, दोनों, की विधायिनी शक्तियों की व्युत्पत्ति स्वयं संविधान से होती है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 246 के अधीन विधानमंडलों के पास निर्बाध शक्तियां हैं। संसद् और राज्य विधानमंडल, दोनों अपने-अपने क्षेत्र में सर्वोच्च हैं। किंतु उनकी विधायिनी शक्ति का विनियमन और प्रयोग सातवीं अनुसूची की सूची-1 और दो, की प्रविष्टि के अनुसार किया जाता है। विधायन संबंधी क्रियाकलाप के अनन्य क्षेत्र के अलावा एक ऐसा उपबन्ध किया गया है जो सातवीं अनुसूची की सूची-3 में, जिसे समवर्ती सूची कहते हैं, प्रगणित प्रविषयों में से किसी के संबंध में विधायिनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए दोनों प्रकार के विधानमंडलों (अर्थात् संसद् और राज्य विधानमंडल) को सशक्त बनाता है। चूंकि इस न्यायालय ने कई बार उन बातों का विवेचन किया है और उन्हें स्पष्ट किया है कि उन प्रविष्टियों का अर्थान्वयन किस प्रकार किया जाना है और यदि वे उपांतिक रूप से अतिव्यापी हो जाती हैं तो उसका क्या परिणाम होता है अतः हमें इन सब बातों पर फिर से विचार करने उथवा उनका उल्लेख करने की आवश्यकता

नहीं है। यद्यपि विद्वान अपर महासालिसिटर ने यह दलील देने का प्रयत्न किया कि उक्त शक्ति का प्रयोग सूची-1 की प्रविष्टि 1, 2 और 2क के अनुसार किया जा सकता है और मेरे विद्वान बंधु न्या० पांडियन ने यह दलील स्वीकार कर ली है किंतु मैं इसे विद्वान काउंसेल द्वारा दी गई इस अनुकल्पी दलील तक सीमित रखना चाहूंगा कि उक्त विधायन सूची-3 की प्रविष्टि 1 के अधीन कायम रखा जा सकता है, जो निम्नलिखित है—

> "दंड विधि जिसके अन्तर्गत ऐसे सभी विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत आते हैं, किंतु इसके अन्तर्गत सूची-1 या सूची-2 में विनिर्दिष्ट विषयों में से किसी विषय से संबंधित विधियों के विरुद्ध अपराध और सिविल शक्ति की सहायता के लिए नौसेना, सेना या वायु सेना अथवा संघ के किसी अन्य सशस्त्र बल का प्रयोग नहीं है।

हुकम चंद रतनचंद बांथिया बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में पत्रिका के पृष्ठ 479 पर निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की गई:—

> "संविधान के अनुच्छेद 246 द्वारा समुचित विधानमंडलों को विधि बनाने की शक्ति दी गई है। तीनों सूचियों की प्रविष्टियां केवल विधायी शीर्ष या विधान के क्षेत्र हैं, वे उस क्षेत्र को सीमांकित करती हैं जिसके संबंध में विधान समुचित विधानमंडल बना सकता है। यह सुस्थापित है कि प्रविष्टियों की भाषा को अधिकतम विस्तार देना चाहिए। किंतु विभिन्न सूचियों की या उसी सूची की कतिपय प्रविष्टियों की अंतर्वस्तु एक दूसरी के समान हो सकती है। तब इस न्यायालय का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रविष्टियों के बीच तालमेल बैठा दे और उसका सामंजस्यपूर्ण अर्थान्वयन करे।"

473. प्रयुक्त भाषा से यह प्रकट होता है कि उक्त प्रविष्टि अत्यंत व्यापक शब्दों में वर्णित की गई है। "दंड विधि" अभिव्यक्ति के पश्चात् आने वाले शब्द उसकी परिधि का विस्तार किसी ऐसे विषय तक करते हैं जिसे विधिमान्य रूप से दांडिक प्रकृति का माना जा सकता है। अत: इस प्रविष्टि के अधीन शक्ति के प्रयोग का अर्थान्वयन इतने उदार रूप से किया जाना है जिससे कि विधायी क्रियाकलाप अपनी भूमिका पूर्ण रूप से अदा कर सके। तथापि प्रविष्टि के आयाम का नियंत्रण बाद वाली अभिव्यक्ति से होता है जो सूची 1 अथवा सूची 2 में विनिर्दिष्ट किन्हीं मामलों से संबंधित विधि के विरुद्ध विधान बनाने की शक्ति दोनों विधानमंडलों से छीनती है। चूंकि यह भाग प्रविष्टि की परिधि को निर्बंधित करता और संकीर्ण बनाता है अत: इसका अर्थान्वयन कठोर रूप से किया जाना है। चूंकि परिसंघीय ढांचे के अधीन संसद् द्वारा निर्मित विधि का वर्चस्व होता है (**भारत संघ** बनाम **एच० एस० ढिल्लों**[2] वाला मामला देखिए) अत: समवर्ती सूची में की प्रविष्टि के अधीन शक्ति का प्रयोग करके बनाए गए किसी अधिनियम का प्रभाव, ऐसे निबंधनों के अध्यधीन रहते हुए, अध्यारोही होगा जो स्वयं प्रविष्टि से सुप्रकट होते हों। संघीय संसद् द्वारा बनाए गए किसी विधान को इस प्रविष्टि के अधीन विधिमान्य होने के लिए इन दो अपेक्षाओं को पूरा करना आवश्यक है—एक, इसका संबंध दंड विधि से होना चाहिए तथा अपराध ऐसा अपराध नहीं होना

---

1 [1970] 2 उम० नि० प० 460=ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1453.

2 [1972] 1 उम० नि० प० 565=ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1061.

1994(3) eILR(PAT) SC

चाहिए जिसकी बाबत उपबंध उन विधियों के विरुद्ध किया गया है या किया जा सकता है जिनका संबंध सूची-2 में विनिर्दिष्ट किन्हीं मामलों से हो। "दंड विधि" किसे कहते हैं? अपराध के संबंध में व्यवहृत होने वाला कोई अधिनियम अथवा नियम, अर्थात् दांडिक न्यायिक व्यवस्था, असहनीय व्यवहार के विरुद्ध समाज की दृढ़ प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रिया है। प्रारंभ से ही इसकी (दंड विधि की) बाबत यह माना जाता था कि यह समाज के राजनीतिक संगठन के अनुकूल मूल्यों की किसी स्थापित व्यवस्था का संरक्षण करने के लिए बनाया गया एक औजार है। इन सामाजिक मूल्यों को द्योतित करने वाले कुछ महत्वपूर्ण मानदंडों का अतिक्रमण अपराध माना जाता था और इसलिए उसके लिए दंड आवश्यक था।

474. "किसी विशेष समय पर कौन सी बात अपराध है" अभिव्यक्ति का अर्थ व्यापक है क्योंकि देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होने के साथ अपराध की संकल्पना बदलती रहती है। आर्थिक अपराधों अथवा औद्योगिक क्रियाकलाप के अतिक्रमण अथवा करारोपण उपबंध के भंग के संबंध में व्यवहृत होने वाले विभिन्न विधान इस बात का काफी सबूत देते हैं। चूंकि संविधान के निर्माताओं ने इस सामान्य बात का पूर्वानुमान कर लिया था अतः उन्होंने इस संबंध में विधियां बनाने की ऐसी शक्तियां केंद्र और राज्यों, दोनों के विधानमंडलों को प्रदान कीं। ऐसे अधिकार में किसी अपराध को परिभाषित करने तथा उसके लिए दंड की व्यवस्था करने की शक्ति सम्मिलित है। सूची-3 की प्रविष्टि-1 में प्रयुक्त ये शब्द "जो इस संविधान के प्रारंभ पर भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत आते हैं" असंदिग्ध रूप से इस प्रविष्टि के सर्मसमावेशी स्वरूप को उपर्शित करते हैं। यह प्रविष्टि विधानमंडल को न केवल भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत आने वाले विषयों के संबंध में बल्कि किसी ऐसे अन्य विषय के भी संबंध में विधियां बनाने के लिए सशक्त बनाती है जो युक्तियुक्त और न्यायोचित रूप से दांडिक प्रकृति का विषय माना जा सकता हो। आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप अपनी अंतर्वस्तु, विस्तृति और परिणाम की दृष्टि से आपराधिक क्रियाकलाप होता है। इसलिए केंद्रीय और राज्य, दोनों, विधानमंडल समवर्ती सूची की प्रविष्टि 1 के अधीन प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करके ऐसे किसी क्रियाकलाप के संबंध में विधान बनाने के लिए सशक्त बनाए गए हैं। किंतु यह व्यापक शक्ति उक्त प्रविष्टि के बाद वाले भाग द्वारा अन्यथा नियंत्रित और निर्बंधित है। यह प्रविष्टि सूची 1 अथवा 2 में विनिर्दिष्ट किन्हीं विषयों के संबंध में दोनों में से किसी विधानमंडल को अपनी शक्ति का प्रयोग करने से प्रवारित करके एक अपवाद का सर्जन करती है। संविवाद उस दशा में संकुचित हो जाता है जब आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम के अधीन अपराध ऐसे अपराध हों जिनके संबंध में राज्य विधानमंडल कोई विधि बना सकता हो। दूसरे शब्दों में, यदि टाडा से संबंधित विधान सूची 2 की प्रविष्टि 1 के अंतर्गत आ सकता है तो राज्य विधानमंडल इस प्रविष्टि के अधीन कोई विधि बनाने तथा सूची 2 की मद सं० 64 के अधीन ऐसी किसी विधि के अतिक्रमण को अपराध बनाने में सक्षम होगा तथा केंद्रीय विधानमंडल (संसद्) कोई विधि बनाने से प्रवारित होगा। किंतु ऐसा तभी होगा जब यह अभिनिर्धारित कर दिया जाएगा कि टाडा से संबंधित विधि वस्तुतः अथवा सारतः, एक ऐसी विधि है जिसका संबंध लोक व्यवस्था से है। "लोक व्यवस्था" पद का अर्थान्वयन **रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में किया गया जिसमें

[1] ए० आई० आर० 1950 एस० सी० 124.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

निम्नलिखित अभिनिर्धारण किया गया :—

> "अब 'लोक व्यवस्था' व्यापक अर्थ वाली अभिव्यक्ति है जो किसी राजनीतिक समाज के सदस्यों के बीच उस सरकार द्वारा लागू आंतरिक विनियमों के परिणामस्वरूप विद्यमान प्रशांति की स्थिति को द्योतित करती है जिसे उन सदस्यों ने स्थापित किया है।"

राम मनोहर लोहिया बनाम बिहार राज्य और एक अन्य[1] वाले मामले में निम्मलिखित मताभिव्यक्ति की गई :—

> "इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि जिस प्रकार इस न्यायालय के विनिर्णयों (पूर्वतर प्रोद्धृत) में "लोक व्यवस्था" की बाबत यह कहा गया कि उससे राज्य की सुरक्षा को प्रभावित करने वाली अव्यवस्था से कम गुरुत्व वाली अव्यवस्था का बोध होता है। इसे समझने के लिए किसी व्यक्ति को एक ही केंद्र वाले तीन वृत्तों की कल्पना करनी होगी। "विधि और व्यवस्था" सबसे बड़े वृत का निरुपण करती है जिसके अंतर्गत दूसरा बृत आता है जो लोक व्यवस्था का निरूपण करता है तथा सबसे छोटा वृत राज्य की सुरक्षा का निरूपण करता है। तत्पश्चात् यह सुनिश्चित करना सरल है कि कोई कार्य विधि और व्यवस्था को तो प्रभावित कर सकता है किंतु लोक व्यवस्था को ठीक उसी प्रकार प्रभावित नहीं कर सकता जिस प्रकार कोई कार्य लोक व्यवस्था को तो प्रभावित कर सकता है किंतु राज्य की सुरक्षा को प्रभावित नहीं कर सकता।

क्या यह कहा जा सकता है कि वे अपराध, जिनके संबंध में "टाडा" के अधीन कार्रवाई की जाती है, लोक व्यवस्था से संबंधित हैं ? क्या सूची 2 की प्रविष्टि 1 में यथा व्यक्त लोक व्यवस्था का टाडा के बीच का अंतर केवल कुछ ही अंशों का है या वे सारतः भिन्न हैं ? "आतंकवाद उदार और मानवीय मूल्यों तथा सिद्धांतों के प्रत्यक्ष निराकरण का गठन करता है तथा आतंकवादी विचारधारा का उपयोग प्रजातंत्र को बदनाम करने और उसकी प्रतिष्ठा गिराने के संघर्ष में किया जाता है और निरंतर किया जा रहा है।" जिस आतंकवाद का सामना हमारा देश कर रहा है वह प्रायोजित आतंकवाद है जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। जैसा कि इस न्यायालय ने स्पष्ट किया है आतंकवाद की बाबत यह नहीं माना जा सकता कि वह लोक व्यवस्था है चाहे वह प्रयोजित हो, चाहे क्रांतिकारी अथवा चाहे राजनीतिक। धारणात्मक रूप से लोक व्यवस्था तथा आतंकवाद म केवल विचारधारा और दर्शन की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं बल्कि वे हेतुक अथवा अपराधिक मनःस्थिति उसके किए जाने की रीति तथा ऐसे क्रियाकलाप के प्रभाव या परिणाम की दृष्टि से भी निम्न हैं। लोक व्यवस्था की समस्या विधि और व्यवस्था से जुड़ी समस्या के रूप में सुविदित है। आतंकवाद नई प्रकृति का अपराध है जो अपने प्रभाव और परिणाम की दृष्टि से कहीं अधिक गंभीर और खतरनाक होता है। एक का संबंध विधि और, व्यवस्था की समस्या से होता है जब कि दूसरे का स्वरूप राजनीतिक हो सकता है जिसके साथ राज्य की सुरक्षा और अखंडता को खतरा पहुंचाने वाला अनुचित बल प्रयोग जुड़ा हो सकता है। इस प्रकार विधायी सक्षमता

---

[1] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 740=(1966) 1 एस० सी० आर० 709.

1994(3) eILR(PAT) SC

की बाबत दी गई दलील, जो देखने भर को दलील है और जिसकी गुणवत्ता की बाबत विश्वास की कोई भावना नहीं है, हमें ठोस प्रतीत नहीं होती।

475. चूंकि टाडा की अधिनियमिति सातवीं अनुसूची की सूची 3 की प्रविष्टि 1 के अधीन की गई है अत: इसमें विधायी सक्षमता का अभाव नहीं है तो भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इसका कोई उपबंध संविधान के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकार से टकराता है और क्या वह इसलिए शक्तिबाह्य है ? इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व संविधान के अनुच्छेद 21 की गहराई पर विचार करना उचित हो सकता है क्योंकि किसी दंडात्मक अथवा निवारक निरोध संबंधी विधि की परख संविधान द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को दिए गए इस आश्वासन की कसौटी पर की जानी है कि उसे विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही उसकी स्वतंत्रता से वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं। यह अनुच्छेद मानव अधिकारों में गहन निष्ठा और विश्वास की घोषणा के रूप में है। संविधान के अध्याय-3 के तानेबाने में किसी व्यक्ति की दैहिक स्वतंत्रता की जो गारंटी बुनी हुई है वह अनुच्छेद 21 के मूल में निहित है। मानव अधिकारों का आधुनिक इतिहास व्यक्ति के अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष का इतिहास है। जहां तक किसी व्यक्ति का संबंध है वह अनुच्छेद 21 के अधीन गारंटीकृत अधिकार को "नैसर्गिक अधिकार" अथवा "मूल मानवाधिकार" की संज्ञा प्रदान कर सकता है किंतु जहां तक किसी ऐसे समाज का संबंध है जो अपने नागरिकों को इस उद्देश्य से कि उनमें बंधुत्व की भावना बढ़े, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, वैचारिक स्वतंत्रता, प्रास्थिति की समता दिलाने के लिए जो कि संविधान के ढांचे का मूलाधार हैं, कृत संकल्प है मानव की प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता की व्यवस्था करने से अन्यथा कार्य नहीं कर सकता था जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 21 ने किया है जिसकी भाषा निम्नलिखित है :—

> "21. प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण—किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं।"

इस अनुच्छेद में प्रयुक्त प्रत्येक अभिव्यक्ति मानवीय प्रतिष्ठा और मूल्य का संवर्धन करती है। यह अनुच्छेद किसी ऐसे समाज की नींव रखता है जिसमें विधि के शासन को प्रमुखता प्रदान की जाती है न कि शक्ति के मनमाने अथवा मनमौजी प्रयोग को। शब्दकोश के अनुसार "प्राण" से अभिप्रेत है—"कर्तृत्व की स्थिति और मृत्यु से पूर्व संघटित द्रव्य, और विशेष रूप से किसी पशु अथवा पौधे का निर्माण करने वाले उसके किसी भाग के लिए अद्भुत सविरामी परिवर्तन, सजीव अस्तित्व, सहज चेतन होना।" किंतु संविधान में प्रयुक्त "प्राण" शब्द केवल अस्तित्व का द्योतक नहीं हो सकता। जस्टिस फील्ड ने सन् 1877 में **मुन बनाम इलिनाइस**[1] वाले मामले में अमरीकी संविधान में प्रयुक्त समरूप पद का अर्थान्वियन इस रूप में किया कि यह पाशविक अस्तित्व से बढ़कर कोई चीज है। हमारे न्यायालय ने इसका अनुमोदन **खड़क सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में किया तथा इसकी पुनरावृत्ति **सुनील बत्रा**

[1] (1877) 94 यू० एस० 113.

[2] (1964) 1 एस० सी० आर० 332.

बनाम दिल्ली प्रशासन[1] वाले मामले में की। **मेनका गांधी बनाम भारत संघ**[2] वाले मामले में इसे नया आयाम प्रदान किया गया तथा **फ्रांसिस कोराली मुल्लिन** बनाम **प्रशासक, दिल्ली राज्य क्षेत्र**[3] वाले मामले में निम्नलिखित अभिनिर्धारण करके इसका विस्तार किया गया—

> "क्या जीवन के प्रति अधिकार केवल अवयव अथवा मानसिक शक्ति के संरक्षण पर्यंत सीमित है अथवा क्या यह उससे अतिरिक्त किसी शारीरिक अथवा मानसिक योग्यता को समाविष्ट करता है। हमारे विचार में जीवन के प्रति अधिकार के अंतर्गत मानवीय गरिमा के साथ रहने से संबंधित अधिकार अंतर्विष्ट है और साथ ही साथ इससे संबंधित जो कुछ भी है वह सभी इसमें सम्मिलित है अर्थात् जीवन की साधारण आवश्यकताएं मात्र जैसे कि "पर्याप्त रोटी, कपड़ा और मकान तथा पढ़ने, लिखने तथा अन्य विभिन्न रूपों में अपने आप को अभिव्यक्ति करने के लिए सुविधाएं और स्वतंत्र रूप से आने जाने और साथ ही मनुष्यों के साथ मिलने-जुलने और संपर्क करने के लिए सुविधाएं।"

476. किसी मनुष्य के पास सबसे अधिक संजोकर रखी गई वस्तु उसकी स्वतंत्रता होती है। अनुच्छेद 21 में प्रदत्त स्वतंत्रता तथा अन्यानेक स्वतंत्रताएं स्वतः धूमिल-पड़ जाती हैं। एडमंड बर्क ने इसे "नियंत्रित स्वतंत्रता" की संज्ञा प्रदान की। स्वतंत्रता किसी ऐसे कार्य को करने का अधिकार है जिसे करने की अनुमति विधि प्रदान करती है। यह अनुच्छेद सकारात्मक रूप से अधिकार प्रदान करने के स्थान पर सप्रयोजन नकारात्मक अभिव्यक्ति का उपयोग करता है। इसका कारण स्पष्टतः यह है कि संविधान ने यह माना है कि यह अधिकार हर व्यक्ति के पास विद्यमान है। स्वतंत्रता का यह अधिकार कोई ऐसा अधिकार नहीं था जिसकी गारंटी दी जाती थी अथवा जिसे सृष्ट किया जाना था। व्यक्ति इसे अपने जन्म से ही विरासत में प्राप्त करता है। इस परम अधिकार में न तो कोई कटौती की गई है और न ही उसमें कोई क्षरण किया गया है। अनुच्छेद 21 के नकारात्मक खंड का उपयोग करके, राज्य द्वारा शक्ति का प्रयोग किए जाने पर निर्बंधन अधिरोपित किया गया है। राज्य को ही विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिवाय प्राण और दैहिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने से अवरुद्ध किया गया है। "वंचित" शब्द अपने अर्थ की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसके शब्दकोशीय अर्थ के अनुसार इससे अभिप्रेत है—उपभोग से विवर्जित करना, प्रसामान्य घरेलू जीवन से (संतान आदि को) निवारित करना। चूंकि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिवाय किसी व्यक्ति को उसके इस अधिकार से राज्य द्वारा वंचित किया जाना प्रतिषिद्ध है अतः इसका कठोर रूप से अर्थान्वयन राज्य के विरुद्ध और उस व्यक्ति के पक्ष में किया जाना है जिसके अधिकार प्रभावित हुए हों। अनुच्छेद 21 संविधान द्वारा राज्य को दिया गया एक ऐसा समादेश है जो राज्य से यह अपेक्षा करता है कि वह हर व्यक्ति के मूलभूत मानवाधिकारों का परिरक्षण करे। इस प्रकार, उक्त अधिकार के अस्तित्व और उसके परिरक्षण का अर्थान्वयन उदार रूप से तथा विस्तारपूर्वक किया जाना है। इसके उप-सिद्धांत के रूप में, राज्य द्वारा शक्ति के प्रयोग का अर्थान्वयन संकीर्ण और निर्बंधित रूप से किया जाना चाहिए। इसका अर्थबोधन और निर्वचन इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि उक्त अधिकार की गारंटी

---

[1] (1979) 1 एस० सी० आर 392.

[2] [1979] 1 उम० नि० प० 243=(1978) 2 एस० सी० आर० 621.

[3] [1981] 4 उम० नि० प० 1133=(1981) 2 एस० सी० आर० 516,

का मूल प्रयोजन अकृत न बने। किसी भी विधायी अथवा कार्यपालिक कार्रवाई को इस कसौटी पर खरे उतरने की अनुमति तब तक नहीं दी जा सकती जब तक कि उसकी न्यायिक रूप से इस बाबत बारीकी से जांच न की गई हो कि उसके परिणामस्वरूप उस अधिकार का अतिक्रमण नहीं होता जिसे संविधान ने संजोकर रखा है। यदि उक्त अनुच्छेद का अर्थान्वयन इस रूप में किया जाएगा कि वह राज्य को कोई विधि बनाने तथा किसी व्यक्ति को वंचित करने के लिए सशक्त बनाता है तो दैहिक स्वतंत्रता की पूरी संकल्पना ही विफल हो जाएगी। देश की सत्ता में आने वाला कोई राजनीतिक दल किसी विधि की अधिनियमिति करके अपने राजनीतिक शत्रुओं के विरुद्ध दमनकारी कदम उठा सकता है तथा उसकी ओर से यह बात बखूबी कही जा सकती है कि उन्हें विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार वंचित किया गया है तथा उसने जो कार्रवाई की है वह संविधान के ढांचे के भीतर रहकर की है। अतः राज्य द्वारा विधायी रूप से अथवा कार्यपालिक रूप से अपनाई गई प्रक्रिया को यह मूलभूत अपेक्षा पूरी करनी चाहिए कि वह प्रक्रिया ऋजु और न्यायोचित है। "सिवाय" शब्द राज्य को यह निदेश देकर कि वह इस गारंटी में तब तक हस्तक्षेप न करे जब तक उसने किसी ऐसी विधि की अधिनियमिति न कर दी हो जो अनुच्छेद 13 की कसौटी पर खरी उतरती हो। आज यह बात सुस्थापित प्रतीत होती है कि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का विस्तार मौलिक और प्रक्रियात्मक, दोनों विधियों तक है। इसके अलावा विधि का होना ही काफी नहीं है, वह ऋजु और न्यायोचित भी होना चाहिए। अमरीकी संविधान की भांति, यदि किसी उपबंध के अभाव में कोई ऋजु विचारण किया गया है तो भी उसे उसी मूलभूत और प्राथमिक कसौटी पर खरा उतरना चाहिए जिसे पर किसी विधायी और कार्यपालिक कार्रवाई को खरा उतरना चाहिए।

477. कोई व्यक्ति इस बात का मूल्यांकन, कि संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्रदत्त गारंटी कितनी मौलिक है, सन् 1978 में संविधान में किए गए संशोधन को देखकर कर सकता है। 1978 के चौवालीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान का अनुच्छेद 359 संशोधित किया गया और उसमें यह उपबंध किया गया कि अनुच्छेद 20 और 21 आपात्काल के दौरान भी निलंबित नहीं किए जा सकते। इस संशोधन का अवसर इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि इस न्यायालय ने **अपर जिला मजिस्ट्रेट, जबलपुर** बनाम **शिवकान्त शुक्ल**[1] वाले मामले में अनुच्छेद 21 का संकीर्ण अर्थान्वयन करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि कोई व्यक्ति अपने मनमाने निरोध और गिरफ्तारी को भी चुनौती नहीं दे सकता।

478. अनुच्छेद 21 की परिधि का विश्लेषण करने तथा उसके न्यायिक और विधायी इतिहास का पता चलाने के पश्चात् मैं 1987 के अधिनियम के कुछ उपबंधों पर विचार करना चाहता हूं क्योंकि मुझे 1984 और 1985 के अधिनियमों की बाबत अपने विद्वान बंधु न्या० पांडियन द्वारा की गई मताभिव्यक्ति में कुछ भी नहीं जोड़ना है, जिससे मैं सादर सहमति व्यक्त करता हूं। 1987 के अधिनियम की बाबत विचार करते समय मैं आरंभ में ही यह उल्लेख करना चाहूंगा कि मेरे विद्वान बंधु न्या० पांडियन ने जो इस अधिनियम की अधिकांश धाराओं के संबंध में तर्कणाएं दी हैं और निष्कर्ष निकाले हैं, मैं उनसे पूरी तरह से सहमत हूं। उदाहरणार्थ, मैं उनकी इस बात से सहमत हूं कि अधिनियम में "दुष्प्रेरित करना" पद की जो परिभाषा दी गई है उसका उपखंड (1) इस प्रकार संशोधित किया जाना चाहिए

[1] [1976] 3 उम० नि० प० 1=ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1207.

जिससे कि उसमें से संशयात्मकता का परिहार हो और वह मनमानेपन के तत्व से उन्मुक्त बने । जहां तक धारा 3 और 4 का संबंध है वे अस्पष्टता के कारण रद्द किए जाने के योग्य नहीं हैं । मेरे विद्वान बंधु न्या० पांडियन ने उनकी परिधि का सविस्तार विवेचन किया है । किंतु जिस एकमात्र धारा के संबंध में मैं उनसे सहमत नहीं हो सका, यद्यपि उसका मुद्दा लिखित कथन में उठाया गया था, वह धारा 5 है जो नीचे उद्धृत की जा रही है—

"5. विनिर्दिष्ट क्षेत्रों में कुछ अप्राधिकृत्र आयुधों, आदि को कब्जे में रखना— जहां कोई व्यक्ति आयुध नियम, 1962 की अनुसूची 1 के प्रवर्ग 1 या प्रवर्ग 3(क) के स्तंभ (2) और (3) में विनिर्दिष्ट कोई आयुध और गोला बारूद या बम, डायनामाइट या अन्य विस्फोटक पदार्थ, किसी अधिसूचित क्षेत्र में, अप्राधिकृत रूप से कब्जे में रखेगा, वह तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, कारावास से, जिसकी अवधि पांच वर्ष से कम की नहीं होगी किंतु आजीवन कारावास तक की हो सकेगी, और जुर्माने से भी दंडनीय होगा ।"

479. उक्त धारा में विनिर्दिष्ट आयुध और गोला बारूद का कब्जा मात्र मौलिक अपराध बनाया गया है । यह उपबंध अपनी प्रकृति और अपने प्रभाव की दृष्टि से बहुत गंभीर है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप किसी ऐसे मनुष्य का इस बात के निरपेक्ष अभियोजन हो सकता है कि उसका आतंकवादी अथवा आतंकवादी क्रियाकलाप के साथ कोई संबंध है । इस धारा की धारा 3 और 4 के साथ तुलना यह प्रदर्शित करती है कि इसमें मनमानेपन का तत्व अंतर्निहित है । धारा 3 उस दशा में लागू होती है जब किसी व्यक्ति का आशय न केवल सरकार को आतंकित करने अथवा जनता में आतंक फैलाने का रहा होता है बल्कि वह आयुधों और गोला बारूद का उपयोग भी करता है जिसके परिणामस्वरूप किसी या किन्हीं व्यक्तियों की मृत्यु होने और संपत्ति आदि को नुकसान पहुंचने की संभावना होती है । दूसरे शब्दों में कोई व्यक्ति तब आतंकवादी होता है अथवा आतंकवादी क्रियाकलाप करने का दोषी होता है जब ये तीनों तत्व विद्यमान होते हैं—आशय, कार्रवाई और परिणाम । इसी प्रकार धारा 4 उन क्रियाकलापों को लागू होती है जो देश की सर्वोच्च सत्ता तथा प्रादेशिक अखंडता को विघटित करने के लिए किए जाते हैं । इस प्रकार कोई आतंकवादी, विध्वंसक व्यक्ति तथा कोई आयुध और गोला बारूद अपने कब्जे में रखने वाला व्यक्ति, जिनका उल्लेख धारा में किया गया है, समान स्थिति में रखे गए हैं । धारा 3 और 4 के अनुसार अपराध तब उद्भूत होता है जब कार्य कर दिया जाता है जबकि धारा 5 के अनुसार अपराध केवल आयुध आदि के कब्जे मात्र पर आधारित होता है । यहां तक कि धारा 3 की उपधारा 3 के अधीन कोई व्यक्ति उस दशा में अपराध का दुष्प्रेरण करने के लिए अभियोजित किया जा सकता है जब वह किसी आतंकवादी की सहायता करता है या उसे संसूचना देता है । अधिनियम की धारा 3 में 1993 के अधिनियम संख्यांक 93 द्वारा सन्निविष्ट उपधारा 5 और 6 भी यह अपेक्षा करती हैं कि कोई व्यक्ति तभी अभियोजित किया जा सकता है जब उसकी बाबत यह निष्कर्ष निकाला जाए कि वह किसी आतंकवादी गिरोह अथवा संगठन का सदस्य है । अतः अधिनियम में यह अनुध्यात किया गया है कि आतंकवादी अथवा विघटनकारी व्यक्ति धारा 3 और 4 के अधीन अपराधों तथा अन्य धाराओं के अंतर्गत अपराधों के संबंध में तभी अभियोजित किया जा सकता है जब उसका अपराध से संबंध हो । यही बात अधिनियम के उद्देश्य के अनुरूप है । अधिनियम इसलिए मान्य ठहराया गया है क्योंकि विधान मंडल किसी ऐसे अपराध के

1994(3) eILR(PAT) SC 1

संबंध में विधान बनाने में सक्षम है जो सातवीं अनुसूची की सूची-2 की किसी प्रविष्टि के अंतर्गत अन्यथा नहीं आता। जैसा कि पहले विवेचन किया जा चुका है, अपराध की परिभाषा अधिनियम की धारा 3 और 4 में अंतर्विष्ट है और यह सच है कि अपराध को परिभाषित करते समय विधान मंडल को ऐसा उपबंध करने की छूट होती है जो विधान के उद्देश्य को पूरा करता हो तथा किसी व्यापक दृष्टिकोण से कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि ऐसे आयुधों का कब्जा, जिनके उपयोग में लाए जाने से आतंकवादी क्रियाकलाप अस्तित्वशील बनता हो, अपराध माना जाना चाहिए तथा उक्त उपबंध निवारक उपबंध माना जाना चाहिए। तो भी, उन दोनों के बीच कोई संबंध होना चाहिए चाहे वह कितना ही दूरस्थ क्यों न हो। उक्त उपबंधों की कठोरता स्वयंमेव प्रकट होती है क्योंकि किसी व्यक्ति के अभियोजन से संबंधित अधिनियम के वे सभी उपबंध, जिनमें संपत्ति के समपहरण, जमानत की नामंजूरी, आदि से संबंधित उपबंध सम्मिलित हैं, किसी ऐसे व्यक्ति को लागू हो सकते हैं जो किसी आयुध और गोला बारूद को अपने कब्जे में रखने का अभियुक्त उस व्यक्ति की भांति हो जिस पर अधिनियम की धारा 3 और 4 के अधीन कोई अपराध करने का आरोप लगाया गया हो। यह निस्संदेह सच है कि किसी भी व्यक्ति के पास धारा 5 में यथोल्लिखित आयुध और गोला बारूद को अपने कब्जे में रखने का कोई न्यायौचित्य नहीं हो सकता किंतु कोई व्यक्ति इसीलिए आतंकवादी अथवा विघटनकारी व्यक्ति नहीं बन जाता कि उसके पास उक्त प्रकार के कब्जे का कोई औचित्य नहीं है। आयरलैंड इमरजेंसी प्राविजंस ऐक्ट, 1978 में भी, जिसका विद्वान अपर महासालिसिटर ने अत्यधिक अवलंब लिया है, धारा 5 जितना कठोर कोई उपबंध नहीं है। चूंकि मौलिक और प्रक्रियात्मक, दोनों ही प्रकार की विधि किसी आतंकवादी और विघटनकारी व्यक्ति को अथवा किसी आतंकवादी या विध्वंसक कार्य को लागू होती है अतः मेरी राय में यह आवश्यक है कि यदि इस धारा को मनमानेपन के आरोप से बचाना है तो इसका आश्रय तभी लिया जाए जब यह दर्शित करने के लिए कोई सामग्री हो कि जिस व्यक्ति के कब्जे में आयुध थे उसका आशय उन्हें आतंकवादी और विध्वंसक क्रियाकलाप के लिए उपयोग में लाना था अथवा उसके कब्जे में पाए जाने वाला आयुध और गोला बारूद वही था जिसका वस्तुतः उपयोग किया गया।

480. जहां तक अधिनियम की धारा 8, 9, 10 और 11 का सम्बन्ध है मैं अपने विद्वान बन्धु न्या० पांडियन से, सिवाय, इस बात के, सहमत हूं कि किसी भी ऐसे व्यक्ति को अभिहित न्यायालय के रूप में नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए जो सेवानिवृत्त हो चुका है। मैं अन्य धाराओं के अर्थान्वियन के संबंध में भी उनसे सहमत हूं किंतु धारा के संबंध में मैं यह कहना चाहूंगा कि संबंधित विधेयक को लाने वाले तत्कालीन माननीय मंत्री महोदय ने इस बात की वकालत करते समय, कि पुलिस आफिसर को इकबाली बयान दर्ज करने की शक्ति प्रदान की जाए और ऐसा इकबाली बयान साक्ष्य में ग्राह्य बनाया जाए, इंग्लैंड और अमरीका का उदाहरण लेकर, जहां पुलिस कांस्टेबल भी इकबाली बयान दर्ज कर सकता है, साक्ष्य अधिनियम के सदियों पुराने नियम से विचलन का समर्थन किया। उन्होंने निवेदन किया कि चूंकि उन देशों में किसी पुलिस कांस्टेबल के समक्ष किया गया इकबाली बयान साक्ष्य में ग्राह्य होता है इसलिए वह समय आ गया है जब इस देश को उस बात से हट जाना चाहिए जिसे सर जेम्स फिट्ज़ स्टीफन ने उस समय महसूस किया था जब भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की अधिनियमिति की गई थी और जिसके अनुसार कोई पुलिस

कर्मी विश्वसनीय नहीं माना जाता। उच्चतर रैंक वाले पुलिस आफिसरों को इकबाली बयान दर्ज करने की शक्ति देने के समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित वक्तव्य दिया—

"बहुत से पुलिस अधिकारियों के बारे में यह बात सही और अच्छी हो सकती है। किंतु क्या हम 130 वर्षों से पूरी पुलिस व्यवस्था के माथे पर लगे इस कलंक के साथ ही जीने को विवश हैं? क्या हमेशा के लिए यह कहने के लिए विवश हैं कि पुलिस बल में कार्यभार ग्रहण करने वाली कोई भी भारतीय सन्तान कभी भी न्यायप्रिय और निष्पक्ष नहीं होगी? हमारी सभी संतानें पुलिस बल में कार्यभार ग्रहण करेंगी। वे उन्नति करते-करते पुलिस अधीक्षक के पद तक पहुंचेंगी। वे उप पुलिस महानिरीक्षक तथा पुलिस महानिरीक्षक के पदों तक पहुंचेंगी। तो भी क्या यह संसद् हमेशा के लिए यह कहने जा रही है कि विश्व में केवल यही ऐसा देश है जिसमें किसी उच्च पदस्थ पुलिस अधिकारी के समक्ष दिया गया इकबाली बयान, चाहे कुछ भी पूर्व रक्षोपाय क्यों न कर लिए गए हों, अविश्वसनीय बयान ही रहेगा? क्या हम इस प्रकार के कलंक को साथ लेकर जीने वाले हैं? असाधारण स्थिति में हम जिस बात को करने की कोशिश दो वर्षों से कर रहे हैं वह है एक प्रकार के अपराधों, अर्थात् आतंक संबंधी अपराध, के सम्बन्ध में कार्रवाई करना। हमारा कहना है कि पुलिस अधीक्षक और उससे ऊपर की रैंक के उच्च पदस्थ पुलिस अधिकारी के समक्ष दिया गया इकबाली बयान, बहुत कम दशाओं में किसी न्यायालय में ग्राह्य होगा।" (संसदीय डिबेट पृ० 724)

तत्कालीन मानवीय मंत्री द्वारा किया गया उपर्युक्त निवेदन सत्यभासी प्रतीत हो सकता है। उनके इस दृष्टिकोण से सहमत होने में भी कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि किसी समय बिंदु पर पहुंचकर तो हमें उस अविश्वास का त्याग करना पड़ेगा जिस अविश्वास के साथ पुलिस को देखा जाता है। क्या ऐसा समय आ पहुंचा है? क्या देश में ऐसा करने के लिए राजनीतिक, प्रशासनिक और सामाजिक वातावरण पूरी तरह से परिपक्व हो चुका है? हमें यह बात नहीं भूलनी होगी कि हमारे उच्च पदस्थ पुलिस अधिकारी दक्ष अथवा ईमानदार हैं और यही बात ऐसा निर्णय लेने की दृष्टि से सुसंगत है। जिस बात पर हमें विचार करने की आवश्यकता है वह यह है कि क्या पुलिस अधिकारियों की सोच में कोई परिवर्तन हो गया है। यहां पांचवें राष्ट्रीय पुलिस आयोग की रिपोर्ट के एक पैराग्राफ को उद्धृत करना असंगत नहीं होगा—

"हमने यह देखा है कि पुलिस कर्मियों में दोषदर्शी होने की प्रवृत्ति होती है। हमने यह भी देखा है कि कुछ वर्षों तक सेवा कर लेने के उपरांत ही उनमें इस दोष दर्शिता का विकास हो जाता है। पुलिस कर्मी बहुत जल्दी यह जान जाते हैं कि विधि उनसे जिस बात की अपेक्षा करती है वह एक चीज है किंतु व्यवहार में जो कुछ वास्तव में किया जाता है वह एक दूसरी चीज है। जब यह भेद उनके मस्तिष्क में अपनी जड़ जमा लेता है तो उन्हें दिया गया सारा प्रशिक्षण, सारा उद्बोधन व्यर्थ हो जाता है। जहां विधि की अपेक्षा यह है कि उत्पीड़न की अनुमति न दी जाएं वहां व्यवहार में यही एकमात्र मार्ग है। प्रायः लोग पुलिस से यह आशा करते हैं कि वह गुंडों की पिटाई करेगी और जब वह ऐसा नहीं करती तो उस पर रिश्वत

> और भ्रष्टाचार के आरोप लगा दिए जाते हैं। लोगों की शिकायत रहती है कि पुलिस अपने आचरण में पक्षपात बरत रही है किंतु जैसा घटित हो रहा है उससे पुलिसकर्मी यह सीखते हैं कि यद्यपि विधि के अधीन सभी समान है तो भी धनवान मनुष्य गरीब मनुष्य की तुलना में केवल कहने भर के लिए बराबर है. एक सामान्य नागरिक किसी राजनीतिज्ञ से, राजयीतिज्ञ का समर्थन पाने वाले किसी मनुष्य से भिन्न है, कोई दफ्तरशाह (ब्यूरोक्रैट) किसी मामूली सरकारी कर्मचारी से अलग है—यह सूची अंतहीन है।"

जिस समय 1872 का साक्ष्य अधिनियम पारित किया गया तब उसकी अधिनियमिति एक ऐसी संसद् ने की थी जो देश का शासन चलाने के लिए कृतसंकल्प थी न कि उस पर शासन करने के लिए। तो भी, इकबाली बयान दर्ज करने की शक्ति पुलिस अधिकारी को नहीं सौंपी गई। इसका औचित्य तलाश करने के लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। किसी पुलिस अधिकारी और किसी न्यायिक अधिकारी के सोचने के ढंग में मूलभूत अन्तर होता है। कोई न्यायिक अधिकारी ऋजु प्रक्रिया अपना कर अंतिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए प्रशिक्षित होता है। किसी सभ्य देश के न्यायशास्त्र का मूलाधार यह है कि जिस प्रक्रिया को अपनाकर कोई व्यक्ति कारागार में भेजा जाए वह प्रक्रिया निष्पक्ष, ईमानदारीपूर्ण और न्यायोचित होनी चाहिए।

विधि के शासन के प्रति वचनबद्ध किसी भी व्यवस्था ने अनुचित रूप से अभिप्राप्त की जाने वाली दोषसिद्धि का कभी भी समर्थन नहीं किया है। पुलिस अधिकारी साधनों का ध्यान रखे बिना परिणाम प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। जब तक वह अपना लक्ष्य प्राप्त करता रहता है उसके लिए साधन असंगत होता है और यह दर्शन पुलिस अधिकारों के पदानुक्रम द्वारा परिवर्तित नहीं होता। जहां तक दृष्टिकोण और व्यवहार का संबंध है कोई पुलिस उपनिरीक्षक किसी पुलिस अधीक्षक अथवा अपर पुलिस अधीक्षक अथवा किसी उच्चतर पुलिस अधिकारी की तुलना में कहीं अधिक असभ्य और कठोर हो सकता है किंतु दोनों के सोचने का तरीका एक ही रहता है। अभियुक्त व्यक्ति से इकबाल कराकर परिणाम प्राप्त करने में पुलिस उपनिरीक्षक उतना ही हितबद्ध होता है जितना कि पुलिस अधिक्षक होता है। अपने प्रशिक्षण और दृष्टिकोण के कारण ही वे एक दूसरे से भिन्न होते हैं। प्रक्रियात्मक ऋजुता उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। यह बात दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत हो सकती है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी वह बल, जिसका सर्जन ग्रेट ब्रिटेन के शासन की कठोर और निष्ठुर विधियों को निर्दयतापूर्वक लागू करने के लिए किया गया था वह प्रजातन्त्र में भी अधिक नहीं बदला है। संविधान का मूलभूत जीवन-दर्शन, अर्थात् व्यष्टि की गरिमा तथा दैहिक स्वतन्त्रता, संचरित होता हुआ अभी तक पुलिस के उक्त पदानुक्रम तक नहीं पहुंच पाया है क्योंकि पुलिस अभी तक जनता के प्रति जवाबदेह नहीं है तथा ब्रिटिश पुलिस के विपरीत यह अत्यन्त केंद्रित प्रशासनिक मदद है जिसका अभिप्राय विधि तथा समाज की तुलना में कार्यपालिका के किए अपना डंडा घुमाना तथा कठोर आवाज में भय फैलाना है। राष्ट्रीय पुलिस आयोग की मताभिव्तक्ति के अनुसार उसका एक कारण देश की वह राजनीतिक व्यवस्था हो सकती है जिसने पुलिस का प्रयोग समाज की सेवा करने के लिए कम और अपना प्रयोजन पूरा करने के लिए अधिक किया है।

1994(3) eILR(PAT) SC 1

481. इंग्लैंड और अमरीका के पुलिस कांस्टेबल का यह कर्तव्य होता है कि वह अभियुक्त को न केवल इस बाबत सूचित करे कि वह जो कुछ कहने वाला है वह न्यायालय में उसका इकबाली बयान माना जा सकता है बल्कि इस बाबत भी सूचित करे कि वह अपने वकील को और जिसे चाहे उस नातेदार को अपने साथ रखने का हकदार है। इंग्लैंड के 1973 के क्रिमिनल ला ऐक्ट की धारा 62 ने किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करने वाले पुलिस आफिसर के लिए इस आशय का आज्ञापक उपबंध किया है कि वह उस व्यक्ति की गिरफ्तारी तथा उसके निरोध के स्थान की बाबत इत्तिला उसके नातेदार के पास भेजे। इंग्लैंड में निकाला गया 1978 का परिपत्र सं० 74 अभियुक्त को वकील की सहायता लेने के लिए अनुज्ञात करता था। अमरीका में न्यायिक विनिश्चयों ने यही पूर्व रक्षोपाय किए हैं। साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 में ऐसी कोई संस्वीकृति अग्राह्य बनाई गई है जो धमकी या उत्प्रेरणा या बल द्वारा अभिप्राप्त की गई हो। धारा 25 के अनुसार, किसी पुलिस आफिसर के समक्ष की गई संस्वीकृति स्वयमेव अग्राह्य समझी जाती हैं। किंतु यदि वही संस्वीकृति किसी मजिस्ट्रेट की उपस्थिति में की जाती है तो धारा 26 के अनुसार उसे संदेह की दृष्टि से नहीं देखा जाता। इन उपबंधों का स्पष्ट कारण है—निष्पक्ष विचारण को सुनिश्चित करना। किसी पुलिस आफिसर के समक्ष की गई कोई संस्वीकृति इंग्लैंड और अमरीका में भी संदेह की दृष्टि से देखी जाती है। किंतु, उसे उपर्युक्त पूर्व रक्षोपायों में अधीन ग्राह्य बनाया गया है। क्यों ? इसलिए कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 26 में जो कुछ उपबंधित है वह वकील अथवा निकट नातेदार की उपस्थिति से प्रतिस्थापित हो जाता है। किसी मजिस्ट्रेट की उपस्थिति में किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति ग्राह्य होती है और वह इसलिए विश्वसनीय बन जाती है क्योंकि उसका अभिलेखन प्राधिकारी की उपस्थिति में किया गया होता है। इंग्लैंड और अमरीका में किसी वकील या निकट नातेदार के समक्ष की गई संस्वीकृति के साथ वही विश्वसनीयता जुड़ जाती है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 26 के अधीन मजिस्ट्रेट की उपस्थिति तथा इंग्लैंड और अमरीका में वकील या निकट नातेदार की उपस्थिति किसी पुलिस अधिकारी द्वारा अभिलिखित की गई संस्वीकृति की विश्वसनीयता प्रदान करती है क्योंकि उनमें से उत्प्रेरण, धमकी, विबाध्यता (ड्यूरेस) अथवा बल का तत्व निराकृत रहता है। किसी पुलिस अधिकारी द्वारा अभिलिखित की गई संस्वीकृति से अग्राह्यता के जुड़ने का कारण वह पुलिस अधिकारी नहीं बल्कि यह अनिश्चितता होती है कि कहीं अभियुक्त व्यक्ति से कोई ऐसा कथन कराकर उसे अपने ही विरुद्ध साक्षी तो नहीं बनाया गया है जिस कथन को वह अन्यथा न करता। यह भी कि अपनी प्रकृति के निरपेक्ष किए गए किसी अपराध के संबंध में, किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष अनधिसूचित क्षेत्र में की गई संस्वीकृति अग्राह्य होती है। किंतु वही पुलिस अधिकारी अधिसूचित क्षेत्र में आने पर निन्दा से परे होता है। "टाडा" के अधीन किए जाने वाला कोई अपराध भारतीय दंड संहिता के अथवा किसी अन्य अधिनियम के अधीन किए जाने वाले अपराध से कहीं अधिक गंभीर माना जाता है। प्रसामान्यतः अपराध जितना अधिक गंभीर होगा प्रक्रिया संबंधी उपबंधों का निर्वचन भी उतना ही कठोर होगा। किंतु यहां स्थिति एकदम भिन्न है। भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन जो बात हत्या के अपराध के संबंध में अग्राह्य है वही बात किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध ग्राह्य है जो या तो दुष्प्रेरण करता है या कब्जे में अधिनियम (टाडा) की धारा 5 के अधीन आयुध पाए जाते हैं। अभियुक्त से संस्वीकृति कराने के लिए पुलिस द्वारा अपनाए जाने वाले तरीकों की इस न्यायालय ने अपने विनिश्चयों की श्रृंखला में जिस प्रकार

निन्दा की है उसका पुनः उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह परिस्थिति रातों-रात तब बदल गई जब "टाडा" की अधिनियमिति कर दी गई। किसी पुलिस अधिकारी को संस्वीकृति अभिलिखित करने की शक्ति प्रदान करना इंग्लैंड और अमरीका में अपनाई जाने वाली परंपरा के अनुरूप हो सकता है किंतु उसके लिए पुलिस के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने की आवश्यकता है। ऐसा करने से पूर्व, जैसा कि पुलिस आयोग ने अपना मत व्यक्त किया है, पुलिस बल को, शिक्षित और प्रशिक्षित बनाकर, अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से अवगत कराना होगा। दोष पुलिस कर्मियों में नहीं बल्कि उनकी पुलिस संस्कृति में है। किसी ऐसे देश में जहां कुछ ही व्यक्ति विधि के अधीन हों और विधि के प्रति कोई जवाबदेही न हो वहां के सांस्कृतिक वातावरण में इतना बड़ा परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। यहां तक कि उस दशा में भी, जब संविधान के अनुच्छेद 21, 20(3) और 14 का कोई अता-पता नहीं था, किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की जाने वाली संस्वीकृति आग्राह्य होती थी। यह सुस्थापित प्रक्रिया एक से अधिक शताब्दी तक अपनाई जाती रही है और दंड न्यायशास्त्र का अनिवार्य अंग बनी रही है। अतः इस संबंध में कोई भी ऐसा उपबंध करने से पूर्व दृष्टिकोण में परिवर्तन करना आवश्यक था जिसकी गुणवत्ता को अन्य देशों में विद्यमान विधि के आधार पर न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न किया जा रहा है।

482. चूंकि टाडा के विभिन्न उपबंधों को न्यायसंगत ठहराने के लिए आयरलैंड इमरजेंसी प्राविजन ऐक्ट, 1978 का अवलंब लिया गया और यह दलील देने का प्रयत्न किया गया कि "टाडा" के उपबंध ऋजु और न्यायसंगत हैं अतः हमें कुछ शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। सन् 1971 में इंग्लैंड में नजरबंदी अभियान संबंधी उपबंध बनाया गया जिसके परिणामस्वरूप बहुत सी गिरफ्तारियां की गई जिन्हें हाई कोर्ट में चुनौती दी गई। हाई कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया कि, तो भी, उन आपत्कालीन शक्तियों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों से यह अपेक्षित था कि वे गिरफ्तार व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी का कारण सूचित करके कॉमन लॉ की अपेक्षाओं को पूरा करते। उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा अभिनिर्धारण कर दिए जाने के परिणामस्वरूप डिप्लॉक कमेटी का गठन हुआ और फलतः नार्दर्न आयरलैंड (इमरजेंसी प्राविजन्स) ऐक्ट, 1973 को अधिनियमिति की गई। यह ऐक्ट सेना को किसी संदिग्ध आतंकवादी को, उसकी पहचान स्थापित करने के लिए चार घंटों की अवधि के लिए गिरफ्तार करने की शक्ति प्रदान करता था जिस अवधि के पश्चात् सेना से यह अपेक्षित था कि वह गिरफ्तार व्यक्ति को पुलिस को सौंप दे। इसके फलस्वरूप "सैन्य सुरक्षा" के नाम पर शक्ति का दुरुपयोग होने लगा। उस देश में किए गए सर्वेक्षण में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का दुरुपयोग हुआ है। कुछ क्षेत्रों में सुरक्षा प्राधिकारियों ने व्यापक छानबीन पर आधारित एक प्रकार का "सफाई" (ड्रेजिंग) अभियान चला दिया है। हमारे विचार से इसके फलस्वरूप बड़ी संख्या में ऐसे व्यक्ति गिरफ्तार किए जा रहे हैं जो पूर्ण रूप से निर्दोष हैं और ऐसे व्यक्ति निरुद्ध किए जा रहे हैं जिनके आतंकवादी क्रियाकलापों में अंतर्ग्रस्त होने का कोई अधिक महत्व नहीं है। (रोनाल्ड डी० क्रेलिस्टन द्वारा लिखित "टैरीरज्म एंड क्रिमिनल जस्टिस)। फलतः 1973 का ऐक्ट एक नए ऐक्ट से प्रतिस्थापित किया गया जो अब लागू है। ऐक्ट में विभिन्न पूर्व रक्षोपाय किए गए। ऐक्ट की धारा 8 की उपधारा (2) किसी ऐसे कथन को साक्ष्य में अग्राह्य बनाती है जो संबंधित

व्यक्ति को यातना देकर अथवा उसके साथ अमानवीय व्यवहार करके अभिप्राप्त किया गया हो। किंतु "टाडा" की धारा 15 ने तो सभी स्थापित मानदंडों को केवल इसलिए उठाकर फेंक दिया है क्योंकि इकबाली बयान किसी उच्च पदस्थ पुलिस अधिकारी द्वारा दर्ज किया जाता है। मेरी राय में हमारा सामाजिक परिवेश ऐसे बड़े परिवर्तन के लिए परिपक्व नहीं था जो धारा 15 द्वारा किया गया है। यह उपबंध संविधान द्वारा प्रदत्त गारंटी के मूलभूत मूल्यों का विनाशकारी है।

483. संस्वीकृति दोष की स्वीकृति होती है। चूंकि संस्वीकृति करने वाला व्यक्ति अपने विरुद्ध कोई कथन करता है अतः यह ऐसे परिवेश में की जानी चाहिए जो संदेह से मुक्त हो अन्यथा इसके परिणामस्वरूप संविधान के अनुच्छेद 20(3) में दी गई इस गारंटी का अतिक्रमण होता है कि किसी अपराध के लिए अभियुक्त किसी व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। इस अनुच्छेद में प्रयुक्त "अपराध" शब्द को उसका मामूली अर्थ प्रदान किया जाना चाहिए। यह शब्द "टाडा" के अधीन किए गए किसी अपराध को उतना ही लागू होता है जितना कि वह किसी अन्य अधिनियम के अधीन किए गए अपराध को। "बाध्य" (कंपेल्ड) शब्द से मामूली तौर पर "बल द्वारा" अभिप्रेत है। ऐसी बाध्यता सकारात्मक और नकारात्मक किसी भी प्रकार की हो सकती है। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करता है तो वह उस समय उसे उस कार्य को करने के लिए बाध्य कर रहा होता है। यही बात तब भी हो सकती है जब किसी व्यक्ति को अमुक बात करने से तब तक निवारित किया जाता है जब तक वह उसे वांछित रूप से करने के लिए सहमत नहीं होता। दोनों ही दशाओं में उसे बाध्य किया जाता है। किसी अभियुक्त द्वारा की गई या उससे प्रपीड़न के अधीन अभिप्राप्त की गई संस्वीकृति तब तक दौर्बल्यग्रस्त मानी जाती है जब तक वह संस्वीकृति स्वतंत्रता और स्वेच्छापूर्वक न की गई हो। किसी भी सभ्य प्रजातांत्रिक देश ने किसी अभियुक्त द्वारा किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति को स्वैच्छिक और संदेह से परे मानकर साक्ष्य में ग्राह्य नहीं माना है। जो सुस्थापित नियम सर्वत्र स्वीकार किया जाता है वह यह है कि अभिरक्षा के दौरान की गई संस्वीकृति दूषित मानी जाती है। विधानमंडल के विधि बनाने में सक्षम होने, तथा "टाडा" के अधीन अपराध के राज्य सूची की किसी प्रविष्टि के अंतर्गत न आने वाला अपराध होने के तथ्य मात्र का यह अर्थ नहीं है कि विधानमंडल को किसी व्यक्ति के मूल अधिकारों में कटौती करने की शक्ति प्राप्त है। किसी ऐसे उपबंध को बनाना, जो किसी व्यक्ति को अपना दोष स्वीकार करने के लिए बाध्य करता हो, स्वतंत्रता देने से इनकार करने की कोटि में आता है। यह संभव है कि "टाडा" के अधीन आने वाला अपराध अन्य अपराध से भिन्न हो किंतु "टाडा" के अधीन अपराधी व्यक्ति संविधान के अनुच्छेद 20 और 21 का संरक्षण पाने का उतना ही हकदार है जितना कि कोई अन्य अपराधी। संविधान के अध्याय-3 द्वारा गारंटीकृत अधिकार इस बात से प्रभावित नहीं होते कि अपराध भिन्न प्रकृति का अपराध है या कि विधानमंडल अमुक प्रकार के अपराधों के संबंध में विधि बनाने में सक्षम है। विद्वान अपर महासालिसिटर ने जिस अर्थान्वियन को करने का सुझाव दिया है यदि वह स्वीकार कर लिया जाएगा तो हम विधि को एक बार फिर उसी दशा में ले जाएंगे जिसमें वह **गोपालन** (ए० के०

1994(3) eILR(PAT) SC

गोपालन बनाम मद्रास राज्य[1]) वाले मामले के दिनों में थी। टाडा की धारा 15 केवल इसलिए विधिमान्य नहीं ठहराई जा सकेगी कि यह किसी ऐसे निकाय द्वारा बनाई गई विधि का परिणाम है, जो निकाय विधि बनाने का हकदार पाया गया है। तो भी न्याय ऋजु और न्यायोचित होना चाहिए जैसा कि इस न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है। प्रकार कोई विधि, जो किसी पुलिस अधिकारी को संस्वीकृति का अभिलेखन करने का हकदार बनाती है तथा उसे साक्ष्य में ग्राह्य बनाती है संविधान के दोनों अनुच्छेदों अर्थात् 20 (3) और 21 की अतिक्रमणकारी है :

484. टाडा की धारा 19 के अनुसार, अभिहित न्यायालय के ऐसे निर्णय, दंडादेश या आदेश से, जो अंतर्वर्ती आदेश नहीं है, अपील उच्चतम न्यायालय में तथ्यों और विधि, दोनों के बारे में साधिकार होगी। ऐसा उपबंध 1984 और 1985 के "टाडा" में भी विद्यमान था। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि जब विधानमंडल ने 1984 का अधिनियम पारित किया तब वह उसने मुख्य रूप से पंजाब में विद्यमान गंभीर स्थिति के कारण पारित किया था। आज 1987 के अधिनियम का विस्तार पंजाब से दूर स्थित अन्य राज्यों तक कर दिया गया है ऐसे विस्तार के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को हर दंडादेश के संबंध में चाहे, वह धारा 3 अथवा 4 के अधीन हो चाहे किसी अन्य धारा के अधीन, इस न्यायालय की शरण लेनी होगी। बहुत से मामलों में अपील का उपचार भ्रमात्मक हो सकता है। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति को धारा 3, 4 और 5 के अधीन अथवा किसी अन्य धारा अथवा उपबंध के अधीन अभियोजित किया जा सकता है। हो सकता है कि उसे धारा 3 और 4 के अधीन दोषमुक्त किए जाने के बावजूद उन गौण अपराधों के संबंध में सिद्धदोष किया जा सकता है जिनका विचारण अभिहित न्यायालय ने अधिनियम की धारा 12 के कारण किया हो। हो सकता है कि वह अत्यधिक व्यय तथा कानूनी खर्च के कारण इस न्यायालय की शरण लेने में समर्थ न रहा हो। हमें यह बात नहीं भूलनी होगी कि हमारा देश एक काफी बड़ा देश है जिसमें अधिकांश व्यक्ति गरीब हैं। यह जानते हुए कि हमारे समाज में अधिकांश व्यक्ति अपनी आर्थिक असमर्थता के कारण इस न्यायालय में अपील लेकर नहीं आ सकते, पुलिस उनके संबंध में अपनी शक्ति का प्रयोग मनमाने रूप से कर सकती है और उन पर ज्यादती कर सकती है। गौण मामलों में इस न्यायालय में अपील करने का उपबंध स्वयं उपचार को ही विफल कर सकता है। आर्थिक कारणों की वजह से छोटे मामलों में अपील फाइल करने की असमर्थता उस गारंटी के भंग की कोटि में आ सकती है जो संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 के अधीन प्रदान की गई है। बहुत से मामलों में यह स्थिति न्याय का वंचन हो सकती है। अतः मैं यह सुझाव देना चाहूंगा कि इस पहलू पर विचार किया जाए कि क्या धारा 19 की उपधारा (1) में इस आशय का परंतुक जोड़ा जा सकता है कि अधिनियम की धारा 3 और 4 के अधीन अपराधों से भिन्न किसी अपराध के संबंध में सिद्धदोष व्यक्ति उस उच्च न्यायालय में अपील फाइल करने का हकदार होगा जिसकी अधिकारिता के अधीन संबंधित अभिहित न्यायालय स्थित है। इसके अलावा, यदि राज्य अधिनियम की धारा 3 और 4 के अधीन अभियुक्त व्यक्ति की दोष-मुक्ति के विरुद्ध इस न्यायालय में अपील फाइल करता है तो अभियुक्त की वह अपील, जो उसने उच्च न्यायालय में फाइल कर रखी होगी, इस न्यायालय में स्वतः अंतरित

[1] ए० आई० आर० 1950 एस० सी० 27.

मानी जाएगी तथा वह राज्य द्वारा फाइल की गई अपील के साथ लगा दी जाएगी और उसके साथ सुनी जाएगी। राज्य ऐसा अंतरण हो जाने पर अभियुक्त को अपनी पसंद का काउंसेल रखने की अनुज्ञा देगा जिसे रखने का खर्च राज्य द्वारा वहन किया जाएगा।

485. जहां तक धारा 20 की उपधारा (8) का संबंध है, वाद विवाद का विवाधक यह था कि क्या कोई व्यक्ति जो "टाडा" के अधीन कोई अपराध करने का अभियुक्त है, कार्यवाही को इस आधार पर अभिखंडित कराने के लिए कि तथ्यों के आधार पर कोई मामला नहीं बनाया गया है तथा न्यायालय की उद्देशिका का दुरुपयोग करके अथवा बाह्य कारण की वजह से कार्यवाही की गई है, उच्च न्यायालय की असाधारण अधिकारिता का आश्रय लेने का हकदार है और अभिहित न्यायालय द्वारा मंजूर की गई जमानत को नामंजूर करने वाले आदेश का अनुच्छेद 226 के अधीन न्यायिक पुनर्विलोकन कराया जा सकता है।

486. उपर्युक्त विषय के संबंध में विधि सुस्थिर है। **हरियाणा राज्य** बनाम **भजन लाल**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की एक न्यायपीठ ने, जिसके एक सदस्य हमारे विद्वान बंधु न्याय. पांडियन ने न्यायिक विनिश्चयों पर विस्तृत रूप से विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि "जहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अथवा परिवाद में किए गए अभिकथन अपने प्रकट प्रामाणिक मूल्य के आधार पर पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिए जाने के बावजूद प्रथमदृष्ट्या किसी अपराध का गठन करते हों अथवा अभियुक्त के विरुद्ध कोई मामला न बनाते हों" अथवा "जहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अथवा परिवाद में किए गए अभिकथन इतने बेतुके अथवा गर्भित रूप से अनधिसंभाव्य हों कि उनके आधार पर कोई भी प्रज्ञावान व्यक्ति इस न्यायसंगत निष्कर्ष पर न पहुंच सकता हो कि अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही करने का पर्याप्त आधार है" अथवा "जहां दांडिक कार्यवाही के साथ स्पष्टरूप से असद्भाव जुड़ा हो और/या जहां कार्यवाही अभियुक्त से बदला लेने के अंतरस्थ हेतु से विद्वेषपूर्वक संस्थित की गई हो" वहां कार्यवाही अभिखंडित किए जाने के योग्य होती है। **उस्मान भाई**[2] (पूर्वकथित) वाले मामले में यह विधिक स्थिति स्वीकार की गई कि ऐसी दशा में अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल की गई याचिका संधार्य होती है। यह निवेदन किया गया कि इस न्यायालय ने उस्मान भाई वाले मामले में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 439 और 482 के अधीन उच्च न्यायालय की अधिकारिता के अपवर्जन के संबंध में जो मताभिव्यक्ति की है वह अनुच्छेद 226 के संबंध में भी स्पष्ट रूप से लागू होती है। इस संबंध में **स्वापक औषधि ब्यूरो** बनाम **किशन लाल**[3] वाले मामले का भी अवलंब लिया गया। यह निवेदन किया गया कि जबसे **बरयाम सिंह** बनाम **अमर नाथ**[4] वाला मामला विनिश्चित किया गया है तभी से यह न्यायालय यह मताभिव्यक्ति करता रहा है कि अनुच्छेद 227 द्वारा प्रदत्त अधीक्षण की शक्ति का प्रयोग अधीनस्थ न्यायालयों को उनकी सीमाओं और प्राधिकार के अंतर्गत रखने के लिए न कि त्रुटियों को शुद्ध करने के लिए

---

[1] 1992 सप्ली० (1) एस० सी० सी० 335.

[2] जजमेंट टूडे 1988 (1) एस० सी० 539=(1988) 2 एस० सी० सी० 271.

[3] 1991 (1) एस० सी० सी० 705.

[4] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 215.

1994(3) eILR(PAT) SC 1

बहुत मितव्ययिता के साथ और समुचित मामलों में किया जाना है, अतः उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन किसी ऐसी याचिका पर विचार कनेर की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए जो जमानत की नामंजूरी के विरुद्ध फाइल की गई हो। **गुजरात राज्य** बनाम **विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत बखत सिंह जी वाजे सिंह जी वघेला (मृत) और अन्य**[1] और **मुहम्मद यूनुस** बनाम **मुहम्मद मुस्तजिम और अन्य**[2] वाले मामलों का भी अवलंब लिया गया। उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन जो शक्ति दी गई हैं वह उसकी असाधारण शक्ति होती है जिसके अनुसार वह न केवल स्पष्ट त्रुटि को शुद्ध कर सकता है बल्कि जिसे वह न्याय करने के लिए भी प्रयोग में लाता है। संविधान की स्कीम के अनुसार, जहां तक राज्य का संबंध है उच्च न्यायालय सिविल अपीली दांडिक अथवा संविधानिक अधिकारिता का प्रयोग करने के प्रयोजनों के लिए राज्य का उच्चतम न्यायालय होता है। संविधान के लागू होने से पूर्व इसकी अधिकारिता का परिरक्षण अनुच्छेद 226 से होता था तथा अनुच्छेद 226 और 227 द्वारा उसे असाधारण अधिकारिता प्रदान की गई जिससे कि यह सुनिश्चित किया जा सके कि अधीनस्थ प्राधिकारी न केवल विधि के अनुसार कार्य करें बल्कि वे विधि के ढांचे के अंतर्गत रहकर भी कार्य करें। उच्च न्यायालय की यह अधिकारिता छीनी नहीं गई है और वस्तुतः विधान बनाकर छीनी भी नहीं जा सकती। इंग्लैंड में जब कभी संविधान की अनुपस्थिति में, संसद् ने इस बात का उपबंध करने का प्रयत्न किया कि आदेश अंतिम है तथा उसके विरुद्ध कोई उत्प्रेषण रिट जारी नहीं की जाएगी, उच्च न्यायालय ने उस उपबंध को हमेशा रद्द कर दिया। चूंकि संविधान के अधीन उच्च न्यायालय एक ऐसा मंच है जहां किसी नागरिक का मूल अधिकार प्रवर्तित कराया जा सकता है अतः उसे किसी नागरिक द्वारा किए गए किसी आवेदन पर विचार करने से वंचित नहीं किया जा सकता जिसमें नागरिक ने सरकारी तंत्र पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने तथा संविधान द्वारा प्रदत्त गारंटी का अतिक्रमण करने का आरोप लगाया हो। बल्कि उच्च न्यायालय का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि सरकारी तंत्र निष्पक्ष रूप से कार्य कर रहा है न कि वह इतर बातों पर विचार करके कार्रवाई कर रहा है। **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **अब्दुल हमीद हाजी मोहम्मद**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने **हरियाणा राज्य** बनाम **भजन लाल**[3] तथा **परसराम** बनाम **हरियाणा राज्य**[4] वाले मामलों में अधिकथित सिद्धांत पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि आत्यंतिक दशाओं में उच्च न्यायालय के पास अनुच्छेद 226 के अधीन किसी याचिका पर विचार करने की अधिकारिता होती है। ऐसी आत्यंतिक दशाएं किसी जकड़जामे में नहीं रखी जा सकतीं। किंतु जिन कुछ आत्यंतिक दशाओं की बाबत किसी प्रकार का विवाद नहीं हो सकता वे इस प्रकार है—जब उच्च न्यायालय की यह राय हो कि "टाडा" के अधीन कार्यवाही न्यायालय की आदेशिका का दुरुपयोग करके की गई है अथवा बाह्य बातों पर विचार करके की गई है अथवा अभिलेख पर यह दर्शित करने वाली कोई सामग्री नहीं है कि टाडा के अधीन कोई मामला बनाया

---

[1] [1968] 2 उम० नि० प० 421=(1968) 3 एस० सी० आर० 692.

[2] 1994 (2) जजमेंट टूडे 1.

[3] 1992 स्पली० (1) एस० सी० सी० 335.

[4] 1992 (4) एस० सी० सी० 662.

गया है। ऐसा होने की स्थिति में उच्च न्यायालय के अपनी अधिकारिता का प्रयोग न करने तथा उपर्युक्त दशाओं में अभियुक्त की जमानत मंजूर न करने का कोई कारण नहीं है।

487. चूंकि एक या दो विकाद्यकों के सिवाय, मैं अपने बंधु न्या० पांडियन के साथ सहमति व्यक्त कर रहा हूं अतः मैं अपने निष्कर्षों को संक्षेप में दर्ज करना उचित समझता हूं :—

(1) संसद् ने तीनों अधिनियम, अर्थात्, 1984 का अधिनियम सं० 61, 1985 का अधिनियम सं० 31 तथा 1987 का अधिनियम सं० 28, संविधान की सूची-3 की प्रविष्टि 1 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करके विधिमान्य रूप से अधिनियमित किए हैं।

(2) यद्यपि मेरे बंधु न्या० पांडियन ने धारा 5 की बाबत अपनी कोई राय अभिव्यक्त नहीं की है फिर भी मेरी राय में इस धारा के उपबंधों का आश्रय तभी लिया जा सकता है जब अभियोजन पक्ष यह सिद्ध करने में समर्थ हो कि अभिलेख पर यह दर्शित करने के लिए कुछ सामग्री थी कि उक्त धारा में उल्लिखित आयुध और गोला-बारूद का उपयोग किसी आतंकवादी या विध्वंसक क्रियाकलाप में होना संभव था अथवा उनका इस प्रकार उपयोग किया गया था।

(3) यद्यपि अभिहित न्यायालय के रूप में किसी व्यक्ति की नियुक्ति से संबंधित उपबंध स्पष्ट हैं तो भी लिखित दलीलों में यह बात इंगित की गई कि उनमें से कुछ व्यक्ति अपनी सेवानिवृत्ति के पश्चात् भी नियुक्त किए गए थे। ऐसी नियुक्तियां कानून के अभिव्यक्त उपबंधों की विरोधी होंगी। अतः किसी भी सेवानिवृत्त व्यक्ति को अभिहित न्यायालय के रूप में नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए।

(4) जहां तक पुलिस अधीक्षक द्वारा इकबाली बयान दर्ज किए जाने का उपबंध करने वाली अधिनियम की धारा 15 का संबंध है, मैंने जो विस्तृत कारण बताए हैं उनके आधार पर मेरी यह राय है कि यह धारा संविधान के अनुच्छेद 20 और 21 की अतिक्रमणकारी है, और इसलिए यह अभिखंडित किए जाने के योग्य है।

(5) जहां तक अपील के उपबंधों का संबंध है मैंने यह सुझाव दिया है कि समुचित प्राधिकारी इस बात पर विचार करे कि क्या धारा 19 में इस आशय का परंतुक जोड़ा जा सकता है कि जहां दोषसिद्धियां 1987 के अधिनियम सं० 28 की धारा 3 और 4 में वर्णित अपराधों से भिन्न अपराधों के संबंध में की गई हों वहां अभियुक्त उच्च न्यायालय में ही अपील करने का हकदार होगा और यदि सरकार ने दोषसिद्धि के विरुद्ध इस न्यायालय में अपील कर रखी हो तो अभियुक्त द्वारा फाइल की गई अपील इस न्यायालय को स्वतः अंतरित समझी जाएगी। मेरी यह भी राय है कि ऐसी दशाओं में अभियुक्त को उसकी पसंद का काउंसेल दिया जाना चाहिए जिसकी फीस का संदाय या तो राज्य सरकार द्वारा किया जाएगा या यदि अभियुक्त उसका संदाय कर चुका है तो अभियुक्त को उसकी प्रतिपूर्ति की जाएगी।

(6) जहां तक जमानत के आवेदन को मंजूर करने के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की अधिकारिता का प्रश्न है मेरी राय है

1994(3) eILR(PAT) SC 1

कि चूंकि उच्च न्यायालयों का यह वैधानिक उत्तरदायित्व है कि वे यह सुनिश्चित करें कि कोई प्राधिकारी, जो अपनी अधिकारिता में न्यायिक और न्यायिककल्प शक्तियों का प्रयोग विधि के ढांचे के भीतर रहकर करता है, वह यह अवधारित करने के लिए याचिका पर विचार करने का हकदार है कि कहीं न्यायालय की आदेशिका का दुरुपयोग करके तो कार्यवाही नहीं की गई है। किंतु अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते समय न्यायालय को विधान की भावना तथा उसमें अंतर्निहित सामाजिक उद्देश्य के प्रति असावधान नहीं होना चाहिए और इसलिए उसे विरल तथा आपवादिक परिस्थितियों में अपनी अधिकारिता का प्रयोग न्याय के लिए करना चाहिए जिनका विवरण किसी कठोर-सूत्र द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता।

अशोक